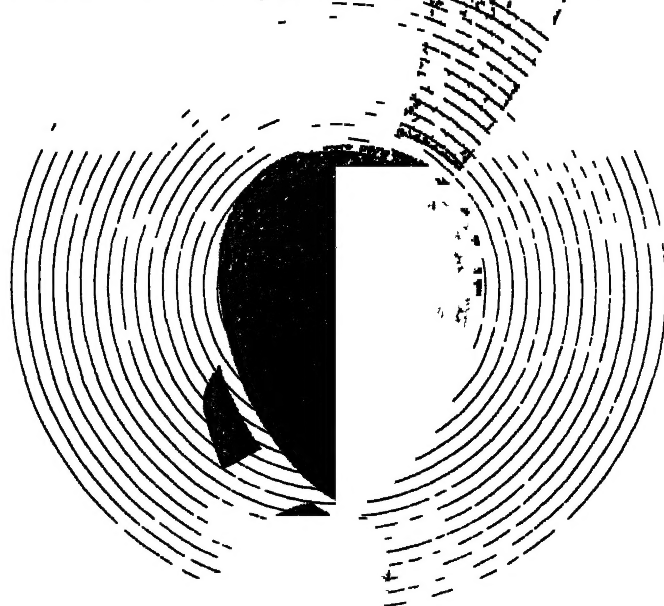
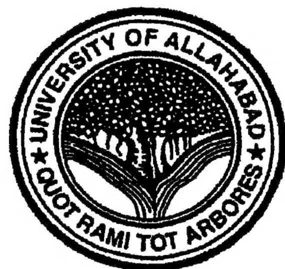
अस्तित्ववाद की सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि का समीक्षात्मक अध्ययन



शोधकर्ता
कृष्णा कान्त पाठक
दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद



निदेशक
डॉ0 जटाशंकर
रीडर, दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

2002

Department of Philosophy

University of Allahabad

विषय-सूची

पुरोवाक्

पुरोवाक्

अस्तित्ववाद आधुनिक युग की सर्वाधिक चर्चित विचारधाराओ में से एक है। आज साहित्य से लेकर कला तक और नीतिशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक इसकी निर्बाध व्याप्तता बनी हुयी है। किन्तु इसकी व्यापकता एक चुनौती भी बन जाती है, विशेषत जब हम इसे एक शोध-प्रबन्ध के रूप में एकत्रित और समन्वित करने का प्रयास करते हैं। वस्तुत यह एक विपुल सभावनाओं वाला चिन्तन है, फलत इसकी सहस्रो धाराऐ हो जाती हैं। जिस वैयक्तिकता पर यह दर्शन बल देता है, वही वैयक्तिकता प्रत्येक विचारक में प्रभावी होकर उनके चिन्तन को विलक्षण और विशिष्ट बनाती चली जाती है।

समस्या यह उठती है कि एक अध्येता किस विचारधारा को प्रामाणिक माने, या, वह किस विचारक को वास्तविक प्रतिनिधि माने, अथवा, वह किस दर्शन को वस्तुनिष्ठ प्रतिदर्श के रूप में प्रस्तुत करे। प्रत्येक कि स्वतत्र विशिष्टता अन्तत समूह की विश्रृखलता बन जाती है ऐसी स्थिति में इस विचारधारा की साम्यों और वैषम्यों का सम्यक् सन्तुलन रखते हुए समुचित निरूपण करना मेरे लिए किचित् दुर्वह कार्य रहा है किन्तु यदि कार्य में दुरूहता ही न हो तो उसकी महत्ता क्यों होगी?

सम्भवत इन्हीं वैविध्यपूर्ण चुनौतियों ने उक्त विषय पर शोध हेतु प्रेरित किया विषय की सर्वसमावेशिता और सरलता की दृष्टि से मैंने इसे आठ अध्यायों में विभक्त किया है। **प्रथम अध्याय** अस्तित्ववाद की सामाजिक राजनीतिक पृष्ठभूमि की समीक्षा के औचित्य और महत्ता पर विचार करता है जिसमें मूलत यह दिखानें का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार प्रत्येक विचारधारा अपने समकालीन भौगोलिक ,सामाजिक परिवेश और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत होती है। **द्वितीय अध्याय** अस्तित्ववाद की व्यावर्तक और आधारभूत प्रतिपक्षी अवधारणा 'नियतत्ववाद' के सापेक्ष मूल्याकन का प्रयास करता है और यह दिखाने का प्रयास करता है कि अस्तित्ववाद स्वय किस प्रकार अनियतत्ववाद और आत्मनियतत्ववाद के मध्य झूलते हुए दूसरी अव्यावहारिक अति पर चला जाता है। **तृतीय अध्याय** मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करता है कि किन कारणों से समग्र अस्तित्ववादी दर्शन में त्रासद मनोवृत्तियों का प्राधान्य रहा है और इसमें युद्धों विशेषत महायुद्धों की क्या भूमिका रही है। **चतुर्थ अध्याय** ऐतिहासिक आधारों पर यह निदर्शित करने का प्रयास करता है कि अस्तित्ववाद में जो स्वातत्र्यबोध, दायित्व बोध और व्यक्तित्वबोध प्रबल रूप में मुखरित हुआ है, उसके पीछे सक्रमणकालीन राजनीतिक व्यवस्था भी प्रमुख रूप से उत्तरदायी रही है। **पचम अध्याय** आधुनिक वैज्ञानिक युग में आयी वस्तुनिष्ठ बाह्य और यान्त्रिक कार्यपद्धति के विरोध में अस्तित्ववाद में विषयनिष्ठ आन्तरिक और भावनात्मक पद्धति के प्रादुर्भाव को रेखाकित करते हुए उसके औचित्य का विवेचन करता है। **षष्ठम अध्याय** अस्तित्ववाद को धार्मिक -आध्यात्मिक आन्दोलन और उसके प्रतिवाद के रूप मे देखने का प्रयास करता है, जिसमे इसे एक नवीन दृष्टि से प्रस्तुत किया

गया है। **सप्तम अध्याय** अस्तित्ववाद की दार्शनिक विचारधारा को साहित्यिक लेखन और उसमें अन्तर्निहित चरित्र-चित्रण के आलोक मे देखने का प्रयास करता है। **अन्तिम अध्याय** अस्तित्ववाद का समग्र मूल्याकन करते हुए न केवल उसकी सार्थकता और महत्ता का निरूपण करता है, बल्कि हमारे सामाजिक राजनीतिक जीवन और चिन्तन पर इसकी प्रभावपूर्णता का भी विश्लेषण करने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत शोध के विषय ***"अस्तित्ववाद की सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि का समीक्षात्मक अध्ययन"*** पर मेरा यह शोध प्रबन्ध कितना सार्थक और समीक्षात्मक हो पाया है, इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठक और समीक्षक करेगे, किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि मेरे अभिरूचि का विषय होने के बावजूद अत्यन्त श्रमसाध्य रहा है। सर्वप्रथम तो यह कि हिन्दी माध्यम का छात्र होने के कारण मेरे लिए इससे सबद्ध सामग्री की अनुपलब्धता की समस्या थी, क्योंकि अग्रेजी में जहॉ इस विषय पर विपुल साहित्य उपलब्ध है, वहीं हिन्दी में कुछ गिनी-चुनी ही और उनमें भी अधिकाश स्तरहीन और अप्रामाणिक है। पुन , इस शोध-प्रबन्ध का विषय दर्शन शास्त्रीय होने पर भी काफी सीमा तक दर्शनेतर क्षेत्र से जुडा था। इसके व्यापक क्षेत्र और विविधतापूर्ण आयाम को समाहित करना स्वय ही दुरूह कार्य था, किन्तु सर्वाधिक कठिन था-उस समग्र पृष्ठभूमि को दार्शनिक दृष्टि से लिखना। वस्तुत एक शोधकर्ता को केवल विभिन्न तथ्यों के प्रति एक अन्तर्दृष्टि भी विकसित करनी होती है। उसे यह भी ध्यान रखना होता है कि तथ्यो के विखराव के बावजूद उसकी दृष्टि सदैव विषय केन्द्रित रहे, विषयान्तर न कर जाय। मैं इस चुनौती को यदि किसी प्रकार से स्वीकार कर पाया और इस उत्तरदायित्व का यदि किसी सीमा तक निर्वहन कर पाया तो इसमे मे उन सभी विद्वानो का आभारी हू, जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ऐसी अतर्दृष्टि विकसित करने में योगदान दिया। उक्त प्रयास मे मेरे विवरण विवेचन और मूल्याकन की गुणवत्ता एव व्यापकता में यदि कुछ भी स्तरीय और विशिष्ट दृष्टिगोचर होता है, तो इसमे मैं उन सभी चितकों को श्रेय देना चाहता हूँ जिनके विचारों में शोध हेतु 'बीज' का कार्य किया। पन मैं उन सभी प्रेरको (गुरूजन एव मित्रगण) को इस सफलता में सहभागी बनाना चाहता हूँ, जिनके प्रोत्साहन में उक्त बीज के अकुरित, पुष्पित और पल्लवित होने में अनुकूल परिवेश और प्रवर्तक की भूमिका निभाई।

सबसे बढकर तो मैं अपने गुरुदेव और शोध निरीक्षक डॉ0 जटाशकर के प्रति श्रद्धापूर्ण आभार प्रकट करना चाहता हू, जिन्होंने मुझे शोध में पूर्ण सहयोग दिया तथा इस विषय पर एक मौलिक दृष्टि रखने हेतु प्रोत्साहित किया उनके अतिरिक्त मैं ऐसे अनेक विज्ञजनों का भी ऋणी हू, जिनके समर्थन और प्रोत्साहन के कारण मेरा यह शोध पूर्ण हो सका। इस क्रम में मैं अपने विभागाध्यक्षों के प्रति भी सादर आभार व्यक्त करता हू, जिन्होने मुझे शीघ्र शोध पूर्ण करने हेतु प्रतिबद्ध किया।

अन्तत , सभी अध्यापकों, समीक्षकों, और अध्येताओ का आभार प्रकट करते हुए मैं एक उचित अस्तित्ववादी की भाँति समस्त त्रुटियो और विसगतियों का दायित्व स्वय के ऊपर लेता हूँ, चाहे वे

यॉन्त्रिक हो या अवधारणागत। मेरे कृतित्व की असफलता मेरे अस्तित्व की दुर्बलता होगी, वह कदापि अस्तित्ववाद की निष्फलता नहीं होगी। अत मैं सभी पाठकों और समालोचकों की अनुशसाओं का आभार प्रकट करते हुए भी उनकी आलोचनाओं का स्वागत करता हूँ।

शोध छात्र

कृष्णा कान्त पाठक

कृष्णा कान्त पाठक

अध्याय : 1

अस्तित्ववाद की सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि और उसकी समीक्षा का औचित्य

प्रत्येक विचारधारा अपने परिवेश और अपनी तत्कालीन परिस्थितियों की उपज होती है। हमारा चिन्तन कही अन्वेषणो पर आधारित होता है तो कहीं हमारी आकाक्षाओं और अनिवार्यताओ के अनुरूप विकसित होता है। आगस्ट काम्टे ने कहा भी है– "हमारा सम्पूर्ण ज्ञान निरन्तर हो रही घटनाओ और उनके समायोजन से प्रकट हुई स्थितियो का वर्णन करने मे ही निहित है।"[1]

दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप भी इससे पृथक् नहीं है। यदि हम इस दार्शनिक चिन्तन के इतिहास का एक विहगम अवलोकन करे, तो यह स्पष्टत प्रतीत होगा कि आद्योपान्त समग्र चिन्तनधारा विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा वैचारिक परिस्थितियो से प्रभावित रही है, भले ही यह प्रभाव प्रेरणारूप रहा हो या प्रतिक्रियारूप। सभवत इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर यास्पर्स ने कहा था कि एक अर्थ में सभी दर्शन समकालीन ही होते हैं।

किन्तु दर्शनशास्त्र के सन्दर्भ में केवल तत्कालीन परिस्थितियाँ ही निर्धारक नहीं होतीं अपितु अतीतकालीन चिन्तन, वाद और विचारधाराएँ भी निर्णायक भूमिका निभाती हैं। इसके दो प्रमुख कारण हैं, प्रथम तो यह कि दर्शन तर्क प्रधान विषय है और इसमे द्वन्द्वात्मक तर्क का प्रभुत्व सदैव से रहा है। अत प्रत्येक दर्शन को अपने प्रतिकूल विचारदृष्टि के खण्डन तथा अनुकूल विचारदृष्टि के मण्डन से अनिवार्यत गुजरना पड़ता है। हीगल का वाद प्रतिवाद और सवाद का त्रिक दर्शन के तार्किक जगत् मे कुछ अधिक ही चरितार्थ होता प्रतीत होता है। इस कारण विरोध और निषेध दार्शनिक विधा के अनिवार्य आयाम बन जाते हैं, जिससे किसी दर्शन को समग्रता से समझने के लिए उसकी भावभूमि के रूप मे पूर्ववर्ती दर्शनों को जानना अपरिहार्य हो जाता है। पुन दर्शन मे मौलिकता का भाव अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक मुखर रहता है। मौलिकता की खोज मे प्रत्येक दार्शनिक किसी सीमा तक स्वतत्र मत या नूतन विधा का प्रणयन अवश्य करना चाहता है। इस मौलिकता के मूल को जानने के लिए भी पूर्ववर्ती विचारों को जानना अनिवार्य हो जाता है। पाश्चात्य दर्शन में तो यह तथ्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वहाँ सप्रदायबद्धता अपेक्षाकृत कम है। एक सम्प्रदाय के अन्तर्गत परिगणित होने वाले दार्शनिक भी यत्किचित भिन्न मत अवश्य रखते हैं।

वस्तुत यह मतवैभिन्य ही दर्शन के विकास का आधार रहा है और उसमें अन्तर्निहित विरोध ही दर्शन की प्राण ऊर्जा रहे हैं। विरोध की तो यह विशिष्टता ही होती

है कि वह प्रतिपक्ष को महत्वपूर्ण बना देता है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि पक्ष का मूल्याकन सदैव प्रतिपक्ष के आलोक मे ही होता है।

किन्तु विचार प्रधान होने पर भी दर्शन यथार्थ जगत् की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वास्तविकता जगत् की समस्याएँ हमारी कल्पना की उड़ान तथा हमारे तर्क की गति को प्रतिहत और प्रभावित करने मे पूर्ण सक्षम हैं। विशेषत अस्तित्ववाद का तो मानव जीवन की वास्तविक समस्याओ और अन्त प्रवृत्तियो की ओर प्रबल रूझान रहा है। समकालीन दर्शन की विविध विधाओ मे अस्तित्ववाद मानव जीवन से सर्वाधिक सबद्ध रहा है। सार्त्र के शब्दो मे –"अस्तित्ववाद शब्द का अर्थ एक ऐसा सिद्धान्त है , जो मानव जीवन को सभव बनाता है और जो मानता है कि प्रत्येक सत्य और कर्म का सबध मानव परिवेश तथा उसकी आत्मपरकता में निहित होता है।"[2] सभवत इन्हीं कारणों से अस्तित्ववाद समकालीन दर्शन की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा रही हैं। अस्तित्ववाद की गणना अब तो दर्शनशास्त्र में अत्यधिक सिद्धातवादिता के विरुद्ध होने वाले उन आदोलनो मे की जाती है, जो समय –समय पर सुधार एव जाग्रति हेतु पश्चिम में होते रहे हैं।[3] अस्तित्ववादी दर्शन मे जो प्रवृत्तियाँ उभरी हैं और उन प्रवृत्तियो मे जिस प्रकार की प्रतिक्रियावादी प्रखरता अन्तर्निहित है वह काफी सीमा तक उन परिस्थितियो की ही देन कही जा सकती है, जो इस युग मे जनसामान्य को सर्वत प्रभावित किये हुए थीं। अस्तित्ववाद मुख्यत बीसवीं सदी मे परिवर्द्धित और पल्लवित हुआ दर्शन है। यद्यपि विभिन्न विचारको ने इसके बीज सुदूर ग्रीक दर्शन तक में खोज निकाले हैं, किन्तु एक दार्शनिक वाद के रूप मे इसका प्रचलन वस्तुत इसी सदी की देन है। अस्तित्ववाद की श्रृखला की प्रारभिक कड़ी के रूप में परिगणित होने वाले नीत्शे, पास्कल, तथा कीर्केगार्ड का भी इसी सदी मे अस्तित्ववादी दृष्टि से पुनर्मूल्याकन तथा महिमामडन हुआ है।

अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि में विद्यमान कालिक तत्व को इस कारण यहाँ इतनी महत्ता प्रदान की जा रही है, क्योकि समकालीन ससार में निश्चय ही कुछ ऐसे सामाजिक और राजनीतिक कारक विद्यमान रहे हैं, जिनके कारण अस्तित्ववाद केवल दार्शनिक वाद या वैचारिक क्रान्ति ही नहीं अपितु जीवन–दृष्टि का रूप ले चुका है। स्पष्टत ये कारक अस्त्विवादी दर्शन के अनिवार्य सदर्भ बन जाते हैं।

बीसवी सदी में पूँजीवादी विश्व के बढते सकट ने जिन दो महायुद्धो की सृष्टि की, उसने यूरोप के जनमानस को बहुत गहरे तक आदोलित किया। दो महायुद्धो की विभीषिका विशेषत दूसरे महायुद्ध ने यूरोप को पूरी तरह झकझोर दिया और मनुष्य के सामने अस्तित्व का प्रश्न अन्य सभी प्रश्नो से अधिक महत्वपूर्ण बन गया। महायुद्ध की भयानकता के अनुभव से गुजरते हुए वहाँ का दिशाहारा बुद्धिजीवी जिनकी प्रवृत्ति इस सकट के वस्तुगत रूपो की ओर कम तथा उसके भावात्मक और आत्मनिष्ठ रूपो की ओर अधिक थी, वे इस सकट के कारणो को भी भावात्मक एव आत्मनिष्ट रूपो में खोजने लगे। ऐसे में अस्तित्ववाद उनको आत्मगत भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला चितन लगा। अस्तित्ववाद पूँजीवाद के उदय के साथ उत्पन्न नवीन सामाजिक समस्याओ को समझने का एक आत्मगत प्रयास था, जो पूँजीवाद के सकट को उसके वस्तुगत रूप में या समाज के वर्गीय आधारो मे न खोजकर ऐसे कारणो मे खोजता था, जो वस्तुत इस सकट के कारण न थे बल्कि इस व्यवस्था की अभिव्यक्ति थे जैसे – औद्योगीकरण, मशीनीकरण, बढती जनसख्या, सघवाद, महायुद्धो की विभीषिका आदि।[14]

यदि हम इन समस्याओ को देखें तो इनमें एक कारणात्मक श्रृखला दिखायी देगी। पूजीवाद और औद्योगिक क्राति ने मिलकर जीवन मे जिस यात्रिकता और भौतिकता का सृजन किया, उसमे न तो मनुष्य का केन्द्रीय स्थान रहा और न उसके व्यक्तित्व का कोई मूल्य रहा। मार्क्स ने ठीक ही कहा है–"पूजीवादी समाज में पूजी स्वतत्र है और उसका एक व्यक्तित्व होता है, किन्तु जीवित व्यक्ति वहा परतन्त्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।"[15]

यद्यपि सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितिया दार्शनिक विभिन्नताओ को समझने में अत्यत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं फिर भी उनके परिप्रेक्ष्य में ये दार्शनिक विभिन्नताए पूर्णतया कभी नहीं समझायी जा सकतीं क्योंकि विचार प्राय भौगोलिक सीमाओं और काल की परिधि के आर–पार फैले होते हैं। जिन व्यक्तियों में भी वे अपने विकास के अनुकूल मनोवृत्ति और सवेदनशीलता पाते हैं, पुन अकुरित हो जाते हैं। लेकिन इस बात मे कोई सदेह नहीं है कि 1920 के पराजित जर्मनी और मध्य यूरोप की तत्कालीन मनोवृत्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों ने आत्मपरक निरपेक्षवाद को

पनपने के लिए उर्वर भूमि का कार्य किया। जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो पर मनुष्य पहले आस्था रखता था उनके प्रति उसका पूर्णत मोहभग हो चुका था अैर उसका अविश्वास उन सभी वस्तुपरक विचारधाराओ, सम्प्रदायो और पद्धतियो तक फेल चुका था, जिनसे वह पहले जुडा हुआ था। ऐसी परिस्थितियो मे मनुष्य सुरक्षित जीवन के आधार की तलाश में अपने ज्ञान के उद्गम तक पुन जाना चाहता है। इसके लिए वह अपने आसपास मौजूद सभी विश्वासो, सिद्धान्तो और सस्थाओ की सच्चाई पर सवालिया निशान लगाने को तैयार हो जाता है। और अच्छे समय की अपेक्षा ऐसे सकट कालीन दौर में मनुष्य मनोवैज्ञानिक और आत्मपरक परिधि मे सत्य की खोज के लिए अधिक इच्छुक होता है।[6]

अस्तित्ववाद की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने मे यहा जिन सामाजिक और राजनीतिक कारको को उत्तरदायी माना जा रहा है, उन्हे अनिवार्यत अस्तित्ववादी परिणति वाला या सम्पूर्ण निर्धारक समझ लेना अनुचित होगा। उदाहरणत – वैज्ञानिक अमानवीयकरण, युद्धजन्य अस्तित्वपरक सकट, औद्योगिक क्रातिजन्य अर्थ केन्द्रित बाजार व्यवस्था, व्यापक नरसहारो में निर्ममता पूर्वक मारे जा रहे जनसमूह, अकाल और प्राकृतिक आपदाओ के प्रति अधिक सवेदनशील होती चेतना, समानता पर बल देता मार्क्सवादी समाजवाद आदि अनेक धनात्मक अथवा ऋणात्मक रूप मे प्रभावित करने वाले कारक इस काल मे अत्यत मुखर रूप में छाये रहे हैं, किन्तु इसका यह आशय कथमपि नहीं है कि उक्त कारक ही पर्याप्त और सम्पूर्ण कारक रहे हैं। न ही ये कारक केवल जर्मनी, फ्रास, डेनमार्क या अल्जीरिया में ही विद्यमान थे, जहा अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव तथा मुख्य प्रभाव रहा। स्वय अस्तित्ववाद इस प्रकार की ऐतिहासिकता, परिस्थितिजन्य आबद्धता तथा सामान्यीकरण के विरुद्ध है। सार्त्र में तो यह विरोध सर्वाधिक मुखर है, जो परिस्थितियॉं को अधिक से अधिक 'तथ्यात्मक' (Facticity) की सज्ञा देने को राजी हैं। ये परिस्थितियॉं न तो मनुष्य की स्वतत्रता को प्रतिहत करती है और न उसके जीवन का निर्धारण करती हैं। चेतना अपने अतीत का सर्वथा अतिक्रमण करते हुए अपनी सभावनाओ को साकार करती है, इसी मे उसकी स्वतत्रता है और इसी मे वह दायित्व बोध है, जो इस स्वतत्रता का पर्यायवाची है। हम सदा ही अपने आपको पुन ढालने की बाध्यता अपने भीतर महसूस करते हैं। जीवन के किसी बिन्दु पर हम यह नहीं

कह सकते कि हम पूरे हो चुके हैं, हममें अव पाने को कुछ शेष नहीं बचा है।[7] सार्त्र के शब्दों मे हम न होकर ही वह हैं, जो हमे होना है।[8] मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध ा मे जगत् भी एक प्रश्न है, एक खुली सभावना है। दोनो के ही वार मे जितना कहा जा सकता है, वे उससे अधिक होते हैं।[9] जगत् को सम्पूर्णत स्वीकार करने के कारण ही उन्होंने हुसर्ल से प्रभावित होते हुए भी उनके स्थगन (Epoche) का प्रबल खण्डन किया है।[10]

उक्त स्पष्टीकरण का तात्पर्य मात्र इतना है कि हम इन कारको को महत्ता देने मे कोई एकागी अथवा एकपक्षीय निर्णय न ले। पृष्ठभूमि की महत्ता वैसे ही है, जैसे बीज के लिए भूमि की। भूमि भी केवल बीजो को ही वृक्ष का रूप दे सकती है, ककड़-पत्थरो को नहीं। निरन्तर नये आयाम खोजती मानव-चेतना ऐसे तथ्य अन्वेषित कर लेती है, जो तब समय से पूर्व होने के कारण प्रच्छन्न पडे रहते हैं और बाद मे उनकी सार्थकता प्रासगिक हो जाती है।

अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि के रूप में सामाजिक और राजनीतिक कारको के मूल्याकन के सातत्य मे एक अन्य तथ्य ध्यातव्य है कि इसमें अनेक अन्य पहलू भी समाहित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ जिस प्रकार समष्टिगत रूप से मानव स्वय समाज का अभिन्न अग है उसी प्रकार व्यष्टिगत रूप से उसी वैयक्तिक अनुभूतिया और आन्तरिक प्रवृत्तियाँ भी समाज की अभिन्न अग हैं। मानव के इस व्यष्टिभावी विश्लेषण के बिना हम उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि का सम्यक् विश्लेषण नहीं कर सकते। वास्तव मे मानव जीवन का फलक इतना विस्तृत है उसके आयाम इतने वैविध्यपूर्ण रूप मे अन्तर्बद्ध हैं कि किसी एक पहलू के अध्ययन में स्वत ही उससे जुड़े अन्य पहलू भी प्रस्तुत हो जाते हैं। किन्तु यहा हमारे विवेचन की कुछ सीमाए है और वारतव मे शोध की गहनता तथा उसकी लक्ष्यपरकता के लिए यह सीमाकन अनिवार्य भी है। यहा अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि के रूप में जिन सामाजिक और राजनीतिक कारकों का विवेचन अपेक्षित है, वह ऐतिहासिक विवरण मात्र नहीं होगा, उस विवरण में अन्तर्निहित दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओ की समीक्षा परीक्षा भी महत्वपूर्ण होगी। इन विवरणों का इतिहास से मात्र इतना सम्बन्ध होगा कि वे ऐतिहासिक हैं।

निश्चय ही इस विवेचन मे जिन दार्शनिक पक्षों को खोजने का प्रयास किया

जायेगा, उनमे वह तटस्थता और वस्तुनिष्ठता नहीं हो सकती, जैसी कि इतिहास के लिए अपेक्षित है। किसी भी समीक्षा मे कुछ न कुछ सीमा तक समीक्षक के दृष्टिकोण और उसके मनोभावों के व्यामिश्र हो जाने की सभावना तो रहती ही है। रूचिकर तो यह है कि अस्तित्ववाद स्वय ही किसी भी प्रकार की वस्तुनिष्ठता का प्रबल प्रतिपक्षी हैं। उसका उद्घोष है-"वस्तुनिष्ठता व्यक्तित्व की मृत्यु है।"

इतना ही नहीं, अस्तित्ववाद एक अर्थ मे ऐतिहासिकता के भी विरुद्ध है। नीत्शे, जिसने मूल्यातरण का सिद्धान्त दिया, ने Thoughts out of Reason के दूसरे भाग मे इतिहास के दुष्परिणामो का उल्लेख किया है। उसका स्पष्ट मानना है कि इतिहास का अधिक ज्ञान जीवन की अवाधगति मे बाधक होता है। किन्तु ध्यातत्य है कि अस्तित्ववादियों का इतिहास से विरोध नहीं, अपितु ऐतिहासिक नियतत्ववाद से है। यह निषेध अतीत से बाधने का निषेध है, ताकि मनुष्य की वैयक्तिकता, उसकी सभावनाए प्रतिहत न हो। उसके आन्तरिक सत्य बाह्य तथ्यों से कुण्ठित न हों। हाइडेगर यास्पर्स, मार्सल, नीत्शे आदि तो इतिहास से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं। हाइडेगर ने 'ऐतिहासिक अध्ययन मे काल की अवधारणा"पर अत्यत महत्वपूर्ण भाषण दिया था।[12] इसी दिशा में उन्होने अधिक गम्भीर चिन्तन के रूप में "Being and Time नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके अनुसार- "जिस इतिहास का हम अध्ययन करते हैं, वह मनुष्य की ऐतिहासिकता से ही उत्पन्न होता है। इतिहास का अध्ययन मनुष्य का ही अध्ययन है और मनुष्य का अध्ययन अन्तत सत्ता के स्वरूप का उद्घाटन है।[13] परमसत् का प्रामाणिक ज्ञान 'ऐतिहासिकता' मे ही हो सकता है। मानव इतिहास मे एक प्रकार की गति होती है, जो भौतिक या यात्रिक गति से बिल्कुल भिन्न है। सफल और दक्ष इतिहासकार इस ऐतिहासिकता की गति पहचानते हैं वे इतिहास मे केवल घटनाए और तिथिया ही उद्धृत नहीं करते, वरन वे ऐतिहासिकता की गति देखकर वर्तमान और भविष्य में घटने वाली घटनाओं का भी अनुमान लगा लेते हैं। केवल ऊपरी घटना का विवरण नीरस और तत्वहीन होता है। उसके अन्तरतम में प्रवाहित होने वाली ऐतिहासिकता ही महत्वपूर्ण है। वही कार्य कारण के दो तटों के बीच से प्रवाहित होती हुई भविष्य का निर्माण करती है। उसको जाने बिना परम सत् का बोध नहीं हो सकता। हाइडेगर ने काल के भूत-भविष्य-वर्तमान रूप तीन आयामों को तीन Ex-stases की सज्ञा दी है।

ग्रेबियल मार्सेल ने भी ऐतिहासिकता को महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार ससार मे मनुष्य का अस्तित्व काल और इतिहास से सुसम्बद्ध है। भूत काल में वह जिस प्रकार रहा है, जो कुछ उसने किया है और जैसे उसके विचार रहे हैं उन्हीं के परिणाम स्वरूप आज उसे यह स्वरूप प्राप्त हुआ है। अपने वर्तमान काल के कार्य-कलापो से वह अपने भविष्य की रचना करता है। भविष्य की रचना बहुत कुछ उसके वर्तमान पर ही अवलम्बित रहती है। वर्तमान की स्थितिया उसे प्रभावित करती हैं। और वह स्वय वर्तमान का उपयोग अपनी प्राप्त स्वतत्रता के अनुकूल करता है।

सार्त्र ने अतीत को व्यक्ति की तथ्यात्मकता की सज्ञा दी है उनके शब्दो मे " हमारे अतीत का स्वरुप सामान्य की दृष्टि से ऐतिहासिक चयन है। यदि हमारा समाज ऐतिहासिक हैं, तो यह उन्हे इस तथ्य से नहीं रोकता कि उनके पास एक अतीत है अपितु उनके अतीत को एक स्मारक के रुप मे पुनर्निर्धारित करने से रोकता है।"[13] "चेतन सत्ता का शाश्वत ऐतिहासिकीकरण उसकी स्वतत्रता की शाश्वत स्वीकृति है।"[14] स्पष्टत इतिहास मानव के लिए महत्वपूर्ण है, क्योकि वह एक तथ्य है और एक चुनौती भी, किन्तु वह स्वतत्रता का बाधक नहीं है।

अस्तित्ववादियो मे इतिहास के प्रति सर्वाधिक गहरा बोध सभवत यास्पर्स को है। विश्वदर्शन के इतिहास मे तो उनकी गहरी अभिरूचि है। दर्शनशास्त्र पर लिखी गयी अपनी प्रथम पुस्तक 'Philosophie' के प्रथम भाग मे उन्होने सुकरात, बुद्ध, कन्फ्यूशियस, ईसामसीह, प्लेटो, ऑगस्टाइन, काट, स्पिनोजा, नागार्जुन इत्यादि का प्रमुखता के साथ उल्लेख किया है। यास्पर्स अतीत के दर्शन को सत्ता की अभित्यक्ति का एक साकेतिक अभिलेख भी मानते हैं। उनके अनुसार -"दर्शन का इतिहास व्यक्तियो का व्यक्तियों से चलने वाला अनवरत सलाप है, जिसमे वे अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों एव परम्पराओं की गहनता से विचारों के साकेतिक अभिलेख के माध्यम से सत्ता का साक्षात्कार करते रहते हैं।[15] सत्ता की अनुभूति ही दर्शन है, जो एक तथा शाश्वत है। इस सत्ता को दार्शनिक अपनी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और दर्शन का इतिहास इसी प्रयास का लेखा-जोखा है।

किन्तु यह ऐतिहासिकता केवल अतीत के तथ्यों का एकत्रीकरण और विवरण मात्र नहीं है। इतिहास को एक विषय के रूप मे भी नवीन अनुसधानो और नवीन व्याख्याओ

के आधार पर अतीत के पुनर्लेखन के रूप मे परिभाषित किया जाता है।[16] यास्पर्स ने भी दार्शनिक सदर्भ मे इतिहास को पुनर्जीवित किया हैं। उनकी मान्यता है कि दर्शन सदा समकालीन होता है, यदि आज प्लेटो के किसी वैचारिक अश को प्रतिष्ठित किया जाय, तो वह आज के परिवेश मे प्लेटो है- प्राचीन प्लेटो नहीं। नीत्शे पर लिखी अपनी पुस्तक मे उन्होने स्पष्ट कहा कि वे नीत्शे के विचारो को मृत प्रत्ययो के समान एकत्रित नहीं कर रहे बल्कि नीत्शे को आज के परिवेश मे स्थित कर रहे है, आज के लिए पुन जीवित कर रहे हैं।

यास्पर्स ऐतिहासिक दृष्टि से दार्शनिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन मे एक भेद भी पाते हैं और वह भेद दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र मे मौलिक अन्तर कर देता है। उनके अनुसार विज्ञान मे विकास का अर्थ है नित्य नूतन सत्यो का अन्वेषण । इसमे एक काल मे जिन सत्यों की स्थापना की जाती है, परवर्ती काल में उन सत्यों का खण्डन भी हो जाता है। एक काल की प्रौद्योगिकी दूसरे काल में निरर्थक हो जाती है। इस प्रकार विज्ञान मे नवीन सत्यो की खोज प्रायश पुरातन सत्यों के निषेध का कारक बनती है।

परन्तु दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप इससे भिन्न होता है। इसमें विकास का अर्थ पुरातन के स्थान पर नूतन का प्रतिस्थापन नहीं होता । इसमे नूतन और पुरातन दोनो का सह अस्तित्व सदैव बना रहता है। जो भी नये विचार आते हैं उनसे अरस्तू , काट, हीगल आदि के विचारो का लोप नहीं हो जाता, क्योंकि नये विचारो को उन पहले के विचारो के सातत्य में ही समझा जा सकता है। सही मायने मे देखा जाय तो नये विचारों के आलोक में पुराने विचारों की प्रासगिकता और बढ जाती है। एक काल का विचारक अपने पहले के विचारों की उपेक्षा कर भी नही सकता क्योकि उन विचारो की अवगति के आधार पर ही उसकी वर्तमान दृष्टि खड़ी होती है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नही कि नये विचार में जो कुछ है वह पुरातन का ही रूप परिवर्तन है। सभव है कि किसी पुरातन विचारक के चिन्तन मे समकालीन दृष्टि विद्यमान रही हो किन्तु नये विचार में वह एक नये रूप में, नयी ऊर्जा और तर्क के साथ पुनर्जीवित होता है। यास्पर्स ने नीत्शे पर लिखी पुस्तक मे स्वय कहा है कि वे नीत्शे के विचारों को मृतसप्रत्ययों के समान एकत्रित नहीं कर रहे हैं, अपितु आधुनिक

सदर्भो मे आज के परिवेश के लिए उसे पुनर्जीवित कर रहे हैं। इस अर्थ मे उनकी मान्यता है कि दर्शन सदा समकालीन होता है, यदि आज प्लेटो के किसी वैचारिक अश को प्रतिष्ठित किया जाय तो वह आज के परिवेश मे प्लेटो है प्राचीन प्लेटो नहीं।

स्पष्टत यास्पर्स अतीत के दर्शन को सत्ता की अभिव्यक्ति का एक साकेतिक अभिलेख मानते हैं और दर्शन के इतिहास के मनन के माध्यम से वह अतीत के दार्शनिको से सलाप करने का प्रयास करते हैं।[17] किन्तु इतिहास और अतीत के प्रति जितना प्रेम यास्पर्स रखते हैं, उतना अन्य अस्तित्ववादी नहीं। वास्वत मे देखा जाय, तो इतिहास के प्रति जितना विद्रोह भाव अस्तित्ववादियो में है उतना अन्य दार्शनिक सप्रदायो में नहीं। फिर क्या कारण है कि इतिहास और ऐतिहासिकता की दृष्टि को इतनी प्रधानता दी जाय? क्या केवल यास्पर्स को ध्यान मे रखकर इतिहासपरक अथवा इतिहासवादी दृष्टिकोणो को अप्रासगिक रूप से आरोपित किया जाय?

नहीं वस्वतुस्थिति दूसरी है। यह सर्वविदित है कि अस्तित्ववाद मूलत ऐतिहासिक परिस्थितियो तथा विज्ञानवाद और बुद्धिवाद के प्रतिपक्ष मे उभरा एक सशक्त दर्शन है। हीगल स्वय दर्शन और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान थे और उन्होने पक्ष-विपक्ष सपक्ष के त्रिक को इतिहास का भी सूत्र माना था। पुन विज्ञानवाद (Scientism) भी कहीं न कहीं इतिहास से घनिष्ठता से जुड़ जाता है। क्रोचे, वाइकोकार, कोलिगवुड आदि अनेक प्राकृतिक विज्ञानी दार्शनिक तो प्रत्यक्षत अथवा परोक्षत इतिहास की अनिवार्यता दिखलाते हुए उसकी दर्शन और विज्ञान से सार्थकता सुनिश्चित करते हैं। क्रोचे ने कहा है कि दर्शन इतिहास का प्रणाली विज्ञान है। वे यह मानते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान इतिहास से पृथक होकर अमूर्तीकरण का शिकार हो गया है। यदि विज्ञान का एतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाये और उसे मनुष्यों की गति का एक अश माना जाये तभी हम उनकी सही प्रकृति को समझ पायेंगे। समझने का अर्थ एतिहासिक रूप में देखना है।[19]

कोलिगवुड वैज्ञानिक दार्शनिक है, किन्तु उनका सर्वाधिक बल मानव सस्कृति पर है। उनके अनुसार मानव के ज्ञान के लिए इतिहास ही श्रेष्ठ माध्यम है, न कि भौतिकी। वे जननिक विज्ञान के साथ-साथ प्राकृतिक विज्ञान को भी मूलत एतिहासिक मानते हैं। अपनी पुस्तक The Idea of Nature (1945) में उन्होने कहा है कि-किसी एक समय में किसी अमुक-अमुक स्थान में अमुक-अमुक प्रकार के पर्यवेक्षण किये गये, यह बताने

के लिए कि ऐसी ही एतिहासिक जॉच करने की आवश्यकता है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी किसी के विचार तो हैं ही। गुरूत्वाकर्षण के शास्त्रीय सिद्धान्त को समझना न्यूटन की विचारधारा की ही व्याख्या करना है। इस तरह प्राकृतिक विज्ञान भी विचारो की एक अवस्था के रूप मे ही विद्यमान है और एतिहासिक सदर्भ मे सदा से ही विद्यमान रहा है। अपने अस्तित्व के लिए वह एतिहासिक विचारधारा पर आश्रित है। विज्ञान को कोई उस समय तक नहीं समझ सकता है, जब तक वह इतिहास को न समझता हो, और कोई इस प्रश्न का उत्तर भी उस समय तक नहीं दे सकता कि प्रकृति क्या है, जब तक वह न जाने कि इतिहास क्या है?[20]

दो अन्य कारणो से भी अस्तित्ववाद की पृष्ठिभूमि मे ऐतिहासिकता का महत्व बढ जाता है और वे कारण हैं–मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद और डार्विन का उद्‌विकासवाद। ये दोनो ही विचारधाराए आधुनिक काल मे मानव जीवन और चिन्तन की सशक्त विचारधाराए रहीं हैं। कहना न होगा कि ये सभी विचारधाराए मानव चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र मे क्रान्ति की प्रणेता सिद्ध हुई है। हीगल के निरपेक्ष बुद्धिवाद के अतिरिक्त अस्तित्ववाद को जिन विचारधाराओ से जूझना पड़ा है, उनमे उक्त दोनो सर्वोपरि हैं। इन दोनो ने ऐतिहासिकता को नये सदर्भों मे मूल्यवान बना दिया है। इतिहास अब अपने विवरण या प्रेरणात्मक रूप मे समीचीन तो नहीं रहा, किन्तु वह जैविक से लेकर सामाजिक स्तर तक मानव का समग्र निर्धारक बन बैठा है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इतिहास का नए सिरे से विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र आदि से तालमेल होने लगा। एडवर्ड हैलट्कार ने तो विज्ञान और इतिहास के मध्य अनेक समानान्तर बिन्दुओं को सिद्ध करने का प्रयास किया है।[21] उनका कहना है कि 'इतिहास को प्राय अतीत का, नयी खोजो और नयी व्याख्याओं के आलोक में पुनर्लेखन माना जाता है। यह लगभग वैसा ही है जैसा कि विज्ञान मे नये आकड़ो, नये विवेचनाओ के सग्रहण और सबसे बढकर पुराने मताग्रहो की जगह नये मताग्रहो का समन्वय होता रहता है।'[22]

वस्तुत प्रारम्भ में इतिहास का अन्य विषयो से अलगाव या दुराव न था। 18वी और 19वीं सदी मे विज्ञान का इतिहास और विज्ञान का दर्शन दोनो पूरक शाखाए थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में भी, जब तार्किक भाववाद का जन्म हुआ, विज्ञान

का दर्शन अपने चरित्र मे ऐतिहासिक ही रहा किन्तु बाद मे अपनी अपनी हठधर्मिता के कारण दोनो मे एक प्रकार का पार्थक्य सा हो गया है। पाल वुड ने इसके लिए दो कारको को मुख्यत उत्तरदायी माना है-

प्रथम- विज्ञान दार्शनिको द्वारा इतिहास दार्शनिको के लिए सिद्धान्त प्रारूप निश्चित करने का मताग्रह।

द्वितीय- विषयो के विभाजन की व्यवहारिकता, जिस कारण व्यावहारिक दृष्टि से प्राय दोनों दार्शनिको मे प्राय एक दूसरे से असपृक्त रहने की प्रवृत्ति आ गयी।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इतिहास का जीवन एव चिन्तन से गहरा जुड़ाव होने के बावजूद अस्तित्ववाद में इसके प्रति एक प्रकार का विरोध भाव क्यों विद्यमान है? वास्तव मे अस्तित्ववाद इतिहास के विरूद्ध नहीं, अपितु एतिहासिक नियतत्ववाद के विरूद्ध है। सभवता इन्हीं कारणों से इतिहास के प्रति विरोध प्रकट करने वालो की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। स्वय हीगल ने जो इतिहास को एक दर्शन का रूप देते हैं, का मानना है कि "जनता और जनता कि सरकारे यदि कोई शिक्षा इतिहास के अध्ययन से ग्रहण कर सकती हैं तो वह यह कि इतिहास के अध्ययन से कोई भी शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती है।" जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और विचारक गेटे ने इतिहास को 'बिल्कुल बेकार की वस्तु' तथा उच्चतर विचारक के लिए 'बेवकूफी से भरा हुआ ताना-बाना' बताया था। हर्बर्ट स्पेन्सर जिन्होंने विकासवाद की ऐतिहासिक प्रक्रिया की समाजिक रूप देने का प्रयत्न किया, उन्होंने इसे अन्तत निरर्थक माना। मैथ्यू अर्नाल्ड ने सीमित तथ्यों पर की गयी व्यापक परिकल्पना के रूप मे इतिहास की व्याख्या की और इसे 'झूठ की मिसीसिपी' कहा । नीत्शे ने अपनी पुस्तक Thoughts out of Reason के दूसरे भाग मे कहा है कि इतिहास का अधिक ज्ञान जीवन की अबाध गति में बाधक होता है। स्वय अस्तित्ववाद के लिए पद्धति निर्माण करने वाले हुसर्ल ने प्रकृतिवाद के साथ-साथ इतिहासवाद से भी बचने का विधान किया था। उनके अनुसार इतिहासवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जो जीवन को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना चाहता है, किन्तु अन्तत एक गलत दिशा में पर्यवसित होता है, जहाँ कुछ भी स्थायी नहीं, यहाँ तक कि कोई वस्तु- निष्ठ सत्य नहीं है। इतिहासवाद स्वय एक विरोधाभासी स्थिति में फँस जाता है। एक ओर तो वह चाहता है कि सभी स्थितियाँ

ऐतिहासिक संदर्भ मे निहित हों और पूर्णत· तथ्यो पर निर्भर रहे परन्तु दूसरी ओर जब इन तथ्यो को प्रमाणित करना होता है तो एक समीक्षात्मक दृष्किोण की आवश्यकता हो जाती है जहॉ पूर्णत· मूल्यात्मक स्थिति में आना पडता है। यह स्थिति स्वय ही इतिहासवाद की अस्वीकृति की ओर अग्रसर करती है और ऐतिहासिक दृष्टि ही अवैध ा हो जाती है।25

पुन· इतिहास को पूर्णत तथ्यात्मक मानना वास्तविकता से ऑखे मूँदना ही होगा। मनुष्य की चयनात्मक दृष्टि किसी न किसी सीमा तक इतिहास को भी चयनात्मक और व्यक्तिनिष्ठ वना देती है। ऐतिहासिक परिवर्तन के चक्रीय और रैखिक सिद्धान्त क्या इतिहास के ऊपर हमारी परिकल्पनाएं नहीं हैं? क्या हीगल ने जब यह कहा कि विश्व इतिहास के सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन आदि महापुरूष अचेतन रूप से दैवी योजना को क्रियान्वित करने के साधन थे,[26] तो यह कोई तथ्यात्मक निर्णय था अथवा मार्क्स ने ही इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की वह पूर्णत संतोषजनक समझी जा सकती है अथवा विलफ्रेडो परेटो के 'अभिजात्य वर्ग के ऐतिहासिक परिभ्रमण सिद्धान्त'[27] को हम एक वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार करते हैं?

स्पष्टत इतिहास तथ्य है, मनुष्य के लिए उसके अस्तित्व के लिए वह तथ्यात्मकता के रूप में प्रस्तुत होता है, जैसा कि सार्त्र कहते हैं। वस्तुत यह हमारा अपरिवर्तनीय अतीत है किन्तु यह अतीत हमारी स्वतंत्रता का निर्धारक नहीं है, वह वर्तमान के हमारे चयन में बाधा नहीं है। सार्त्र के शब्दों में-" हमारे अतीत की प्रकृति सामान्यत· ऐतिहासिक चयन के रूप में है। यदि मानव समाज ऐतिहासिक है तो यह इस तथ्य में कोई बाधा नहीं डालता कि उनका एक अतीत है किन्तु इस बात से अवश्य बाधित करता है कि वे अतीत को एक मेमोरियल बनायें। जब अमेरिकन पूँजीवाद ने यूरोपीय युद्ध (1914-1918) में शामिल होने का विचार किया है, तो यह विचार लाभदायक व्यापार के अवसर के कारण था। अत· यह उपयोगितावादी विचार था, इतिहासवादी नहीं। वस्तुतः"स्वचेतन सत् का शाश्वत इतिहासीकरण उसकी स्वतंत्रता की शाश्वत स्वीकृति भी है।''29

इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्तित्ववादियों ने इतिहास का नहीं अपितु ऐतिहासिक नियतत्ववाद का निषेध किया है। फिलीप मैरे भी 'अस्वित्ववाद और मानववाद' की

भूमिका मे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, अस्तित्ववाद को आमतौर पर इतिहास विरोधी कहा जाता है। और एक अर्थ मे यह ऐसा है भी, फिर भी इसके समर्थक अस्तित्ववाद के पूर्ववर्ती इतिहास के वारे मे रूचि दिखाने से नहीं चूकते।30 तभी तो ट्रैवेलियन ने इतिहास की महत्ता बताते हुए कहा था कि यदि मनुष्य के अध्ययन का सबसे उचित विषय मनुष्य ही है तो इतिहास का अध्ययन उसके लिए कीट-पतंगो, गैसो और अणुओं के अध्ययन की अपेक्षा अधिक उचित है।"

यहाँ इतिहास विषयक दृष्टि का सम्यक् विवेचन करने का मूल कारण मात्र यह था कि अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक दर्शन और दार्शनिक इतिहास के साथ-साथ सामान्य इतिहास के आलोक मे भी देखा जा सके। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस पृष्ठभूमि को हम कितनी दूर तक देखे ? कहीं कोई विचारक अस्तित्ववाद के वीज को सुदूर ग्रीक युग तक खोज निकालता है तो कोई हीगले की प्रतिक्रिया मे खड़े कीर्केगार्ड से पीछे नहीं जाना चाहता है। प्रमुख रूप से तो सोरेन कीर्केगार्ड (1813-1855) ही अस्तित्ववाद के जनक माने जाते हैं, किन्तु चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने अनेक पूर्ववर्ती विचारकों में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते ही रहते हैं। स्वयं कीर्केगार्ड ने कहा है कि वे सुकरात की चिन्तन पद्धति से अधिक प्रभावित हैं। वे इनकी धात्री प्रणाली सत्य के प्रति प्रतिबद्धता तथा स्वयं साक्षात्कार की पद्धति की भूयः-भूय. प्रशंसा करते हैं।[31]कर्ल रेनहर्ट ने तो Existenalist Revolt में हेराक्लाइटस में भी अस्तित्ववाद के बीज बताये हैं। नीत्शे ने भी ऐसा विचार 1870 में ग्रीक दार्शनिकों पर अपने भाषणों की भूमिका में प्रस्तुत किया था।

हेरेक्लाइटस ग्रीक दर्शन में क्षणिकवादी, समष्टिवादी और बुद्धिवादी, दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, फिर किन कारणों से उन्हें अस्तित्ववाद की श्रेणी में लाया जा रहा है? सर्वप्रथम तो यह कि वे आयोनिक (माइलेशियन) सम्प्रदाय के विपरीत पहले ऐसे दार्शनिक हैं जो दर्शन को आत्माभिमुख करते हैं। वेगनर जीगर ने The Ideas of Greek culture में कहा है, "हेरेक्लाइट्स के लिए मानव हृदय ऐसी तीव्र भावना और क्रिया का केन्द्र है, जिसमे सृष्टि की सारी शक्तियां मिलती हैं और समाहित हो जाती हैं।" जगत में विरोधी शक्तियों का संवाद दिखाकर वे जीवन मृत्यु की वास्तविकता की स्वीकृति देते हैं। [32] वे कहते हैं- 'मर्त्य अमर्त्य है और अमर्त्य मर्त्य है (R P 49)

एक का जीवन दूसरो के विनाश का तथा उसका विनाश दूसरो के जीवन का कारण होता है।'(R P 46) संसार की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं- "यह संसार, जो सवके लिए एक है, न तो किसी देवता द्वारा और न किसी मनुष्य द्वारा रचित है, यह निरन्तर सजीव अग्नि के रूप मे सदा से था और सदा रहेगा। जिसका कुछ भाग प्रज्ज्वलित रहता है और कुछ भाग नष्ट होता रहता है।33 (R P 35) परिवर्तन को स्वीकार कर वे सापेक्षवादी वन जाते हैं, अत उनमें बुद्धिवाद की निरपेक्षता नहीं झलकती।

हेराक्लाइटस यद्यपि व्यक्ति की वजाय समष्टि पर वल देते हैं, किन्तु मानवीय आन्तरिकता पर वह विशेष बल देते हैं और यही विशेषता उसे अस्तित्ववाद के निकट पहुंचा देती है। उनके अनुसार सभी मनुष्यों मे युगपत विशेषता है- आत्म-चिन्तन। मनुष्य आत्म साक्षात्कार की अवस्था में तभी पहुंचता है जव वह शान्त चित्त होकर अपनी आत्मा की गहरायी में सत्य की खोज करता है। यद्यपि इस प्रकार के अस्तित्व की अनुभूति सवके लिए सुलभ है किन्तु वस्तुत किंचित् लोग ही इसकी खोज करते और पाते हैं। अधिकांश लोग जीवन की उलझनों में ही फंसे रहते हैं। मात्र कुछ लोग ही अपने अस्तित्व का साक्षात्कार करते हैं और वे उत्तम लोग हैं तथा शेष निकृष्ट हैं।

निश्चय ही यह अस्तित्वानुभूति ही उत्कृष्टापकृष्ट का मानदण्ड माना गया है। अस्तित्वानुभूति से परे लोगो को आधुनिक अस्तित्ववादियों ने भी अपने-अपने ढंग से निकृष्ट ही ठहराने का प्रयत्न किया है। कीर्केगार्ड इन्हें 'निर्विशेष भीड़' (Featureless Croud) यास्पर्स इन्हें समूह (Masses) और हाइडेगर 'डास मैन' (Das Man) कहते हैं। भीड़ की अपनी अलग मनोवृत्ति हो जाती है। वह बिना जाने एक सीधी लकीर पर चलती जाती है, जीवन में उसके एक प्रकार की दैनन्दिनी आबद्धता आ जाती है, जिसे हाइडेगर ने Everydayness की संज्ञा दी है।

किन्तु यूनानी दर्शन में सुकरात ही ऐसे दार्शनिक हैं, जो अपनी दार्शनिक पद्धति से अस्तित्ववादियों को सीधे प्रवाहित करते दिखते हैं। फ्रेडरिक कोप्लेस्टन ने भी कहा है-'अस्तित्वादी आंदोलन का प्रथम कार्य दार्शनिक समस्याओं को नये सिरे से उठाना है और उन पर विचार करना है। दर्शन के इतिहास में प्रायः ऐसे विचारक आये हैं जिन्होंने विचारोत्तेजना पैदा की है और भविष्य में दार्शनिक चिन्तन के लिए एक नयी प्रणाली

छोड़ गये हैं। उनमें से एक सुकरात भी थे।[34] सुकरात का प्रमुख वल सत्य के 'अन्तर्वर्ती रूप का प्रकाशन करना था। उनकी धात्री प्रणाली का निहितार्थ ही यही था कि सत्य मनुष्य के भीतर से स्वयं आता है, कोई उसे बाहर से नहीं डाल सकता। सुकरात से अत्यत प्रभावित कीर्केगार्ड ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है-जिस सत्य मे मैं स्थित हूं, वह मेरे भीतर ही है और हमेशा से ही रहा है और उसकी अभिव्यंजना भी मेरे ही प्रयासो द्वारा होती है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह सुकरात ही क्यो न हो, यह शक्ति नहीं है कि वह मुझे कोई ऐसी चीज दे दे, जो मेरे पास नहीं है और जिसके साक्षात्कार की मुझमे शक्ति एव ग्रहणशीलता भी नहीं है।[35]

व्यक्ति की वैयक्तिकता का निदर्शन करते हुए वे कहते हैं-"सुकरात की दृष्टि मे प्रत्येक व्यक्ति का अपना केन्द्र है और सम्पूर्ण विश्व उसमे निहित हैं, क्योंकि उसके स्वयं के ज्ञान मे ही ईश्वर का ज्ञान निहित है।[36] सुकरात ने इसी सच्चाई को अपनी जीवनशैली के माध्यम से व्यक्त करना चाहा था और उसे निरूपित करते हुए वे कहते हैं कि सत्य की उपलब्धि किसी भी व्यक्ति को किसी बाहरी स्रोत से प्राप्त नहीं होती है, बल्कि अपने ही को तैयार करके अपने भीतर की गहराइयो में डुबकी लगाकर ही उसे सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। अस्तु किसी गुरु की खोज करना व्यर्थ है। सुकरात जब स्वयं अपने मित्रों से वार्तालाप करते हैं और उन्हें सत्य का बोध कराते हैं, तो वे यह दावा नहीं करते कि सत्य उन्हीं की विशिष्ट उपलब्धि है। वे गुरु होने का दावा ही नहीं करते। वे तो केवल प्रश्नों के माध्यम से अपने मित्रो को इस प्रकार सत्य के प्रति धीरे-धीरे उन्मुख कर देते हैं कि वे सभी स्वयं साक्रेटीज के सत्य को अपने सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति में सत्य विद्यमान न होता, यदि उसे उसका सहज बोध न होता तो किसी भी प्रयास से उसे उसके द्वारा जानना सम्भव न होता।[37] यह ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी ताँगा चलाने वाले को लगे कि वही घोडों को चला रहा है और वह स्वयं ही भार ढो रहा है, किन्तु सत्य तो यह है कि वह मात्र इतना करता है कि अपने चाबुकों से घोड़ों को गति प्रदान कर देता है ताकि वे उस भार का वहन करने के लिए प्रस्तुत हो जायें। कीर्केगार्ड कहते हैं कि सुकरातीय दृष्टि की असीम विशेषता इस प्रतिपादन में थी कि उन्होंने ज्ञाता को अस्तित्ववान व्यक्ति माना और अस्तित्व का कार्य ही उनका आधारभूत कार्य था। सुकरात

की सत्य के प्रति प्रतिबद्धता इतनी गहन थी कि उन्होने माफी न मांगकर मृत्यु का सहर्ष वरण किया था। सत्य के प्रति इसी अपूर्व प्रतिबद्धता को कीर्केगार्ड भी स्वीकार करते हैं किन्तु इससे भी आगे जाते हुए वे इस प्रतिबद्धता को उन्माद के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[40] धार्मिक स्थिति मे इसाक और अब्राहम के दृष्टात द्वारा वे इसी तथ्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं। उनके अनुसार प्रश्नों द्वारा सत्य को प्रकट करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का आधार ही यही है कि सत्य उस व्यक्ति की चेतना मे सद्य विद्यमान हो, जिससे प्रश्न किये जा रहे हों और उसमें प्रकट करने की भी शक्ति हो। अर्थात् सत्य स्वयं उसमें ही निहित है और उसी के द्वारा प्राप्त है। किस व्यक्ति के सम्पर्क मे आकर वह उद्घाटित हुआ-यह महत्वहीन है। [41]

कीर्केगार्ड की जीसस मे गहन आस्था थी और वे यह कहते हैं कि यद्यपि सुकरात की दृष्टि सही थी और उन्होने सत्य के सही रूप को, उसकी अन्तवर्तिता को-हमारे सामने प्रस्तुत किया है तथापि उन्होने इस स्वीकृति की विषमता को ठीक प्रकार से नहीं समझा था और वे समझ भी नहीं सकते थे क्योकि उनके समय तक जीसस क्राइस्ट का जन्म ही नहीं हुआ था।[42] यहा जीसस को ईश्वरीय मानव (God man) मानना, उनकी ईसाई आस्तिकता का परिणाम है, किन्तु सुकरात की देनों के प्रति उनकी स्वीकारोक्ति नि.संदेह अस्तित्ववादी विचारधारा को ग्रीक काल तक ले जाती है।

सुकरात के बाद प्लेटो और अरस्तू का युग आता है। ये दोनो दार्शनिक किसी न किसी रूप में समस्त पाश्चात्य दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। व्हाइटहेड ने तो यहां तक कहा है कि "समस्त यूरोपीय दार्शनिक परम्परा प्लेटो के सिद्धान्तो पर धारावाहिक टिप्पणी है।" कोई भी दार्शनिक पद्धति हो, वह प्लेटो अथवा अरस्तू से प्रभावित होगी। यदि अस्तित्व और सार की समस्या को लिया जाय (क्योकि सार्त्र के अनुसार 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है" यह मान्यता ही अस्तित्ववाद का आधार वाक्य है) तो प्लेटो ने सार और अरस्तू ने अस्तित्व का पक्ष लिया है। प्लेटो के मत मे 'प्रत्यय' ही अन्तिम तत्व है, जो सम्पूर्ण सृष्टि से ऊपर है। वही सार है। प्लेटो इन सार रूप प्रत्ययो को ही शाश्वत और स्वतंत्र मानते हैं। सम्पूर्ण विश्व की रचना इन्हीं प्रत्ययों की, प्रतिकृति मात्र है। प्रत्यय का स्थान प्रथम तथा संसार का स्थान द्वितीय है। इसी आधार पर वे सामान्यों के अतीन्द्रिय यथार्थवाद (Transcendental Realism) के सिद्धान्त को स्वीकार

करते हैं। प्रत्यय मूर्त सामान्य है वही ऐसे पूर्ण आदर्श हैं अथवा मूल विम्व हैं, जिनके प्रतिविम्व इन्द्रिय जगत् के पदार्थ हैं।[43] यहां आकर सार ही प्रधान हो जाते हैं, अस्तित्व गौण हो जाता है। सवसे महत्वपूर्ण वात तो यह है कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या उसके आरम्भ द्वारा नहीं, अपितु अन्त या प्रयोजन द्वारा होती है। उदाहरणार्थ मनुष्य की व्याख्या आदर्श या पूर्ण मनुष्य द्वारा सफेद वस्तुओ की व्याख्या आदर्श या पूर्ण सफेदी द्वारा ही हो सकती है इत्यादि।[44]

अरस्तू ने प्लेटो के इस विचार का खण्डन किया और उस पर आपत्तियां प्रकट की। उसने प्लेटो के अपरिवर्तनीय नित्य प्रत्ययों का महत्व तो बनाये रखा, किन्तु उन्हे संसार से बाहर नहीं स्वीकार किया। उसने प्रत्ययों को स्वर्ग से उतारकर पृथ्वी पर ला दिया। उनका सामान्यो का अन्तर्निहित यथार्थवादी (Immanent Realism) सिद्धान्त इसी बात की पुष्टि करता है। अरस्तू की दृष्टि में प्रत्यय व्यक्ति अथवा वस्तु से भिन्न नहीं, अपितु उसी में निहित है। वे व्यक्ति का अतिक्रमण नहीं करते, अपितु उसी में व्याप्त रहते हैं। संसार प्रत्ययो की प्रतिकृति नहीं, अपितु स्वयं सत्य है। ससार का अपना अस्तित्व है। सार अस्तित्व पर निर्भर है। यदि वस्तुओं या व्यक्तियो का अस्तित्व न हो तो उनके सार की कल्पना भी नहीं की जा सकती, किन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि वे सार को कोई महत्व ही नहीं देते अथवा वह नगण्य है। यदि ध्यान से देखा जाय तो अरस्तू भी वस्तु की अन्तिम सत्ता सार में ही निहित मानते हैं और अन्तत अस्तित्ववादी विचारधारा से दूर चले जाते हैं। वस्तुतः अरस्तू द्वैतवाद के पोषक हैं। एक ओर ऊपर आकाररूप प्रत्यय हैं और दूसरी ओर नीचे द्रव्य हैं इन दोनों के बीच ही चेतन-अचेतन जगत् का आनुक्रमिक स्तर सोपानवत् विद्यमान है। अत' प्रत्येक वस्तु प्रत्यय और द्रव्य का सम्मिश्रण है। दूसरे शब्दों में कहें तो अस्तित्व का सार से सम्मिश्रण बना हुआ है, किन्तु उनके दर्शन में अस्तित्व शब्द एक भिन्न अर्थ ले लेता है। वे कहते हैं कि जो अस्तित्ववान है, वह वास्तविक नहीं है और जो वास्तविक है वह अस्तित्ववान नहीं है। ईश्वर वास्तविक है किन्तु वह अस्तित्ववान नहीं है। जो अस्तित्ववान है-वह है व्यक्ति, जो कि द्रव्य और आकार का सम्मिश्रण है। चूकि ईश्वर मे द्रव्य नहीं है, अत. वह अस्तित्ववान नहीं है।[45] इसी बात को हीगेल ने भी स्वीकार किया।[46]

निश्चय ही अस्तित्ववाद को पूर्णत अरस्तू की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। सार

समाहित अस्तित्व की अवधारणा तथा पूर्व निर्धारित प्रयोजन की अवधारणा तो विशेपत निरपेक्ष अस्तित्ववाद के साथ असगत ही हो जाती है, किन्तु इतना तय है कि प्लेटो और अरस्तू ने अस्तित्व और सार की समस्या को दर्शन का केन्द्र विन्दु वना दिया, जो आगे चलकर अस्तित्ववाद के लिए प्रस्थान विन्दु वना।

ऐडी ने कुछ प्राचीन अफ्रीकी धार्मिक संतों के विचारों का विश्लेपण किया है और पाया है कि उनमें अस्तित्ववादी सिद्धान्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान है।[47] ये पादरी सन्त तर्कशास्त्र और वस्तुपरक वौद्धिक चिन्तन की न्यूनताओं से परिचित थे। वाइविल के आधार पर उन्होने निष्कर्ष निकाला था कि बुद्धि की वजाय आस्था ही मानव जीवन की वास्तविक शक्ति है। धर्म और जीवन के रहस्यों को एक सिद्धान्त के रूप मे नहीं समझा जा सकता। वह तो जीवन की एक विधि है।

किन्तु यहा केवल प्रतिप्रज्ञावादी विचारधारा के आधार पर अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रतिपादन का निष्कर्ष निगमित कर लेना असंगत होगा। ऐसी स्थिति मे तो अर्थक्रियावादी (जैसे जेम्स, डीवी, शिलर आदि), प्राणवादी (जैसे-बर्गसॉं) प्रकृतिवादी, सापेक्षवादी, और यहां तक कि निरपेक्षवादी ब्रैडले भी अस्तित्ववादी माने जा सकते हैं, जिन्होने यह कहा था कि परम तत्व को जानने के लिए बुद्धि को आत्महत्या करनी पड़ती है। कोई प्रतिप्रज्ञावादी दर्शन अस्तित्ववादी तभी हो सकता है जब उसमे मानव अस्तित्व की समस्या प्राथमिक हो, न कि जगत् के अस्तित्व की अथवा ईश्वर के अस्तित्व की। पुन. हमें उसमें यह भी देखना होगा कि उसमे व्यक्ति के वैशिष्ट्य और उसके स्वातंत्र्य का उसमे क्या स्थान है, व्यक्ति को अपनी अस्मिता का वोध कितना गहरा है।

गिल्सन तथा मेरीटन ने टामस एक्वीनस की विचारधारा को प्रामाणिक अस्तित्ववाद की श्रेणी में रखा है।[48] एक्वीनस मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिक माने जाते हैं। दर्शनशास्त्र का यह युग वैसे भी बुद्धिवादी विचारधारा के विरुद्ध रहा है। एक्वीनस के सामने एक तरफ आगस्टाइन की आस्था प्रधान धर्मशास्त्रीय विचारधारा थी, वहीं दूसरी तरफ अरस्तू की तर्कप्रधान दर्शनशास्त्रीय विचारधारा थी। एक्वीनस ने इनके द्वन्द्वात्मक सघर्ष को समन्वित करने का प्रयास किया और इसी प्रयास के सातत्य में सत् भाव (Being) को आन्तरिक अनुभूति का विषय सिद्ध करते हैं। अपेक्षाकृत बुद्धिवादी होते हुए भी उनमें

अस्तित्ववादी रुझान इसी रूप मे देखा जा सकता है। आत्म नियतत्ववादी होने के कारण वे सार की अपेक्षा सत को प्राथमिक स्तर पर भी रखते हैं, अत. इस रूप मे भी वे कहीं न कहीं अस्तित्ववादी दृष्टि से जुडे प्रतीत होते हैं।

किन्तु हम स्पष्टतया स्वीकार कर सकते हैं कि उपर्युक्त सभी विचारधाराओ में मानवीय अस्तित्वानुभूति कभी अधिक गहन रूप नहीं ले पायी। प्राचीन माइलेशियन सम्प्रदाय की प्रकृतिवादी विचारधारा से लेकर मध्यकालीन स्कॉलेस्टिक सम्प्रदाय की ईश्वरवादी विचारधारा तक मानव का अस्तित्व सदैव द्वितीयक स्तर पर वना रहा। प्रथम विचारधारा मे जगत् के विवेचन की समस्या प्राथमिक थी, तो दूसरे मे ईश्वर के विवेचन की। इसमे कहीं भी न तो मानव की अस्तित्वगत वैयक्तिकता दिखायी देती है और न ही उसकी अस्तित्वगत समस्याए।

हम कह सकते हैं कि तव तक मनुष्य को अस्तित्व के इन संकटों का भान ही नहीं हो पाया था जो आधुनिक काल में विकराल रूप में उसके समक्ष आये। न तो उसमें अपने पहचान की वैसी अभीप्सा पैदा हो पायी जो उसने राजनैतिक सामाजिक स्वातंत्र्यबोध के वाद जानी। न ही उसे तव विज्ञान की तकनीकी जटिलताओं और प्रकृतिवादी निष्कर्षों का भान था। परिस्थितियां स्वयं ही यह इंगित कर देती हैं कि हमारी समस्याओं की प्राथमिकता क्या होनी चाहिए। कठोर वास्तविकताएं स्वयं ही यह निर्णय दे देती हैं कि हमारे लिए जिज्ञासा का उत्तर महत्वपूर्ण है अथवा जिजीविषा का समाधान, होना मूल्यवान है अथवा होने की चेतना का होना, 'सत्ता' मूल्यवान है अथवा 'अस्मिता'।

यद्यपि इन सही अर्थो में तो केवल आधुनिक अस्तित्ववादियो को ही प्रामाणिक माना जा सकता है, किन्तु सत्रहवीं सदी के प्रारभ में हमे ब्लेजी पास्कल के रूप मे एक ऐसा दार्शनिक मिल जाता है, जो अनजाने में ही बिना किसी व्यवस्थित दर्शनतंत्र की कल्पना किये, अस्तित्ववादी प्रश्नो पर विचार करता है। चूंकि वह युग देकार्त के प्रखर बुद्धिवाद का युग था, इस कारण उसकी ओर किसी का ध्यान न जा सका। यह स्थिति ठीक वैसी ही थी, जैसी कि हीगेल के समय कीर्केगार्ड की। ब्लेजी पास्कल में अस्तित्ववादी दृष्टि अनेकशः इतने स्पष्ट रूप में विद्यमान है कि यदि उसने कीर्केगार्ड की भांति सामान्य ढंग से भी अस्तित्ववाद का नाम ले लिया होता, तो आज निश्चय

ही अस्तित्ववाद के जनक के रूप में हम कीर्केगार्ड की जगह उसका नाम ले सकते थे। सभवत उसकी प्रायोगिक वैज्ञानिक बुद्धि ने भी अस्तित्वात्मक अनुभूति की गहनता को स्पष्ट रूप देने मे कुछ वाधा पहुचायी हो। फिर भी, उसे अस्तित्ववाद का जनक भले न माना जाय, उसका पूर्व प्रतिपादक तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। डेविड राबर्ट्स ने अपनी पुस्तक Existentialism and Religious Belief में कहा है –पास्कल को अस्तित्ववाद का अग्रगामी इसलिए समझना चाहिए कि वह मनुष्य की सत्ता को वस्तुगत प्रकृति या प्रत्यय की तरह न देखकर आत्मगत भाव से अपने भीतर ही समझने का प्रयत्न करता है। उसने उन समस्याओं की ओर संकेत किया, जो बुद्धि से हल नहीं हो सकती है। विज्ञानों की अभिरुचि ने ही उसे मनुष्य की सत्ता की समस्या की ओर भी उन्मुख कर दिया। वह अनुभव करता था कि विभिन्न विज्ञानों से मनुष्य का अधिक कल्याण नहीं हुआ है। विज्ञान की खोज मे मनुष्य अपने से वहुत दूर निकल जाता है। विज्ञान की जानकारी से अधिक आवश्यक है आत्मा की प्रकृति जानना। यद्यपि ईसाई धर्मग्रंथो मे इसका अलौकिकतावादी समाधान उपलब्ध था, किन्तु वह इनसे सतुष्ट नहीं हुआ। उसने स्वय अपने भीतर इसकी खोज शुरू की–"जव मैं अपने छोटे से जीवन को देखता हूं कि वह अनन्तकाल के वीच में एक छोटे से विन्दु की तरह विद्यमान है चारो ओर अनन्त देश फैला है, उसमें मैं छोटे से स्थान पर पड़ा हूं। अनन्त देशकाल न मुझे जानता है और न मैं उसे जानता हूं। मैं अब इस स्थान पर क्यों हूं? मैं किसी अन्य स्थान में या किसी अन्य काल में क्यों नहीं हुआ? वह कौन सी शक्ति है, जिसने मुझे यहा पटक दिया है।"

मानव सत्ता की आकस्मिकता की यह अनुभूति स्पष्ट रूप से अस्तित्ववादी विचारों की द्योतक है। उसने अपने युग में ही वैज्ञानिक क्रांति के कारण मनुष्य के शाश्वत और नित्य सत्यों की अवधारणाओं के सकट में आ जाने की कल्पना कर ली थी। वे कहते हैं–"जब मैं अपने जीवन की छोटी अवधि पर विचार करता हू, छोटे दिक् पर विचार करता हूं, जिसे मैं भरता हूं और जिसे मैं उन दिनों की अपरिमितता मे समाहित देख भी सकता हूं जिनसे मैं अनभिज्ञ हूं और जो मुझसे अनभिज्ञ हैं, मुझे भय होता है, इन अपरिमित दिनों की नीरवता से मुझे डर लगता है।[49]

प्रतिप्रज्ञावाद और निर्प्रकृतिवाद का समर्थन करते हुए पास्कल कहते हैं–"तर्कबुद्धि

का अन्तिम कार्य है कि वह इस बात को मान्यता दे कि इसके परे भी असीम मात्रा मे वस्तुए हैं।''[50]

देकार्त की- "मैं विचार करता हूं, अत मैं हू" (Cogito Ergo sum. की अभ्युक्ति को परिवर्तित कर वे हेमन के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि "में हू, इसलिए मैं सोचता हूं" (Est, Ergo. Cogito)। तर्कबुद्धि की सीमाओ को निदर्शन करते हुए वे कहते हैं कि "यदि मैं अपने भाव से आरभ करता हू तो मैं देखता हू कि तर्कबुद्धि इसका अंग है और अगर मैं मानव प्रकृति को स्वीकार करता हूं तो मैं इस बात की आशा नहीं कर सकता हूं कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओं का हल निकाल सकती है।''[51]

अस्तित्व के सकट व बुद्धि की सीमा के निदर्शन के उपरान्त वे कीर्केगार्ड की भांति ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाते हैं। कीर्केगार्ड ने जिसे 'अज्ञात में छलांग' की संज्ञा दी थी, वह पास्कल के दर्शन में वाजी के रूप में विद्यमान है, जिसे धर्म-दर्शन मे 'पास्कल के दाव' (Pascles chance) की सज्ञा दी गयी है। तर्कबुद्धि पर अविश्वास उसे आस्था पर गहरे विश्वास की ओर ले जाता है। वे कहते हैं कि ईश्वरीय विश्वास ऐसी बाजी है, जिसमें हम कुछ भी नहीं खोते हैं। यदि हम बाजी हारते हैं तो भी हम अन्तत ईश्वर की खोज कर लेते हैं, जिसकी अनुभूति से हमारा जीवन समृद्ध हो जाता है।''

आस्था का समर्थन करने का यह एक संदिग्ध तरीका है, किन्तु दूसरी ओर इस बाजी का एक दूसरा अर्थ भी इंगित होता है और वह अर्थ हमे अनजाने में ही अस्तित्ववाद के मध्य पहुंचा देता है।... यहां वह बाजी के रूप का प्रयोग यह दिखलाने के लिए करता है कि हमें इस बात के लिए वचनबद्ध हो जाना चाहिए कि हम इस प्रश्न पर केवल वस्तुनिष्ठ ढंग से विचार नहीं कर सकते, क्योकि इसका सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूति के साथ है। अतः हम आस्था के सम्बन्ध में सार्थक रूप से तभी विचार कर सकते हैं, जब उसमें हम स्वयं सम्मिलित हों, हमारा आंतरिक सहयोग हो, हमारी भावना सक्रिय हो।[52]

पास्कल एक दृष्टि से समकालीन अस्तित्ववादियों से भी आगे हैं। वह मनुष्य की हीनता और तुच्छता का ही रोना नहीं रोता अपितु उसकी महानता को भी स्वीकृति देता है। एक तरफ तो उसे मानव का सृष्टि में तुच्छ स्थान होने का भान है, उसकी आकस्मिक स्थिति का बोध है। वह कहता है-"सम्पूर्ण अस्तित्व से मनुष्य यदि अपनी

तुलना करे, तो उसे ज्ञात होगा कि इस भूमण्डल के ससार मे उसकी स्थिति कितनी नगण्य है। हमारे इस दृष्टिगत संसार जैसे न जाने कितने संसार होंगे। सृष्टि अनन्त है, इसमे अनन्त भूमण्डल होंगे उनके बीच इस भूमण्डल की क्या महत्ता है। उसमें भी छोटे-छोटे देश, जिनमें छोटे-छोटे भूभाग उनमें भी किसी एक शहर या ग्राम मे खोया हुआ मनुष्य कितना उपेक्षणीय है। विशाल प्रकृति के सामने मनुष्य का क्या मूल्य है ?''[53]

बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी इसी बात को लेकर धर्म पर व्यग्य करते हुए एक कहानी लिखी है, जिसमें एक पादरी मरणोपरान्त स्वर्ग का द्वार खटखटाता है। बडी मुश्किल से एक सहस्राक्ष विशालकाय मनुष्य द्वार खोलकर उसका पता पूछता है, वह पादरी जब अपना पता बताते हुए पृथ्वी का नाम बताता है तो द्वारपाल पूछता है यह किस तारामण्डल मे है यह सूर्य किस गैलेक्सी के कौन से स्थान पर है। पादरी के पैरों तले से जमीन खिसक जाती है, तब उसे अपने अस्तित्व की तुच्छता का भान होता है।[54]

यह निश्चय ही एक अनिश्चित व भयप्रद स्थिति है। प्रकृति ने अनन्त और शून्य के बीच जिस शरीर में मनुष्य को डाल दिया है, उसमें वह अनिश्चितता के झूले में झूल रहा है। मनुष्य एक ओर अनन्त की तुलना में शून्य है और दूसरी ओर शून्य की तुलना मे वह सब कुछ है। उसकी स्थिति शून्य और सब कुछ के बीच कहीं है। इस प्रकार वह दोनों सीमाओं से बहुत दूर है। यही कारण है कि वह वस्तुओं के आदि और अन्त से अनभिज्ञ है। यह उसके लिए रहस्य है। हमारे अस्तित्व की प्रकृति ऐसी ही है कि हमें प्रथम प्रारंभ का ज्ञान नहीं हो सकता। वह प्रारभ शून्य से हुआ था। हमारे अस्तित्व की इतनी छोटी सीमा है कि अनन्त उसकी दृष्टि में नहीं समाता।

हम एक विस्तृत सागर पर तैर रहे हैं। कभी हम इस ओर तो कभी उस ओर बहे चले जा रहे हैं। हमें यह भी नहीं पता कि उस सागर में इस समय हम किस स्थान पर हैं। हम जिस वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं वही खिसक जाती है, हम पीछे रह जाते हैं। हम अपनी डोलती हुई स्थिति में किसी स्थिरता को न पकड पाते हैं और न भरोसा कर पाते हैं। हमारी इच्छा है कि हमें ठोस धरातल मिले, जिस पर हम मीनार बनाकर अनन्त तक पहुंच सकें, किन्तु नीवं कमजोर है आधार ही ढह जाता है। इसी दुखवस्था के कारण पास्कल बार-बार चिल्लाता है-वहां रहने की अपेक्षा

यहा रहने मे मुझे भय और आश्चर्य हो रहा है, क्योंकि मुझे इस बात का कारण नहीं समझ में आता कि वहां रहने की अपेक्षा मैं यहा हूं? उस समय की अपेक्षा अब ऐसा क्यो है? किसने मुझे यहा रखा है? किसके आदेश और निर्देश से मुझे यह स्थान और समय नियत किया गया है? अगर मेरा जन्म और इसके साथ मेरा स्वभाव निरर्थक अप्रत्याशित घटना के कारण है तो मैं इसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ? [55]

पुनः पास्कल मनुष्य की महानता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मनुष्य एक नरकुल की भांति तो है, किन्तु वह विचारशील नरकुल है। वह इतना संवेदनशील है कि पानी की एक बूंद भी उसे मारने के लिए पर्याप्त है। उसकी महत्ता इसमें हैं कि ईश्वर ने उसे अपनी प्रतिकृति के रूप मे निर्मित किया है। मनुष्य के लिए दो ही मार्ग है-ईश्वर का ज्ञान न होने पर उसकी खोज करना और ईश्वर का ज्ञान होने पर उसकी सेवा करना।

यहां आकर पास्कल ईश्वर के ज्ञान की अपेक्षा उसके प्रेम को महत्व देने लगता है। वह कहता है-ईश्वर का ज्ञान उसके प्रेम से बहुत भिन्न है। [56] यह प्रेम वस्तुत मस्तिष्क में निहित तर्कबुद्धि से नहीं अपितु हृदय में निहित विवेक से प्राप्त होता है।57

किन्तु कोई हृदय के इस तर्क को आत्मनिष्ठ बनाकर कोई कल्पना का रूप भी दे सकता है। आखिर इसमें यथार्थता कैसे आयेगी? इस बात की पास्कल गहन विवेचना करते हैं1वे कहते हैं-"हृदय के अपने तर्क हैं, जिनके बारे में तर्कबुद्धि नहीं जानती"। वह यह भी स्वीकार करता है-"मनुष्य प्रायः अपनी कल्पना को हृदय समझ लेता है।" उसे हमेशा इस बात का भय है कि कहीं हृदय का स्थान कल्पना न ले ले, क्योंकि हृदय अपूर्ण है।"किन्तु उसे इस बात का कभी संदेह नहीं होता कि हम न केवल तर्कबुद्धि से सत्य को जानते हैं, प्रत्युत हृदय से भी जानते हैं और इसी हृदय से हमें प्रथम सिद्धान्तों का ज्ञान होता है और तर्कबुद्धि, जिसका इसमें कोई स्थान नहीं होता, व्यर्थ मे उनका प्रतिवाद करने का प्रयास करती है।" [58]

किन्तु अपनी मुख्य कृति समाप्त करने के पूर्व ही पास्कल काल कवलित हो गये और इस प्रकार वह कोई उपयुक्त विधि प्रतिपादित नहीं कर पाये। फिर भी जहां तक उनके दर्शन में अस्तित्ववादी विचारभूमि का प्रश्न है, वह प्रच्छन्न नहीं अपितु प्रखर और मुखर है। यदि उन्हें अस्तित्ववादी सम्प्रदाय के प्रतिनिधि दार्शनिकों में कोई रखे, तो यह

अनुचित भी न होगा। पाल रूविचेक कहते हैं–'पास्कल ही प्रथम दार्शनिक है, जिसे वास्तव में अस्तित्ववादियों का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है।' [59]

अस्तित्ववाद की भावात्मक पृष्ठभूमि के अवलोकन मे हमे एक अन्य दार्शनिक कोलरिज का ध्यान आता है। कोलरिज में अस्तित्ववादी अवधारणाओं के अनेक अश प्राय उन्हीं रूपो मे मिल जाते हैं। हर्बर्ट रीड ने कहा भी है कि कीर्केगार्ड के उत्पन्न होने के पूर्व ही कोलरिज ने अस्तित्ववादी दर्शन के पारिभाषिक पदों की रचना कर ली थी। कोलरिज अस्तित्व को ही एकमात्र विषय वस्तु मानते हैं उनके अनुसार अनस्तित्व की वस्तुगत सत्ता होने की वात ही दूर, वह कल्पना से भी परे है। हमारी सत्ता और ज्ञान दोनों का आधार अस्तित्व ही है। इस अस्तित्व का ज्ञान हमे विशुद्ध सत्ता के रूप मे ही करना होगा। अस्तित्व के ज्ञान हेतु हमें यह भूलकर कि यह मनुष्य है, पुष्प है या रेत का कण है केवल 'यह है' के रूप में करना होगा। यह ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न एक तत्वात्मक ज्ञान होता है, जो हमे रहस्यात्मक अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त होता है। कोलरिज यह मानते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान एक प्रकार का अमूर्त ज्ञान है और कोई भी बौद्धिक ज्ञान हमें सत्ता के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकता।

इस प्रकार दार्शनिक वाडमय का इतिहास देखने पर हम अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि का सम्यक् अवलोकन कर सकते हैं। दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में उपर्युक्त सूची को अनंतिम नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इनमे उन प्रधान दार्शनिको को ही परिगणित किया गया है जिनमें अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप मे अस्तित्ववादी अन्तर्दृष्टि मुखरित हुई है। पुनः इस सूची को वस्तुनिष्ट भी नहीं माना जा सकता, क्योकि इनके चयन मे संभव है कि संकलनकर्ता ने केवल अपने मनोनुकूल अंशों को चयनित कर लिया हो अथवा मनोनुकूल ढंग से व्याख्यायित कर लिया हो; किन्तु विषय की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए यह खोज आवश्यक भी थी। इतना तो अवश्य ध्यान में रखा गया है कि केवल एक दो शब्द या वाक्य के आधार पर किसी को अस्तित्ववाद का पूर्व प्रवक्ता न मान लिया जाये। यदि ऐसा न किया जाये तो फिर किसी न किसी रूप में हर दार्शनिक अस्तित्ववादी होने लगेगा।

अस्तित्ववाद के प्रवर्तन में भावात्मक रूप में भूमिका निभाने वाले उक्त दार्शनिको के अतिरिक्त अभावात्मक भूमिका निभाने वाले ऐसे अनेक दार्शनिकों की भी एक लम्बी

श्रृंखला है, जिनके विरोध मे अथवा प्रतिक्रिया स्वरूप इस दर्शन का अभ्युदय हुआ। अगले अध्यायों में इनकी यथा स्थान परिचर्चा होगी। इनके अलावा अनेक ऐसे भी विचारक रहे, जिनका दर्शनशास्त्र से कोई सीधा सम्वन्ध नहीं था, फिर भी उन्होंने मानव की चेतना को, जीवन विद्या को गहरे तक प्रभावित किया। इन दार्शनिकों मे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो-आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक वैज्ञानिक आदि क्षेत्रो के विचारक हैं। इन विचारको जैसे-अगस्ट काम्टे, फ्रायड, डार्विन, मार्क्स, रसेल, लास्की आदि ने अपने विचारो का प्रवर्तन तो भिन्न क्षेत्रो में अथवा भिन्न उद्देश्यो से किया, किन्तु कालान्तर मे उनके विचार इतने प्रभावी हुए कि उन्हे विभिन्न विषय क्षेत्रों मे लागू किया गया। उनके सिद्धान्तों की गहनता और व्यापकता इतनी अधिक थी, कि शीघ्र ही अध्ययन के धरातल से उतरकर जीवन के धरातल पर चरितार्थ होने लगे। रोचक तथ्य तो यह है कि निरपेक्ष अस्तित्ववाद की ज्ञानमीमासीय पृष्ठभूमि के रूप मे परिगणित होने वाले हुसर्ल की फेनोमेनोलॉजी भी दर्शन शास्त्र से अधिक समाजशास्त्र और मनोविज्ञान मे लोकप्रिय हुई। इन विचारकों को हम पक्ष-विपक्ष की कोटि में न रखकर आनुषंगिक और प्रासंगिक विचारकों मे रख सकते हैं।

किन्तु अस्तित्ववाद की सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि के विवेचन से पूर्व हमें अस्तित्ववाद की कुछ मूलभूत विशेषताओं को रेखाकित कर लेना होगा। इन विशेषताओं के आलोक मे ही हम अतीत के कारक तथ्यों को एकत्रित कर सकते हैं। चूंकि यह सारी प्रक्रिया एक विपरीत दिशा की ओर गतिमान होगी, अर्थात् कार्य से कारण की ओर चलेगी, अत. जब तक हम कार्य रूप दर्शन के वास्तविक आधारभूत तत्वों की पहचान नहीं कर लेगे तब तक हम वास्तविक कारणों या कारको से अनभिज्ञ ही रहेगे।

परन्तु यहां पुनः एक समस्या उठ खड़ी होती है। अस्तित्ववादी विचारकों मे विभिन्न मुद्दों पर इतना मतवैभिन्न्य है कि उनका सामान्यीकरण एक कठिन कार्य होगा। पुन. इन विचारकों ने इतने विपुल मात्रा में साहित्य का सृजन किया है कि उन सभी का अध्ययन भी किसी एक अध्येता के लिए संभव नहीं है। अधिकांश अस्तित्ववादी दार्शनिक अच्छे साहित्यकार भी रहे हैं, अतः इन्होंने औपन्यासिक चरित्र या नाटकीय पात्रों के माध्यम से भी अपने दर्शन को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। साहित्यिक अपेक्षाओं के कारण यहां उनके वर्णनों में अलंकारिकता और अर्थ में अस्पष्टता भी

विद्यमान है, फलत. उनके वास्तविक निहितार्थ को समझ पाना अत्यत दुरुह है। पुन , इन दार्शनिकों ने एक ही अवधारणा के लिए प्राय. भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। कभी-कभी तो कोई शब्द ऐसा अमूर्त भाव व्यक्त करता है अथवा अनेकार्थक ढंग से प्रयुक्त होता है कि उसका कोई सुस्पष्ट और सुनिश्चित अर्थ ही नहीं निकाला जा सकता। विशेषतः आस्तिक अस्तित्ववादियों ने धार्मिक अवधारणाओं को दार्शनिक सप्रत्ययों के साथ कुछ इस प्रकार व्यामिश्रित कर दिया है कि उनका कोई वस्तुपरक उत्तर हो भी नहीं सकता।

संभवत. इसका सबसे वड़ा कारण तो यह रहा है कि यह दर्शन तार्किक भाववाद की भांति किसी सुनिर्धारित आंदोलन के रूप मे विकसित नहीं हुआ है। फिर भिन्न-भिन्न दार्शनिको की दैशिक-कालिक पृष्ठभूमि भी भिन्न-भिन्न रही है। अत प्रत्येक विचारक अपने ढंग से समस्याएं उठाता है, अपने ढंग से उनसे जूझता है तथा अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। सार्त्र ने स्वयं मोटे तौर पर अस्तित्ववाद को आस्तिक और नास्तिक दो वर्गों में विभाजित कर दिया है और मुख्यतः आस्तिक वर्ग मे मार्सल और यास्पर्स तथा नास्तिक वर्ग में हाइडेगर तथा फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों का नाम लेते हैं। [60]

इसी मतवैभिन्नय को इंगित करते हुए पॉल रूबिचेक कहते हैं-"समकालीन अस्तित्ववाद का विकास कई प्रकार से हुआ है। फ्रांस में ज्यॉ पाल सार्त्र और उनके अनुयायी अनीश्वरवादी हैं। जेब्राइल मार्सल एक रोमन कैथोलिक हैं। अल्वर्ट कामू का मानवतावाद सार्त्र के मानवतावाद से बिल्कुल भिन्न है। जर्मनी में मार्टिन हाइडेगर और उनका सम्प्रदाय अनीश्वरवादी है (कम से कम व्याहारिक उद्देश्यो से वे भविष्य मे एक नये धर्म की सभावना को स्वीकार करते हैं) किन्तु हाइडेगर ने ईसाई विचारको को काफी प्रभावित किया है जैसे-रोमैने गार्डिनी को। और कार्ल जास्पर्स ईश्वरवादी हैं तथा सामान्य रूप से धार्मिक भी; हालांकि वे ईसाई नहीं हैं। इंग्लैण्ड मे हर्वर्ट फार्मर, डोनाल्ड मैक किनान, जान मैक मरे जैसे मुख्य ईसाई विचारकों ने अस्तित्ववाद पर ध्यान दिया है। मार्टिन ब्यूबर अपने दर्शन को यहूदी विचारधारा पर आधारित करते हैं, निकोलस बर्डयेव ईसाई तो हैं लेकिन सबसे स्वच्छन्द प्रकार के ईसाई हैं। यह संक्षिप्त नाम निर्देशन हालांकि किसी भी दृष्टि से सर्वाङ्पूर्ण नहीं है फिर भी यह बतलाने के लिए तो पर्याप्त है कि प्रायः अस्तित्ववाद अव्यवस्थित तो रहा है, पर इसने एक नया

मार्ग प्रशस्त किया है। [61]

एक रोचक तथ्य यह भी है कि अस्तित्ववाद के अन्तर्गत परिगठित होने वाले विचारको मे भी इस दर्शन के स्वरूप को लेकर मतैक्य नहीं है। उनमे केवल सार्त्र ने ही स्वयं को अस्तित्ववादी के रूप में स्पष्ट रूप से स्वीकृति दी है। कार्ल यास्पर्स नि सदेह अस्तित्ववादी हैं किन्तु वे अपने दर्शन को अस्तित्ववाद न कहकर अस्तित्व दर्शन (Existenz philosophy) कहना अधिक पसन्द करते हैं। तथा उसी प्रकार हाइडेगर अपने दर्शन को अस्तित्वपरक विश्लेषिकी (Existential onlology) कहने के पक्षपाती हैं। सोरेन कीर्केगार्ड, जो कि अस्तित्ववाद के प्रेरणा स्रोत है, की किसी सम्प्रदाय या परम्परा को प्रारम्भ करने की कोई इच्छा ही नहीं थी तथा गैब्रियल मार्सल ने भी अस्तित्ववादी संज्ञा को अस्वीकार कर दिया।62 सार्त्र, सीमन द वोउवा, अलवेयर कामू तथा मार्लियो पोंती को प्रायः एक संगठित समूह के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु कामू ने भी अपने को अस्तित्ववादी कहने से इनकार कर दिया तथा कामू, पोन्ती तथा सार्त्र की लम्वी तथा प्रगाढ मैत्री भी कालान्तर मे कुछ राजनीतिक प्रश्नो को लेकर टूट गयी। [63] एक प्रेमिका और पत्नी के रूप में सीमोन द वोउवार सार्त्र का निरन्तर समर्थन करती रहीं, किन्तु उनकी रचनाएँ मुख्यत दार्शनिक उपन्यासो तक सीमित रही।

इस प्रकार जीवन और चिन्तन के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावी होते हुए भी इसका कोई संगठित समूह या समन्वित स्वरूप नहीं बन सका, न ही 'वियेना सर्किल' की तरह इसका संगठित प्रयास हुआ, न ही 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' की तरह कोइ घोषणा पत्र ही प्रकाशित हुआ। ,

किन्तु अस्तित्ववादी विचारकों के चिन्तन में कुछ ऐसी गहनता और यथार्थता थी, जिसके कारण यह निरन्तर चर्चित होता गया। प्रारंभ में तो इस दर्शन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा, किन्तु जब यह दर्शन लोकप्रिय होने लगा, तो आलोचनाओं की भी बाढ हो गयी। कैथोलिक चर्च के दक्षिणपथी और साम्यवाद के वामपंथी दोनों ही खेमों में इसकी आलोचनाएँ की गयीं। कुछ लोगो ने इसे अकर्मण्यता का पोषक कहा, तो कुछ ने वैयक्तिक स्वतत्रता का भयावह समर्थक। कुछ लोगो ने आपत् स्थिति का चिन्तन कहा, तो कुछ ने चायखाने का दर्शन कहा। आलोचकों ने प्रायः इसे निराशा, कुण्ठा, भय, अभिशाप, मनस्ताप, एकाकीपन तथा वेहूदापन आदि

मानवीय जीवन के दु खद विद्रूप और अंधेरे पहलू का चित्रण करने वाला दर्शन कहा। शून्यवाद, उत्कट व्यक्तिवाद और अश्लील दर्शन आदि विभिन्न उपाधियों से इसे नवाजा गया। इन सभी नामों को अस्तित्ववादी विचारों पर चिपकाने मे लोगों का एक विशेप अभिप्राय रहा है। वे इसके या इसमे प्रकट किसी विशेप अश पर प्रकाश डालने की चेप्टा करते रहे हैं। किन्तु इस प्रकार की टिप्पणियाँ अस्तित्ववाद के स्वरूप को समझने मे अक्षम ही नहीं वाधक भी हैं। प्राय ये सज्ञाएँ अस्तित्ववाद के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण और इसके केवल कुछ आकस्मिक साहचर्यो को देखकर लगायी जाती हैं। कम्यूनिस्टों ने इसे 'विलासपरक कोरा चिन्तन' 'वुर्जूआ दर्शन' "परिकल्पनात्मक दर्शन" कह कर आलोचना की।[64]चर्च ने इस पर नियम तथा व्यवस्था के हनन का आरोप लगाया।

इसके विरोधियो ने ही इसके स्वरूप को विकृत किया हो, ऐसी वात नहीं है। इसके समर्थको ने भी इसे यादृच्छिक रूप से व्यवहृत किया है और इसे मनमाने अर्थ दे दिये हैं। सार्त्र ने स्वयं इन बातों का उल्लेख किया है "वह क्या है जिसे हम अस्तित्ववाद कहते हैं ? जो लोग इसका शब्द का उपयोग करते हैं उन्हें अगर इसका अर्थ वताने की आवश्यकता पड़े, तो उनमें से अधिकांश बेतहाशा उलझन में पड जायेंगे। चूँकि जब से यह फैशन में शुमार हो गया है, लोग प्रसन्नता से यह कहते फिरते हैं कि अमुक संगीतकार या चित्रकार 'अस्तित्ववादी' है। 'क्लॅांरेट्स' का एक स्तम्भ लेखक हस्ताक्षर के रूप मे 'अस्तित्ववादी' लिखता है। वास्तव में अव इस शब्द को वहुत सी वस्तुओ पर सरलता से लागू किया जाता है कि इसका कोई अर्थ नहीं रह गया है। इससे यह प्रतीत होगा कि अतियथार्थवाद जैसे किसी नूतन सिद्धांत के अभाव में वे सभी जो इस प्रकार के प्रवाह या आंदोलन में भाग लेने को उत्सुक रहते हैं, अब इस दर्शन की ओर बढने लगे हैं, हालाँकि इसमें उनके मतलब का कुछ भी नहीं है।" [65]

निश्चय ही, ऐसी स्थिति में अस्तित्ववाद को परिभाषित करना एक दुरूह कार्य हो गया है। मोटे तौर पर इन्हें आस्तिक और नास्तिक वर्गों में वर्गीकृत तो किया जाता ही है साथ ही इन्हें निरपेक्ष तथा सापेक्ष वर्गो में भी वर्गीकृत किया जाता है। सापेक्ष अस्तित्ववाद 'अस्तित्व सत्य है' को स्वीकार करता है, वहीं निरपेक्ष अस्तित्ववाद 'अस्तित्वमात्र ही सत्य है" को स्वीकार करता है। यह केवल अस्तित्व को ही दर्शन और

परम ज्ञान का आधार वनाने का प्रयास करता है। "इसी प्रकार यह कहीं मानववाद के विरुद्ध है, तो कहीं मानववाद के पक्ष मे। अस्तित्ववादियो की व्यक्तिगत प्रतिवद्धताएँ और अभिरूचियाँ भी इसमे समाहित हो गयी हैं। उदाहरणार्थ –ईसाई विचारको ने ईश्वर और आस्था का स्वरूप वाइविल के अनुरूप निदर्शित किया है। सार्त्र तो critique of Dilectical Method के प्रकाशन के उपरान्त मार्क्सवाद की ओर अग्रसरित हो जाते हैं, जो कभी अस्त्त्विवाद के मुख्य प्रतिपक्षी दर्शनो में परिगणित होता था। वाद मे, मार्क्सवाद से भी विरत हो जाते हैं। हाइडेगर ने प्रारंभ मे नाजीवाद का समर्थन, किया किन्तु वाद में वे भी उसके विरूद्ध हो गये। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस दर्शन को किसी सुनिश्चित वाद या सर्वसम्मत सिद्धात का रूप दे पाना कठिन है।

वास्तव मे अस्तित्ववाद स्वयं ही इस प्रकार के वाद-निर्माण या सर्वसम्मत सिद्धांत के प्रतिपादन के विरूद्ध है। वल्कि इसका आविर्भाव तो इस प्रकार के प्रयत्नो के विरुद्ध उनके प्रतिवाद मे ही हुआ हैं। यदि हम इसके इतिहास को देखे, तो स्पष्टत दृष्टिगोचर होगा कि इसमे प्रारभ से ही सम्प्रदायीकरण या सार्वभौमीकरण की कोई प्रवृत्ति नहीं रही है। व्यक्ति की वैयक्तिकता और सत्य की आत्मनिष्ठता पर वल देने के कारण सभवत. ऐसा होना स्वाभाविक भी था। वस्तुत अस्तित्ववाद को वाद की सज्ञा देना भी अनुचित है। यह तो वाद नहीं, अपितु दृष्टि है, विशेष प्रकार की मानवीय स्थितियों को देखने का सर्वथा नूतन दृष्टिकोण है। यह दृष्टि अपनी आन्तरिकता और सवेदनशील से हमे हमारे अस्तित्व के प्रति उद्वेलित ही नहीं, अपितु जागरूक भी कर देती है। यदि साहित्यिक दृष्टि से कहें तो इसमें पहली बार मन और हृदय को मिलाने का प्रयास किया था। इसमें पहली बार तर्क के ऊपर जीवन की अनुभूतियो विशेषतः सवेदनशील अनुभूतियों को स्थान दिया गया है। यह मानव को उसके एकाकीपन, भय, सत्रास, चिन्ता का बोध तो कराता ही है, साथ ही उत्तरदायित्व, प्रतिवद्धता, प्रेम, आस्था जैसी उदात्त अभिवृत्तियो की ओर भी उन्मुख करने का प्रयत्न करता है। इस संवेदनशीलता के कारण ही इस दर्शन मे एक प्रकार की आत्मीयता का वोध होता है और सभवत यही इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण भी था।

इसी आधार पर हम 'वाद' और 'दृष्टि' मे अन्तर भी कर सकते हैं। वाद तर्क और प्रमाण की अपेक्षा रखता है, जबकि दृष्टि केवल अनुभूति और उपादेयता की अपेक्षा रखती

है। इस कारण वाद यदि खण्डित हो जाय, तो वाद की सार्थकता समाप्त हो जाती है, किन्तु दृष्टि खण्डन–मण्डन से परे होती है। दृष्टि सकीर्ण या उदार उचित या अनुचित यथेष्ट या अयथेष्ट होती है। अत इसका पूर्ण निरसन सभव ही नहीं होता इसका कोई मध्यम परिहार का नियम लागू नहीं होता। यह एक प्रकार से एक 'झरोखा' खोल देती है और जब भी कोई उस झरोखे से देखे, तो उसे उसी प्रकार के दृश्य दिखलायी देंगे, जो उसकी दृश्यता के क्षेत्र में आता है। अत अस्तित्ववाद को किसी वैचारिक सर्वसम्मत मत या दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में समझने का प्रयत्न ही निरर्थक है, इसके समझने का अर्थ है–"अस्तित्ववादी दृष्टि का स्पष्टीकरण"।

सभवत· इसी विलक्षणता के कारण दर्शन के क्षेत्र में इसका प्रवेश साहित्य के माध्यम से हुआ, क्योंकि पात्रो और चरित्रों के माध्यम से इस दृष्टि का स्पष्टीकरण अधिक सरल था। यदि हम इन अस्तित्ववादियो के कृतित्वो को देखे तो पायेगे कि ये विचारक प्राय साहित्य के क्षेत्र के दिग्गज रहे हैं। कामू तथा सार्त्र को तो इस क्षेत्र मे नोवल पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। अन्य अस्तित्ववादियों की रचनाए भी दर्शनेतर क्षेत्रो मे काफी लोकप्रिय रही हैं। इन रचनाओ के पात्रो ने मानव के अन्तर्मन का गहन तथा प्रामाणिक प्रतिरूपण किया, फलत लोगो को इन साहित्यिक रचनाओ में अपनी छवि दिखलायी दी। इन साहित्यिक रचनाओं की विशिष्टता यह थी कि इसमे साहित्य पहली वार समाज का नहीं, अपितु व्यक्ति का दर्पण बना और दर्पण ही नहीं, अपितु एक निदर्शक और निर्देशक भी बन गया, जीने की एक दृष्टि दे गया। स्वभावत इन रचनाओ ने जनमानस को प्रबल रूप से प्रभावित किया और लोगो की अभिरुचि बढी। फिर लोगो ने पाया कि इन साहित्यों में एक विशिष्ट दृष्टि, एक नूतन दर्शन निहित है और धीरे–धीरे उनका रुझान मूल दार्शनिक ग्रन्थों की ओर भी बढा। इस कारण अस्तित्ववाद शीघ्र ही बीसवीं सदी के एक प्रतिष्ठित दर्शन के रूप में उभरा। विभिन्न विचारकों की रचनाओ का विभिन्न भाषाओ मे, विभिन्न देशों मे अनुवाद होने लगा तथा वीसवीं सदी के तीसरे–चौथे दशक तक अस्तित्ववाद एक नवीन दर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया।

इन विचारकों की दृष्टि वहुआयामी थी। इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन सभी का इन्होने अपने दर्शन में प्रचुर प्रयोग किया। सबसे रोचक तो यह रहा कि मध्यकाल मे दर्शन जो धर्मानुकूल बन गया था और आधुनिक काल मे धर्म से सर्वथा मुक्त हो

गया था, पुन· अस्तित्ववादी दर्शन में धर्मपरक दृष्टिगोचर होने लगा। व्यक्ति की आन्तरिकता की खोज में आस्तिक अस्तित्ववादियो ने धर्म की ओर पुन रुझान किया। जैसा कि कांट ने Critique of practical Reason में तर्कवुद्धि के वाद आस्था की ओर सक्रमण करते हुए ईश्वर, आत्मा और धर्म को पुन प्रतिष्ठित किया। उसी प्रकार आस्तिक ईश्वरवादियो ने पुन "धर्मं शरण गच्छामि" का मार्ग अपनाया। किन्तु ध्यातव्य है कि धर्म का यह पुनर्गठन एक नूतन रूप लिए हुए था। इसमे धर्म के आधारभूत तत्वो का नये ढंग से प्रयोग था। धार्मिक अनुभूतियों को नयी संवेदनशीलता प्रदान की गयी थी। मध्य काल के विपरीत इसमे धर्म को दर्शनाकूल ढालने का प्रयत्न किया गया न कि दर्शन को धर्मानुकूल। यद्यपि एक सीमा तक इन विचारकों मे उनकी व्यक्तिगत अभिवृत्तियो और धार्मिक मताग्रहो का हम व्यामिश्र पा सकते हैं, किन्तु उनमे ऐसी सार्वजनीनता है कि कोई उन्हे किसी भी धर्म मे लागू कर सकता हे, अपना सकता है।

अस्तित्ववाद की अन्य विशेषताओं का हम आगे विस्तृत विवेचन करेंगें, किन्तु पहले संक्षेप में हमें इसका अर्थ स्पष्ट कर लेना चाहिए। ध्यातव्य है कि अस्तित्व शब्द का इसमे एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग है, जहा इसका अर्थ 'सत्ता' नहीं अपितु 'अस्मिता' है 'होना' नहीं अपितु 'होने की चेतना' का होना है। इसकी खोज का बिन्दु जगत् का अस्तित्व नहीं, अपितु मानव का अस्तित्व है और यह अस्तित्व किसी तर्क से स्थापित नहीं होता, अपितु अनुभूति द्वारा स्वत· सिद्ध ढग से स्थापित होता है। यहा देकार्त की तरह 'मैं' सोचता हू, अत मैं हूं" का निगमन नहीं है अपितु हेनन की भाति "मैं हू, अत मैं सोचता हू" का निगमन है।[67] यहा गुणो से अस्तित्व का निर्धारण नहीं अपितु अस्तित्व से गुणो का निर्धारण है। स्पष्टत इसमें अस्तित्व की अवधारणा प्राथमिक हो जाती है। यदि अस्तित्व और सार की समस्या की दृष्टि से देखें तो इसमें अस्तित्व पहले आता है, सार वाद में। सार्त्र ने इसे ही अस्तित्ववाद का आधार वाक्य तथा व्यावर्तक वैशिष्ट्य माना है।[68] उनका प्रसिद्ध कथन है– अस्तित्व सार का पूर्वगामी है (Existence preceeds essence)।

इस कथन को वे आत्मनिष्ठता तथा आत्मनिर्धार्यता के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं–"उदाहरण के लिए हम किसी उत्पाद्य वस्तु को

लें, जैसे-किताव या चाकू-तो कोई भी देख सकता है कि इन्हें किसी कारीगर ने वनाया है, जिसके मन मे इनकी स्पष्ट अवधारणा थी। चाकू की अवधारणा और उत्पादन की पहले से मौजूद तकनीक, जो इस अवधारणा का एक भाग है तथा साथ ही इनके आधार का एक सूत्र है, इनके प्रति कारीगर समान रूप से ध्यान देता है। इस प्रकार, चाकू जहां एक ओर निश्चित ढग से तैयार की गयी उत्पाद्य वस्तु है, वहीं दूसरी ओर निश्चित उद्देश्य को पूरा करती है, क्योंकि कोई यह नहीं मान सकता कि एक व्यक्ति चाकू को विना यह जाने वनायेगा कि वह किसलिए वनाया गया है। तव हमें चाकू के लिए कहना चाहिए कि उसका सत्व यानी कि वे सूत्र तथा गुण, जिन्होंने उसके उत्पादन को तथा परिभाषा को सभव बनाया है। उसके अस्तित्व से पूर्व घटित होते हैं। मेरी दृष्टि में चाकू और पुस्तक की मौजूदगी पहले नियत हो चुकी है। तव यहां हम विश्व को तकनीकी दृष्टि से देख रहे हैं और हम कह सकते हैं कि उत्पादन अस्तित्व से पूर्व मौजूद होता है।

इसी प्रकार अब हम ईश्वर के बारे में स्रष्टा के रूप में सोचते हैं तो हम अधिकाशत उसे एक महानतम शिल्पकार के रूप में सोच रहे होते हैं ईश्वर के मस्तिष्क मे मनुष्य की अवधारणा शिल्पकार के मन में चाकू की धारण से तुलनीय है। ईश्वर मानव का निर्माण एक कार्य प्रणाली और धारणा के अनुसार करता है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक शिल्पकार चाकू का निर्माण एक परिभाषा और सूत्र के अनुसार करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की सृष्टि ईश्वर की धारणा के अनुरूप होती है।

किन्तु नास्तिक अस्तित्ववाद, जिसका मैं एक प्रतिनिधि हू, पूर्ण संगति के साथ घोषणा करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो भी एक सत्ता ऐसी है, जिसका अस्तित्व सत्व से पहले आता है और जो अपनी किसी भी धारणा द्वारा समझाये जाने से पूर्व ही मौजूद है। वह है मनुष्य या जैसा कि हाइडेगर ने कहा है-'मनुष्य होने की यथार्थता।'

अत अस्तित्व सत्व के पूर्व आता है- इसका हम अर्थ लेते हैं कि सबसे पहले मनुष्य का अस्तित्व है फिर वह स्वयं अपने से संघर्ष करता है और विश्व मे अपनी जगह तलाशता है, तत्पश्चात वह अपने को परिभाषित करता है। अस्तित्ववादी के अनुसार यदि मनुष्य परिभाष्य नहीं है तो इसका कारण यह है कि आरंभ में वह कुछ भी नहीं

था। वाद मे वह कुछ नहीं होगा और वह वही वनेगा जैसा वह अपने को दनाना चाहेगा।
इसलिए मानव प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं हे क्योकि इसकी धारणा वनाने के लिए
कोई ईश्वर नहीं है। सीधी वात यह है कि मनुष्य है। वह अपने वारे में जेसा सोचता
है, वैसा नहीं होता अपितु वैसा वह होता हे जेसा वह सकल्प करता हे। मनुष्य इसके
अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जैसा खुद को वनाता है कि वह स्वय का निर्माण करता
है। यही अस्तित्ववाद का पहला सिद्धान्त है।[69]

अगर इसे प्लेटो की पूर्वसारवादी अवधारणा के आलोक में समझना हो, जिसमें
हमे सार (Essence) और अस्तित्व (Existence) के बीच भेद प्रस्तुत करना हो, तब
संभवत· अस्तित्ववाद का अर्थ समझना आसान हो जाता है। सार वस्तुओ के यथार्थ रूप,
मानव में मानवपन घोडे के घोड़ेपन की ओर संकेत करता है। इस पर अमूर्तरूप से
विचार किया जा सकता है। अस्तित्ववाद मानव की मानवता नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्ति
X 'जान' है, जिसे मैं जानता हूँ या यह विशेप घोडा है, जिसका मैं स्वामी हू ओर
जिसे मैं प्यार करता हूं। अव अस्तित्ववादियों का दावा है कि समस्त पूर्ववर्ती दर्शन का अत्यधि
ाक संवंध तत्वों, प्रत्ययों और सम्प्रत्ययों के साथ था, अत यह अत्यधिक अमूर्त वन
गया। वे इसलिए अस्तित्व से आरंभ करना और उसे बनाये रखना चाहते हैं कि यथार्थ
वस्तुए अक्षुण्ण रहें, उसी रूप मे अक्षुण रहें, जिस रूप मे वे हमारी वैयक्तिक अनुभूति
मे आती हैं।[70]

अस्तित्ववाद का यह तात्विक उद्घोष व्यावहारिक रूप में मानव स्वातत्र्य मे
प्रतिफलित होता है। यास्पर्स ने तो मानव अस्तित्व और मानव स्वातंत्र्य को पर्यायवाची
पद माना है।[71] उनके अनुसार स्वतंत्रता अस्तित्व का भाव ही है। हम मनुष्य की
स्वतंत्रता को ही उसका अस्तित्व कहते हैं।[72]

सार्त्र ने तो यहां तक कहा है-कि "मनुष्य स्वतंत्र होने को अभिशप्त है" "वह
एक फेंकी हुई स्वतंत्रता है।" अस्तित्ववाद के स्वरूप के एक सामान्य स्पष्टीकरण के
उपरान्त हम सरलतया इसके आधारभूत लक्षणों और तत्सम्बद्ध आनुषगिक वैशिष्ट्यों तक
पहुंच सकते है और उनकी एक रूपरेखा खींच सकते हैं, किन्तु हम अस्तित्ववाद के
भावात्मक बिन्दुओं को तव तक नहीं खोज सकते हैं, जव तक हम उसकी पृष्ठभूमि को,
उसके प्रतिवाद को, उसकी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति को न देख लें अर्थात हमें निषेध से स्वीकार

की ओर, अभाव से भाव की ओर वढना होगा। चूंकि अस्तित्ववाद सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी दर्शनों मे से है, अत इसकी पृष्ठभूमि की ओर हमे फिर झांकना होगा, इसकी प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करना होगा। यहां हमें गेस्टाल्ट मनोविज्ञान, जो मुख्यत वर्दाइमर द्वारा प्रतिपादित किया गया, ध्यान आ जाता है। इसके अनुसार किसी सवेदना को हम पृथक-पृथक और एकाकी रूप में नहीं, अपितु समग्र रूप मे अनुभूत करते हैं और प्रत्येक सवेदना की एक पृष्ठभूमि या सन्दर्भ होता है, हम इस सदर्भ के विना उसके ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हम वस्तु के अर्थ को मानसिक आरोपण से नहीं, अपितु वस्तु और उसके संदर्भ के माध्यम से प्राप्त करते हैं। स्पष्टत· यहा पृष्ठभूमि सदेव एक अनिवार्य तथ्य के रूप में विद्यमान दिखती है।

यहां गेस्टाल्टवादी विचारधारा का उल्लेख इसलिए भी अनिवार्य है कि इसका अस्तित्ववादी मनोविज्ञान से गहरा संवंध है, यह फेनोमेनोलॉजी से भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है तथा सार्त्र के अनुयायी मार्लियों पांती ने तो इसका गहन विवेचन और समर्थन किया है।[73]

तो हम सर्वप्रथम अन्य दार्शनिक वादों से इसका पार्थक्य देख लें। अस्तित्ववाद का पार्थक्य मूलत इसकी दृष्टि मे हैं, वाद में नहीं, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। अस्तित्ववाद की सबसे बडी विशिष्टता यह है कि यह एक संकट अथवा त्रासद स्थिति में उपजा दर्शन है। अन्य दर्शनों में जहां प्रारंभ बिन्दु 'जिज्ञासा' होती है (जैसा कि Philosophy शब्द का अर्थ भी है-ज्ञान का प्रेम) वहीं अस्तित्ववाद का प्रारभ बिन्दु 'चिन्ता' है। अस्तित्ववाद में सर्वत्र मानव जीवन की त्रासद स्थितियों-भय, एकाकीपन, चिन्ता, परिताप, पतन-आदि का जीवन्त चित्रण मिलता है। कीर्केगार्ड ने तो कहा है कि "मनुष्य एक कम्पन (Trambling) है, वह सदैव भय में जीता है। सार्त्र ने कहा है-"मनुष्य एक निरर्थक वासना है।"[74] इसी प्रकार पास्कल, कीर्केगार्ड से लेकर 'हाइडेगर' कामू तक यह एक सामान्य प्रवृत्ति दिखलायी देती है।

पुन· अन्य दर्शनों ने जहां तर्क को प्रधानता दी गयी है वहीं अस्तित्वाद मे भावनाओं और अनुभूतियों को प्रधानता दी गयी है। यही कारण है कि इसमें सर्वत्र एक आत्मपरकता तथा आत्मनिष्ठता दृष्टिगोचर होती है। अत· हम इसमे वस्तुनिष्ठता की बजाय व्यक्तिनिष्ठता पर अधिक बल पाते हैं। यह मनुष्य को एक सामान्य सत्ता के

रूप में नहीं, किसी अमूर्त सार के रूप में नहीं, अपितु व्यक्ति के रूप में देखना चाहता है। इसका मानना है-दर्शन का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने जीवन ओर अनुभूति के साथ, उस ऐतिहासिक स्थिति के साथ होना चाहिए, जिसमें वह अपने को पाता है। और इसे अमूर्त चिन्तन में रूचि नहीं रखनी चाहिए। यह एक ऐसा दर्शन होना चाहिए, जिसमे जीवित रहने की क्षमता हो। अस्तित्व शव्द मे इन सारी वातों का सार है। अस्तित्ववादी दार्शनिक इस वात पर वल देते हैं कि जिसे मैं वास्तविक रूप से जानता हू, वह अपने उसी रूप मे वाह्य जगत में नहीं है, वह मेरी अपनी अनुभूति है, उसके लिए व्यक्ति यथार्थ है।[75]

अस्तित्ववाद का वल समस्याओं का क्रियात्मक समाधान ढूंढने मे है जवकि अन्य दर्शन प्राय· प्रश्नो का तर्क संगत उत्तर ढूंढने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि वे समस्याओं को मिथ्यापित अथवा जान वूझकर उपेक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं, जबकि अस्तित्ववादी मनुष्य को उसकी समस्याओ के समक्ष सीधा खड़ा कर देने का उसके अस्तित्वगत प्रश्नों का बोध करा देने का प्रयास करते हैं। वे मानते हैं कि मानव वैशिष्ट्य का अन्तर्भाव किसी सामान्य सूत्र में नहीं किया जा सकता। सिद्धान्तो के माध्यम से मानवीय समस्याओं को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है। मानवीय अस्तित्व की समस्याएँ सैद्धान्तिक समस्याएँ नहीं है। मानवीय अस्तित्व के प्रश्नो का कोई वस्तुनिष्ठ, सार्वमौम और निश्चित उत्तर नहीं हो सकता, इसका कारण यह नही है कि मनुष्य के संवंध में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है, अपितु इसलिए कि मनुष्य निरन्तर अपनी सत्ता में एक प्रश्न वना रहता है।[76]

अन्य दार्शनिक वाद प्रायः प्रत्ययों अथवा प्रकृति के विचार में निमग्न रहते हैं। वे आन्तरिक अस्तित्व की बजाय बाह्य सत्ता के रहस्यों की खोज में डूबे रहते है और उनकी यह खोज भी ऐसी है कि ज्ञाता सदैव ज्ञेय से ज्ञानात्मक संबंध ही बनाये रखता है। वह डूबता भी नहीं, केवल डूबने का दिखावा करता है। इसी कारण अस्तित्ववादी प्रकृतिवाद तथा प्रत्ययवाद दोनो का विरोध करते हैं। उनके अनुसार प्रत्ययवाद जहाँ मानवीय अस्तित्व की समस्याओं को मिथ्यापित कर देता है, वहीं प्रकृतिवाद उसे विकृत कर देता है। प्रत्ययवाद वास्तविक जीवन को, व्यावहारिक जगत को, सामान्य अनुभूतियो

को निषिद्ध कर जहाँ जीवन की उपेक्षा करता है। वहीं प्राकृतिक वस्तुओं की भाँति अथवा पत्थर, मेज, परमाणु की भाँति उन्हीं कोटि में रखकर मानव जीवन के वैशिष्ट्य की उपेक्षा करता है दोनो ही दर्शन जीवन से, अस्तित्व की समस्याओं से कटे दिखाई पडते हैं। इसी कारण मारिस मार्लियो पाती कहते है– "मनुष्य और जगत् का संवध एक विषय और दूसरे विषय का संवध नहीं है (प्रकृतिवाद) और न ही यह विषय और विषयी का संबध है, जिनमें विषय विषयी की रचना है (प्रत्ययवाद)। वह संवंध उस सत्ता का सबंध है, जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत् है तथा अपनी परिस्थिति है।[77]

इन वैशिष्ट्यो के आलोक में हम देख सकते है कि इस दर्शन का किन–किन मुद्दों पर प्रतिवाद है। वस्तुत अस्तित्ववाद का प्रतिवाद केवल परम्परागत दर्शन पद्धति से ही नहीं है, अपितु आधुनिक जीवन शैली से भी है। वह आधुनिक युग की परिस्थितियो से आतकित है, आधुनिक मनुष्य के प्रति चिंतित है। और यहाँ हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी दृष्टि भिन्न–भिन्न स्तरों पर इन परिस्थितियो और प्रणालियो के विरूद्ध उनके प्रतिवाद के ही रूप मे सर्जित होती है। हम देखेंगे कि अस्तित्ववादी दृष्टि के सँवरने में इन प्रतिवादों का ही मूल योगदान है–

(1) सर्वप्रथम, अस्तित्ववाद एक प्रतिवाद है दर्शन के अतिबौद्धिकीकरण के विरूद्ध। हीगल एवं उनके उपरान्त बुद्धिवाद की चरम विचारधारा ने परम ज्ञेयवाद (Absolute cognitivism) का उद्घोष किया, बुद्धि ज्ञान ही नहीं तत्व की भी निर्धारक वन गयी, ज्ञान मीमांसीय प्रत्यय तत्व भीमांसीय पदार्थ भी वन गये। सुकरात का कथन–'ज्ञान ही सद्गुण है–यहाँ ज्ञान ही सद्वस्तु है' में परिणत हो गया। कांट का भिन्न सदर्भो मे कहा गया कथन बुद्धि प्रकृति का निमार्ण करती है, इसमें आधारभूत कथन वन गया। हीगेल का उद्धोष था– "सत्ता बोध है, वोध ही सत्ता है" (Real is Rational and Rational is Real) उनके दर्शन में बुद्धि मानव प्रकृति से बाहर जाकर वाह्य प्रकृति का आधारभूत तत्व बन गयी। ऐसे में वह मानव की सीमाओं, मानवीय मस्तिष्क की सीमाओं का अतिक्रमण कर निःसीम को जानने का दम्भ भरने लगी। बुद्धिवाद की यह चरम पराकाष्ठा थी, तर्क का यह एक पक्षीय निर्णय था, ज्ञान का निरपेक्ष मूल्यांकन और महिमामंडन था।

दर्शन जगत् में इसकी विभिन्न रूपों में प्रतिक्रिया हुई, विभिन्न दार्शनिकों ने

भिन्न-भिन्न आधारों पर प्रतिवाद किये तथा अर्थक्रियावाद अस्तित्ववाद, प्राणवाद, मार्क्सवाद, रहस्यवाद आदि वैचारिक सम्प्रदायो का उद्भव हुआ। सभवत यह हीगेल के दर्शन की ही तार्किक और स्वाभाविक परिणति थी। पक्ष, प्रतिपक्ष और सपक्ष का त्रिक उनके दर्शन पर भी लागू हुआ और हम कह सकते हैं कि हीगेल के निरपेक्ष बुद्धिवाद ने अपनी आत्महत्या के वीज स्वयं वोये।

इनमे अस्तित्ववाद का प्रतिवाद सर्वाधिक प्रखर और प्रभावी रहा। हीगेल के समकालीन कीर्केगार्ड ने प्रारंभ से ही विरोधी स्वर मुखरित कर दिया, किन्तु तव हीगेल के जय-जयघोष में उनकी आवाज अनसुनी रह गयी। कीर्केगार्ड ने बुद्धि की सीमाओ का, अनुपयुक्तताओं का, उसकी अपर्याप्तताओं का स्पष्ट निदर्शन किया, जिसमें मुख्यत उन्होने 'ज्ञान' और 'अनुभूति' के भेद को आधार वनाया। उन्होंने स्पष्ट कहा-''बुद्धि सत्य को कभी नहीं जान सकती। सत्य आत्मनिष्ठता है और मैं सत्य को तव तक नहीं जान सकता,जव तक वह मुझमें जीवन्त न हो जाय''[78]

प्रतिप्रज्ञावादी यह प्रवृत्ति, अस्तित्ववाद में प्रायः आरभ से अंत तक दिखती है, किन्तु परवर्ती काल में इसका विरोध मन्द पडता जाता है। बुद्धि का जैसा विरोध पास्कल,कीर्केगार्ड, मार्सल, यास्पर्स ने किया है; वैसा हाइडेगर, कामू , सार्त्र ,मार्लियो पोती मे दृष्टिगोचर नहीं होता। वहाँ वल व्यक्ति, वैयक्तिकता और स्वतत्रता पर अधिक हो जाता है। परवर्ती काल में विद्रोह वहुआयामी स्वरूप धारण कर लेता है और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्थितियों के विरूद्ध यह दर्शन आकार लेने लगा। साहित्य और मनोविज्ञान ने इसके आयाम को और अधिक व्यापक वनाया।

(2) पुन॰, अस्तित्ववाद मानव की उपेक्षा के विरूद्ध भी प्रवल प्रतिवाद के रूप में सामने आता है। मानव की उपेक्षा का तात्पर्य यहाँ मानवीयता की उपेक्षा, मानवीय गुणो की उपेक्षा से है। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। मानव ने जितना विकास विज्ञान का किया है विज्ञान ने भी उतना ही विकास मानव का किया है, मानव चेतना ने वैज्ञानिक क्रान्ति लायी और विज्ञान ने मानव जीवन मे क्रान्ति ला दी। किन्तु इसका एक दूसरा भी पहलू था, वह था वैज्ञानिकता द्वारा मानवीयता का हनन। विज्ञान की प्रविधि वस्तुनिष्ठता और प्रयोगसिद्धता की प्रविधि है और वैज्ञानिक अध्ययन ने मानव को भी वस्तुरूप में परिणत कर दिया। मानव भी भौतिक परमाणुओं और जैविक रसायनो

का संघात मान लिया गया। रही सही कसर 'मनोविज्ञान' ने निकाल दी। मानव का शरीर ही नहीं उसके विचार और भाव भी वस्तुनिष्ठ मान लिये गये, मानव का मानसिक धरातल पर भी सामान्यीकरण कर दिया गया। विज्ञान ने जव टेक्नोलॉजी का रूप धारण किया तो यत्रो का वाहुल्य सा आ गया। यन्त्रो ने मानवीय कार्यों को अधिक कुशलता और तत्परता से सभाल लिया। विज्ञान की सभावनाओं ने तकनीकी सपदा से मानव को समृद्ध वना दिया।

किन्तु शायद इसमें कोई चूक थी या वैज्ञानिकता की अति का प्रभाव था। एक दृष्टि से यह भी बुद्धिवाद का ही प्रयोगात्मक और व्यावहारिक चरम रूप था। अत दोनों के परिणाम भी प्राय वैसे ही रहे। दार्शनिक विज्ञानवाद (Idealism) ने मानव का अमूर्त्तीकरण कर दिया, प्रायोगिक विज्ञानवाद (scientism) ने मानव का पदार्थीकरण कर दिया। मानव भी प्राकृतिक संसाधनों की भॉति ससाधन मान लिया गया। सभवत विज्ञान ने यन्त्रो का उतना मानवीकरण नहीं किया, जितना उसने मानवों का यन्त्रीकरण कर दिया। जीवन की यह यान्त्रिकता क्रमश· भावनाओं और सवेगो की यात्रिकता वन गयी। फिर मानवीय सवध भी यांत्रिक वनते चले गये। प्रेम, मैत्री, वात्सल्य, स्नेह सव जीवन से बाह्य और बाह्यारोपित हो गये। वैज्ञानिक संसाधनो ने प्राकृतिक ससाधनो को आर्थिक ससाधन बना दिया और तज्जन्य समृद्धि ने विश्व को परिवार की बजाय वाजार वना दिया, आर्थिक उदारीकरण की ऑधी ने मानसिक उदारीकरण को विस्मृत कर दिया। संसाधनो का तो वैश्वीकरण हुआ, किन्तु सवेगो का वैश्वीकरण नहीं हो पाया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और "आ नो भद्रा· क्रतवो यन्तु विश्वत" केवल सैद्धांतिक उद्घोष बनकर पुस्तकों की शोभा बढाने लगे। आर्थिक निजीकरण के प्रवाह मे वैयक्तिक निजता खो गयी।

अस्तित्ववाद इन सभी के विरूद्ध एक प्रबल प्रतिवाद प्रस्तुत करता है। बुद्धि की सीमाओं के साथ विज्ञान की सीमाएँ भी निदर्शित करता है, मानव को विज्ञान की हानियों के प्रति सचेत करता है, मानव को पुनः मानवीयता के प्रति जागरूक करता है, दर्शन में व्यक्तिगत संबंधों और मानव-जगत् संबेधों की विवेचना का सूत्रपात करता है। भिन्न-भिन्न अस्तित्तवादी विचारको ने इन संबंधों का विवेचन भिन्न- भिन्न रूपो मे किया है। मार्सल तथा मार्टिन व्यूवर ने तो इन संवंधों में गहरी आत्मीयता दिखाने का

प्रयास किया है। दोनों में मैं वह संवंध' की जगह 'मै-तू संवंध' विकसित करने पर वल देते हैं। यह और वात है कि इसमें संवंधों की विरूपता का भी तथ्यात्मक चित्रण विद्यमान है। सार्त्र ने जव कहा-"दूसरा व्यक्ति नरक है" तो यह सवधो की अस्तित्वगत तथ्यात्मकता ही थी।

यह कोई आश्चर्य जनक नहीं था कि अस्तित्ववाद अन्तत मानववाद का एक रूप वना। यद्यपि उसका मानववाद पूर्ववर्ती मानववादो से भिन्न था, किन्तु यह भिन्नता मानवीय स्वरूप और संभावनाओं को लेकर थी। अस्तित्ववाद का मानव असीम सभावनाओ वाला, पूर्ण स्वातंत्र्यवाला, जगत् के सघर्षो से जूझता हुआ मानव था। कोई अति आदर्शवादी सर्वगुणसंपन्न प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ जीव नहीं।

(३) अस्तित्ववाद व्यक्तित्व की उपेक्षा के विरूद्ध भी एक प्रतिवाद है। यह मानवीय व्यक्तित्व के सामान्यीकरण, समष्टीकरण के विरूद्ध है। इसी कारण यह मनोवैज्ञानिकों, वैज्ञानिको और समाजशास्त्रियों के मानव विषयक अवधारणाओं का ही निपेध नहीं करता अपितु परम्परागत और अन्य मानवतावादियो, जैसे काम्टे मार्क्स आदि की भी आलोचना करता है। अस्तित्ववाद व्यक्ति को उसके संपूर्ण वैशिष्ट्य के साथ उसकी सपूर्ण निजता के साथ ग्रहण करने की दृष्टि है। यह मानव को एक समूह के रूप मे या समाज के रूप में देखने का पक्षपाती नहीं है। आगस्ट काम्टे ने मानव को एक समूह के रूप मे निदर्शित कर उसे समाज के द्वारा निर्धारित मान लिया। वैज्ञानिक अध्ययन के समर्थन में उसने वैयक्तिक अध्ययन की उपेक्षा कर दी। मार्क्स ने भी मानव को एक समाज के रूप में देखा तथा उसे भौतिक संसाधनों, आर्थिक तत्वों द्वारा निर्धारित मान लिया। व्यक्ति आधारभूत रूप से भौतिक पदार्थ तथा उसके संवंध, भौतिक-आर्थिक सवध हो गये। अर्थ जीवन का केन्द्र बन गया, किन्तु जीवन का अर्थ खो गया। समानता के आरोपण में उसने वैयक्तिक गुणों और स्वतंत्रता की हत्या कर दी। उसी कारण मार्क्स और काम्टे दोनों की सार्त्र, कामू आदि ने आलोचना की। सार्त्र कहते है कि "मानव अपनी स्वतंत्र धारा में चलता है, आगस्ट काम्टे द्वारा निर्धारित प्रणाली के आधार पर नहीं। हमें ऐसा विश्वास करने का कोई अधिकार नहीं है कि मानवता ऐसी चीज है, जिसको आगस्ट काम्टे की तरह पंथ के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। मानवता का पथ काम्टेवादी मानववाद मे खत्म हो जाता है, जो अपने आप में बन्द है और यह भी कहना होगा

कि यह फासीवाद का ही दूसरा रूप है। हम इस प्रकार का मानववाद नहीं चाहते।"[79] कामू ने मार्क्सवाद की राज्यचालित आतंकवाद, अवैज्ञानिक, विरोधाभासी तथा वन्द ऐतिहासिकतावादी विचारधारा कहकर आलोचना की है।[80]

(4) अस्तित्ववाद मानव की आन्तरिकता की उपेक्षा के विरूद्ध भी प्रतिवाद है। अस्तित्ववाद की दृष्टि मानव से व्यक्ति की ओर तथा व्यक्ति से वैयक्तिकता की ओर हैं। वह सत्य को व्यक्ति की आंतिरिकता मे खोजने का प्रयास करता है, अस्तित्व का वोध स्वानुभूति मे पाने की चेष्टा करता है। यह वाह्य निरीक्षण- परीक्षण के व्यवहारवादी दृष्टिकोण अथवा तटस्थ चिन्तन के देकार्तीय दृष्टिकोण का विरोधी है। आधुनिक काल के अधिकाश विज्ञान वाह्य तथ्यों का ही अध्ययन करते हैं। वे मानव की क्रियाओं, प्रक्रियाओ को देखकर उसकी माप-तौल कर प्रयोगशालाओ मे उनकी सवेदनाओ प्रतिवर्ती क्रियाओ का यान्त्रिक प्रक्षेपण कर मानव को समझने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इस प्रकार के सभी प्रयत्न उसे उसकी विशिष्टता मे समझने मे असमर्थ है। प्राय· सभी अस्तित्ववादियों ने इस आन्तरिकता पर वल दिया है। पास्कल ने सत्य को हृदय की गहराइयों में ढूँढने का मार्ग वताया। कीर्केगार्ड ने तो स्पष्ट कहा ही है कि "सत्य आत्मनिष्ठता है"। इस प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन मे मानव केन्द्रिकता, व्यक्तिकेन्द्रिकता तथा आत्मकेन्द्रिकता विद्यमान है। जिस प्रकार रूसो का नारा था- "प्रकृति की ओर लौटो" तथा हुसर्ल का नारा था-'वस्तुओं की ओर लौटो , उसी प्रकार अस्तित्ववाद का भी नारा है-" स्वयं की ओर लौटो"।

ऐसी स्थिति मे इस पर व्यक्तिवादी होने का या निरपेक्ष व्यक्तिवादी होने का आरोप लग सकता है, किन्तु अस्तित्दवाद के संदर्भ मे ऐसी उक्ति एक पक्षीय है। यद्यपि अस्तित्ववाद व्यक्तिनिष्ठता पर बल देता है किन्तु वह व्यक्तिवाद नहीं है क्योकि व्यक्तिवाद व्यक्ति को विश्व का मानदण्ड बना देता है, जबकि आस्तित्ववाद व्यक्ति को उस व्यक्ति का ही मानदण्ड वनाता है। यह व्यक्तित्व पर विश्व को प्रतिष्ठित नहीं करता अपितु विश्व में व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करता है। यह वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन करता है। किन्तु इसकी व्यक्तिनिष्ठता न तो मिल, स्पेंसर आदि का व्यक्तिवाद है और न वर्कले का आत्मनिष्ठतावाद।

यास्पर्स ने तो एक दृष्टि से मनुष्य को स्पष्टतः वस्तुपरक अस्तित्व भी माना है

किन्तु उसकी वस्तुपरकता न तो वस्तुओं से निर्धारित होती है और न वस्तुओं का जोडमात्र सिद्ध होती है। वे स्वीकार करते हैं कि वस्तुपरक होने के कारण ही मनुष्य एक वस्तु के रूप मे भी अध्ययन का विपय वन सकता है। शरीर विज्ञान मनुष्य का अध्ययन शरीर के रूप में करता है। समाज शास्त्र असका अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में करता है। मनोविश्लेपण विज्ञान मनुष्य के मन का, उसकी चेतना ही नहीं अपितु अचेतन का भी वस्तुनिष्ठ अध्ययन करता है। मार्क्सवाद मनुष्य को श्रम से उत्पादन करने वाले तथा अर्थ से निर्धारित होने वाले प्राणी के रूप में चित्रित करता है। अर्थात् सभी किसी न किसी रूप मे मनुष्य का वस्तुपरक अध्ययन करते हैं और एक सीमा तक सभी सही भी है। किन्तु यह भी घ्यातव्य है कि मनुष्य ज्ञेय वस्तुगत सत्तामात्र नहीं है। मनुष्य अपने को जितना वस्तुपरक ढंग से जानता है, वह उससे अधिक है।[81]

अत मनुष्य के एक सीमा तक वस्तुपरक होने पर भी, उसके अस्तित्व को वस्तुपरक कदापि नहीं वनाया जा सकता । उसे वस्तुपरक वनाने का प्रयास उसे समाप्त ही कर देगा। यह तार्किक भाषा मे परिभाषित नहीं हो सकता। यह वस्तुपरक कदापि नहीं हो सकता। [82]

वे यहॉ तक कहते हैं-वस्तुपरकता का रोग अस्तित्व का विनाश है। [83]

(5) अस्तिवाद नियतत्ववाद और अनुत्तरदायित्व के विरूद्ध भी एक घोषणा पत्र है। यह किसी भी प्रकार के नियतत्ववादी दृष्टि कोण, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य, का निषेध करता है। वह सामाजिक नियतत्ववाद (काम्टे) आर्थिक नियतत्ववाद (मार्क्स) जैविक नियतत्ववाद (मेंडल और जेनेटिक्स) मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद (फ्रायड) पर्यावरणीय नियतत्ववाद (डार्विन, सैम्पुल, हंटिंगटन) के विरूद्ध प्रबल प्रतिवाद प्रस्तुत करते हुए उन्हे मानवीय स्वतंत्रता का शत्रु बताता है। सार्त्र का तो इस विषय में प्रसिद्ध कथन ही है "अस्तित्व भाव का पूर्वगामी है।"[84] वे कहते है मनुष्य जो है वह नहीं है, जो वह नहीं है, वह है। वह एक खुली संभावना है। कामू मार्क्स के ऐतिहासिक नियत्ववाद की वन्द मार्ग कहकर आलोचना करते हैं जबकि अस्तित्ववाद एक खुला मार्ग है।

मानव अस्तित्व की यही अनिवार्यता उसकी पूर्ण स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करती है और यह स्वतंत्रता अंततः उसे उसके समस्त अस्तित्व के लिए उत्तरदायी बना देता है। हाइडेगर इसी उत्तरायित्वपूर्ण जीवन को "प्रामापणिक अस्तित्व" की संज्ञा देते है।

कामू The Rebel मे विद्रोह को स्वर देते हुए नियतत्ववाद को आत्महत्या की सज्ञा देते हैं । इस प्रकार अस्तित्ववाद मे नियतत्ववाद आत्म नियतत्ववाद का रूप ले लेता है, यह यदृच्छावाद उत्तरदायित्व वन जाता है, स्वतन्त्रता अस्तित्व का स्वरूप वन जाती है। अस्तित्ववाद का कहना है कि मानव अस्तित्व के संवंध में कोई पूर्णतया निश्चित उत्तर, गणितीय उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसी कारण वह कहता है कि मानव अस्तित्व की अनेकार्थता का अर्थ उसकी विविध आयामो मे व्याप्त निसीम सम्भावना है। इसी कारण सार्त्र मनुष्य को 'अवस्तुता' की सज्ञा देते हैं, जिसका तात्पर्य है मनुष्य स्वय अपने जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है। अस्तित्व अपरिभाष्य है, क्योंकि मानव स्वय उसे परिभाषित करता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद के प्रतिवादो मे ही इसकी पृष्ठभूमि में ही उसका भावात्मक स्वरूप भी उभरता है। इस स्वरूप को हम 'अस्तित्व' शब्द के अर्थ से भी सरलतया समझ सकते हैं। हम जानते हैं कि किसी शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं- प्रथम व्युत्पत्ति जन्य (जो शब्द का मूल अर्थ होता है) द्वितीय, प्रवृत्ति जन्य (जिस अर्थ में व्यवहार मे उस शब्द का प्रयोग होता है)

इन दोनो अर्थों में प्राय· ही भेद उत्पन्न हो जाया करता है और सामान्यतया प्रवृत्तिजन्य अर्थ को ही यथार्थ मान लिया जाता है, किन्तु अस्तित्ववाद में अस्तित्व शब्द को प्रवृत्तिजन्य सामान्य अर्थ में नहीं लिया गया है। सामान्य अर्थ मे अस्तित्व का अर्थ है- देशकाल मे विद्यमान सत्ता। इस प्रकार 'विद्यमान होना' ही अस्तित्व का अर्थ हो जाता है और जगत की कोई भी वस्तु अस्तित्व से बाहर नहीं हो पाती। यह एक प्रकार का प्रकृतिवाद ही है।

किन्तु अस्तित्ववाद में Exist शब्द के मूल अर्थ पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, जिसका अर्थ है- आविर्भाव या उद्गमन या उठ खड़ा होना। यहां अस्तित्व शब्द सामान्य अर्थ की भांति स्थैतिक नहीं, अपितु गत्यात्मक है, वह जड़ नहीं अपितु सचेतन है, संकल्प युक्त चेतना है। जो 'है' उसे 'होने' की चेतना है। वह अपनी अस्मिता की अनुभूति के साथ जगत में खड़ा होता है। अत अस्तित्व का अर्थ है अस्तित्व की अनुभूति के साथ सत्ता में होना, संकल्प स्वातंत्र्य और वरण स्वातंत्र्य के साथ जगत मे विद्यमान होना और इस अर्थ में केवल मानव ही विद्यमान है। अत केवल वहीं अस्तित्ववान है। इस कारण अस्तित्ववाद मानववाद का रूप ले लेता है। इसी कारण आर0 एस0 वेक ने इसे परिभाषित करते हुए कहा भी है- "अस्तित्ववाद एक प्रकार के चिन्तन की ओर

संकेत करता है- जो प्रकृति अथवा भौतिक संसार की अपेक्षा मनुष्य के अस्तित्व और उसके विशिष्ट गुणों पर जोर देता है।"[86] राइट्स ने भी मानववाद और व्यक्तिवाद को अस्तित्ववाद का मूल तत्व माना है। उनके शब्दो में - "अस्तित्ववाद एक मनोवृत्ति और दृष्टिकोण है, जो मनुष्य के अस्तित्व को महत्व देता है। अर्थात् अस्तित्ववाद सामान्य रूप मे विश्व और प्रकृति अथवा सामान्य मानव की अपेक्षा व्यक्ति के रूप मे मनुष्य के विशिष्ट गुणो पर जोर देता है।"[87]

किन्तु यहा पुन स्पष्ट कर देना होगा कि यह अस्तित्ववाद की परिभाषा हो सकती है। (जैसा कि सार्त्र ने माना भी है- इसे सरलतया परिभाषित किया जा सकता है।[88]) न कि अस्तित्व की परिभाषा।

अपनी पुस्तक Philosophy मे यास्पर्स ने स्पष्टत लिखा है- अस्तित्व का सत् पारिभाषिक अवधारणाओं के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। पर यह शब्द केवल सत् का नामोल्लेख करते हैं।[89] कांट का उदाहरण इस अर्थ में समीचीन है कि सौ रुपये की परिभाषा का इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि उस धन का अस्तित्व है या नहीं। आधुनिक तर्कशास्त्री भी अस्तित्व को विधेय नहीं मानते।

कितु यहा एक अन्य स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि अस्तित्ववाद मे अस्तित्व को प्रायः सार या पूर्ववर्ती बतलाया जाता है किंतु वह किसी नि सारवाद का प्रतिपादक नहीं है। अस्तित्व और सार उसकी दृष्टि से भिन्न है किंतु अवियोज्य नहीं। वह केवल इसी अर्थ में अस्तित्ववादी है कि वह सार को अस्तित्व का निर्धारक नहीं अपितु अस्तित्व को सार का निर्धारक मानता है।

इस प्रकार, अस्तित्ववाद की उपर्युक्त विशेषताओं के आलोक में हम पृष्ठभूमि का सम्यक् अवलोकन कर सकते हैं। हम देख चुके हैं कि अस्तित्ववाद का इतिहास भले ही छोटा है किन्तु, इसका अतीत बहुत लम्बा है जैसा कि सींगहाउस (Ebbinghous) ने मनोविज्ञान के लिए कहा है।[90] हम यह देख चुके हैं कि जिन प्रश्नों और समस्याओ के प्रति जो चिन्तायुक्त मनःस्थिति है उसकी एक पृष्ठभूमि है और वह पृष्ठभूमि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अनेक धरातलों पर विद्यमान है। पुन. हम यह भी देख चुके हैं कि अस्तित्ववाद इतिहास को संदर्भ बनाता है किंतु ऐतिहासिकता से जूझता है। ऐतिहासिक नियतत्ववाद से जूझता है।[91]

आगे हम इन्हीं पृष्ठभूमियों का गहन विवेचन करेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष',पृ0 6

2 सार्त्र, ज्याँ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 32

3 मैरे, फिलिप, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका, पृ0 17

4 पारख, जवरीमल्ल, सार्त्र कृत 'आस्तित्ववाद और मानववाद' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृ0 5

5 मार्क्स, कार्ल और एंगेल्स, फ्रेडरिक, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' हिन्दी सस्करण, समकालीन प्रकाशन, पटना, 1999, पृ0 46

6 मैरे फिलिप, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद ओर मानववाद' की भूमिका, पृ0 21

7 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ046

8 सार्त्र, जे0पी0, 'वीइंग एण्ड नथिंगनेस', पृ0 32

9 ब्लैकहम, एच0जे0, 'सिक्स ऐक्जिस्टेशियलिस्ट थिंकर्स', पृ0 157

10 सार्त्र, जे0 पी0, 'नॉसिया', पृ0 182-83

11 1915 में फ्रीवर्ग विश्वविद्यालय में ग्रीष्मकालीन सत्रा का प्रथम भाषण

12. मिश्र, एच0एन0, और शुक्ल, पी0सी0, 'अस्तित्ववाद', पृ0 180

13 सार्त्र, जे0पी0, 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस', पृ0 500

14 वही, पृ0 501

15 जैस्पर्स, कार्ल, 'ट्रूथ एण्ड सिंबल', पृ0 16

16 कार, इ0 एच0, 'व्हाट इज हिस्ट्री', ए0 के0 विश्वास द्वारा 'हिस्ट्री ऑफ साइंस मूवमेट इन इंडिया' में उद्धृत पृ0 1

17. सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन', पृ0 408-09

18 क्रोचे, 'द थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ हिस्टोरियोग्राफी', पृ0 67

19 वही, पृ0 67-68

20 कोलिंगवुड, 'द आइडिया ऑफ नेचर', पृ0 33

21. कार, ई0 एच0, 'व्हाट इज हिस्ट्री', पृ0 1-10

22. विश्वास, ए0 के0, 'हिस्ट्री ऑफ साइंस मूवमेंट इन इंडिया', पृ0 1

23. वही, पृ0 3

24 वुड, पॉल, 'फिलोसोफी ऑफ साइस इन रिलेशन टू हिस्ट्री ऑफ साइस' पृ0 [illegible]6-[illegible]33

25 भद्र, एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 2

26 हीगेल, जी0 डब्ल्यू0 एफ0, 'फिलॉसोफी ऑफ हिस्ट्री', पृ0 30-3[illegible]

27 मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, 'सामाजिक विचारधारा', पृ0 238

28 सार्त्र, जे0पी0, 'वीइंग एण्ड नथिंगनेस', पृ0 497

29 वही, पृ0 500, 501

30 सार्त्र, जेपी, 'अस्तित्ववाद और मानववाद' पृ0 17

31 संपादक-ब्रेटाल, आर0 डब्ल्यू0 ए0, कीर्केगार्ड एंथोलॉजी-फिलॉसोफिकल फ्रैगमेट पृ0 156-57

32 स्टेस, डब्ल्यू0 टी0, 'ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसोफी' पृ0 77

33 उद्धृत, श्रीवास्तव, जे0 एस0, 'ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास', पृ0 49

34 कोप्लस्टन, एफ, 'कटेम्पोरेरी फिलॉसोफी', पृ0 226

35 ब्रेटाल, आर0 डब्ल्यू0 ए0, 'कीर्केगार्ड एथेलॉजी फिलॉसोफिकल फ्रैगमेंट' पृ0 157

36 वही, पृ0 56

37 सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक' पृ0 6

38 ब्रेटाल, आर0 डब्ल्यू0 ए0, 'ए कीकैगार्ड एंथोलॉजी-फिलॉसोफिकल फ्रैगमेंट पृ0 157

39 वही, पृ0 217

40 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 15

41 ब्रेटाल, आर0 डब्ल्यू0 ए0, 'ए कीर्केगाड एंथोलॉजी', पृ0 157

42. सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 21

43. जेलर, 'आउटलाइन ऑफ द हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसोफी', पृ0 113

44. स्टेस, डब्ल्यू0 टी, 'ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसोफी', पृ0 204

45 मसीह, याकूब, पाश्चात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या', पृ0 120

46 वही, पृ0 413

47 एड्डी, 'क्रिश्चियनिटी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 30

48 वही, पृ0 52

49 पास्कल, वी0, 'पेंसिस', पृ0 205-6

50 वही, पृ0 267

51 रूविचेक, पॉल, ' अस्तित्ववाद · पक्ष और विपक्ष', पृ0 9

52 वही, पृ0 10

53 मिश्र, एच0एन0 और शुक्ल, पी0सी0, 'अस्तित्ववाद', पृ0 37

54 ओशो, 'सत्य की खोज', पृ0 82-83

55 रूविचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 56

56 पास्कल, बी0, 'पेंसिस', पृ0 280

57 वही, पृ0 270

58 वही, पृ0 277, 275, 30, 282

59 रूविचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 10

60 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 33

61 रूबियेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 115

62 स्पेइगेलवर्ग, एच0 'फेनोमेनोलॉजिकल मूवमेंट', खंड 2 पृ0 411

63 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, 'फ्रॉम रेशनलिज्म टू ऐक्जिटेशिजयलिज्म', पृ0 246-7

64 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 31

65 वही पृ0 33

66 रूवियेक, पॉल, ' अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 110

67 वही, पृ0 9

68 सार्त्र, जे0पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 33

69 वही, पृ0 33-35

70 रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 12

71 शिल्प, पी0ए0, 'फिलॉसोफी ऑफ कार्ल जैस्पर्स', पृ0 100

72 जैस्पर्स, कार्ल, 'वे टू विज्डम', पृ0 45

73 पोन्टी, एम0एम0, 'फेनोमेनोलॉजी ऑफ परसेप्शन', पृ0 4

74. सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन', पृ0 400

75 रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 11

76 ब्लैकहम, एच0 जे0 द्वारा उद्धृत, 'सिक्स ऐक्जिशटेंशियलिस्ट थिकर्स', पृ0 157

77 सोलोमन, रॉबर्टस सी द्वारा उद्धृत, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेंशियलिज्म', पृ0 298

78 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'ट्रेनिग इन क्रिश्चियनिटी', पृ0 47

79 सार्त्र, जे0पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद',पृ0 58

80 भद्र, एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 510-11

81 जैस्पर्स, कार्ल, 'वे टू विज्डम', पृ0 63

82 वही, 'जेनेरल साइकोपैथोलॉजी', पृ0 9

83 मैंरे, फिलिप, "सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका", पृ0 22

84 वही, पृ0 33

85 भद्र, एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म' पृ0 57

86 वोक, आर0 एन0, 'हैण्डबुक इन सोशल फिलॉसोफी', पृ0 137

87 टाइट्स, एच0 एच0, 'लिविग इशूज इन फिलॉसोफी', पृ0 396

88 सार्त्र, ज्यॉ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 33

89 जैस्पर्स, कार्ल, 'फिलॉसोफी', नोट-एक, पृ0 13

90 उद्धृत, सुलेमान, मु0, 'सामान्य मनोविज्ञान', पृ0 1

91 भद्र, एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 516

अध्याय : 2

नियतत्ववाद

और

आत्मतत्ववाद

सामान्यतया हीगेल के प्रतिवाद को अस्तित्ववाद का प्रस्थान विन्दु मान लिया जाता है और इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि अस्तित्व के जनक कीर्केगार्ड ने मूलत हीगेल के निरपेक्ष वुद्धिवाद के विरोध मे ही इस दर्शन का प्रणयन किया था किन्तु कीर्केगार्ड उस समय तक चर्चित न हो सके जव तक कि वीसवीं सदी मे अस्तित्ववादियो की एक पूरी श्रृखला सामने नहीं आ गयी, अत हमे हीगेल से भिन्न अन्य विन्दुओ को भी प्रधानता देनी होगी यदि 'अस्तित्व भाव का पूर्ववर्ती है' को अस्तित्ववाद का आधार वाक्य माना जाय तो हम कह सकते हैं, कि यह दर्शन नियतत्ववाद के विरुद्ध एक उद्‌धोप है, मानवीय सत्ता के स्वातत्र्य की क्रान्ति है, उसकी स्वायत्त आत्मनिर्धारित अस्मिता की प्रवोध दृष्टि है।

अत हमे सर्वप्रथम नियतत्ववाद के परिप्रेक्ष्य में अस्तित्ववादी दर्शन की भूमिका को स्पष्ट करना होगा। मनुष्य नियतिवादी तो वहुत प्रारभ से रहा है, किन्तु नियतत्ववादी अवधारणा विशेषत आधुनिक काल मे ही प्रवल हुई। यहाँ नियतत्ववाद का तात्पर्य कार्य कारणवाद से नहीं है, अपितु मनुष्य के सकल्प स्वातंत्र्य को प्रतिहत करने वाले, उसके स्वरूप को पूर्वनिर्धारित करने वाले उन सभी वादो से है, जिन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टियों और आयामों से समानव को सुनिश्चित सीमाओ मे वॉधने का प्रयत्न किया उसकी असीम सभावनाओ को आन्तरिक अथवा वाह्य नियति से आवद्ध करने की चेप्टा की।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विकास ने वैज्ञानिक क्रान्ति के माध्यम से उसे उपलब्धियो का विराट फलक प्रस्तुत किया। मानव ने विशद ज्ञान और विपुल वेभव का अम्वार खडा कर दिया। तकनीक ने उसे वह सव तो उपलब्ध कराया ही जो उसकी कल्पना मे संभव था, उसने वह सव भी उपलव्ध कराया जो तव कल्पना से परे था। मानव का सर्वसंभाव्यता का स्पष्ट सकेत मिलने लगा। उसे लगा कि उसकी पहुॅच स्वय उसकी भुजाओं की पहुँच से आगे जा सकती है। निश्चय ही यह आशावाद का प्रवल आधार बन सकता था।

किन्तु ज्ञान-विज्ञान का एक दूसरा पहलू भी साथ-साथ चल रहा था। विभिन्य विषयों और विज्ञानों ने जब मानव के सापेक्ष उसके परिवेश का अध्ययन करना शुरू किया, तो उन्होंने पाया कि मानव के इस स्वरूप के निर्माण में अनेक भौतिक-वैचारिक कारको की निर्णायक भूमिका रही है। ये कारक केवल बाह्य ही नहीं थे, अपितु शारीरिक,

मानसिक कारको के रूप मे उसके भीतर भी विद्यमान थे। इन कारकों और प्रभावों की वैज्ञानिक व्याख्या इतनी सटीक थी कि जनमानस ने इसे शीघ्र ही स्वीकार कर लिया किन्तु यह स्वीकृति शायद भिन्न रुप मे हुई अथवा यह कहें कि स्वीकृति शायद भिन्न रूप मे हुई अथवा यह कहे कि स्वीकृति के अनेक घातक परिणाम आये। मानव ने प्राय सम्पूर्णतया उन कारको की ही निर्धारक भूमिका स्वीकार कर ली। उसे अपना अस्तित्व भौतिक रासायनिक सधातों से व्युत्पन्न तत्व समाज एवं परिवेश से विनिर्मित प्रतीत होने लगा और उसने चारों ओर नियतत्ववाद का एक सजाल बुन लिया। उसके व्यवहार और उसकी मान्यताओं मे एक पार्थक्य होता गया और अन्तत वह एक विखण्डित व्यक्तित्व का धारक प्राणी हो गया।

यद्यपि इस मान्यता से मानव पूर्णत नियतत्ववादी हुआ तो नहीं किन्तु एक बडी सीमा तक उसन स्वय को उत्तरदायित्वों से मुक्त कर लिया। प्रत्येक वस्तु और धटना की प्रकृतिवादी व्याख्या की यह परिणति होनी ही थी। यदि हम सार्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो मानव न तो 'ठोस' रह गया और न 'तरल' अपितु वह एक अवलेहवत् लिजलिजी अवस्था में पहुँच गया। निश्चय ही वे कारक प्रभावी रहे हो या न रहें हो अथवा कम ही प्रभावी रहे हो, किन्तु उनके प्रतिपादक वाद अधिक प्रभावी हो गये। वे कारक जितने निर्धारक हो सकते थे, मानव ने स्वय को उससे अधिक ही निर्धारित मान लिया।

चूँकि यह नियतत्ववाद वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर स्थापित किया गया था, उसके पक्ष में विपुल साख्यिकीय प्रमाण उपलब्ध थे अत इसके प्रतिपक्ष में प्रश्न उठाना अनुचित समझा गया। हमे इन सविचारों को, जो किसी न किसी रूप मे मानव चेतना के लिए, मानव जीवन के लिए निर्णायक भूमिका निभाने में सफल रहे हे, अस्तित्वाद की पृष्ठिभूमि के रूप में देखना आवश्यक हो जाता है। चूँकि अस्तित्ववाद का प्रभाव विभिन्न विषयक्षेत्रो मे रहा है तथा इसे विभिन्न विषयो के सिद्धान्तो और मताग्रहो से जूझना पड़ा है, अत हमे इनकी पृच्ठभूमि के परीक्षण के बिना अस्तित्ववाद के स्वरूप को भली प्रकार से समझ भी नहीं सकते।

इन सभी नियतत्ववादी विचारधाराओं का पूर्ण विवरण तथा सामान्यीकरण तो संभव नहीं है, किन्तु हम सुविधा और सरलता की दृष्टि से उन्हें निम्नलिखित रूप मे

वर्गीकृत कर सकते हैं-

(1) सामाजिक नियतत्ववाद

(2) राजनीतिक नियतत्वाद

(3) जैविक नियतत्ववाद

(4) आर्थिक नियतत्ववाद

(5) मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद

(6) पर्यावरणीय नियतत्ववाद

(7) अलौकिक नियतत्ववाद

(1) सामाजिक नियतत्ववाद -

अरस्तू का एक प्रसिद्ध कथन है- 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यदि वह समाज मे नही रहता तो वह या तो देवता है या पशु'। अरस्तू के इस कथन से शायद ही किसी को विरोध हो। किन्तु जब इस कथन को एक नियतत्ववादी रूप दे दिया जाता है, जैसा कि समाजशास्त्र के अनेक विचारको ने किया है, तो वह प्रकारान्तर से मनुष्य की अस्मिता का निषेध हो जाता है। मनुष्य का 'सार' मनुष्य के अस्तित्व से नहीं, अपितु सामाजिक अस्तित्व से निर्धारिक होने लगता हैं। उदाहरणार्थ मैकाइवर एव पेज ने कहा है- 'मनुष्य न तो अपने प्रारंभ में सत्य है और न ही अन्त मे, वल्कि वह जीवन कार्यक्रम की एक कड़ी है। वह एक सामाजशास्त्रीय और प्राणि शास्त्रीय सत्य है। समाज व्यक्तियों से बना है और व्यक्ति एक जैविक इकाई है। सम्भवत. इन्हीं कारणों से प्राचीन ग्रीक, रोमन और भारतीय विचारकों ने समाज की भी एक जैविक सावयव इकाई की परिकल्पना कर ली। यह बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि निरपेक्ष प्रत्यय वादियो ने व्यक्ति से पृथक एक प्राकृतिक चेतना अथवा वैश्विक चित सत्ता परिकल्पना कर ली। आधुनिक काल मे इस अवधारण को हर्बट स्पेसर ने बल प्रदान किया और डार्विन के विकासवादी नियमों को समाज के सदर्भ में लागू करते हुए उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि समाज एक जैविक संरचना है लेलिनफेल्ड, शैफिल, नोविको आदि ने भी कमोवेश इसी विचारधारा का समर्थन किया। स्पेसर ने उद्‌विकास पदार्थ का समन्वय तथा उससे संवंधित गति है, जिसके दौरान पदार्थ एक अनिश्चित असंवद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है। और यही नियम समाज पर भी लागू होता है

क्योंकि समाज भी एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से सुनिश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है। स्पेंसर ने समाज और जैविक सावयव में मुख्यत. आठ समानताओं का उल्लेख किया है-

(1) दोनों ही क्रमश विकसित होते हैं, इनकी आकारिक वृद्धि जड पदार्थों से सर्वथा भिन्न है।

(2) दोनों में आकारिक वृद्धि की दिशा क्रमश सरल से जटिल की ओर है अर्थात दोनो मे विकास के साथ जटिलता बढती जाती है।

(3) दोनों मे ही सरचना में विकास के साथ-साथ उसके विभिन्न अग एक दूसरे से पृथक होते जाते हैं और प्रत्येक अग का कार्य भी अलग-अलग हो जाता है अर्थात् अंगो मे विभेदी करण के साथ तदनुरूप कार्यों में भी विभेदीकरण होता जाता है।

(4) इसी अन्त सवध के आधार पर दोनों मे ही अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए एक संचार अथवा वितरण व्यवस्था होती है। जैसे शरीर में श्वसन तंत्र, रक्त परिवहन तंत्र, पाचन तंत्र है वैसे ही समाज मे उत्पादन उपभोग विनिमय वितरण तथा अन्य सचार, सूचना तत्र विद्यमान होते है।

(5) शरीर में मस्तिष्क स्नायुओं के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगो का नियन्त्रण करता है और शरीर के सभी अंग मस्तिष्क के आदेशो का पालन करते हैं। समाज मे मस्तिष्क का यह कार्य सरकार करती हैं और यातायात तथा संचार साधनों द्वारा अपने आदेशों को जनता तक पहुँचाती है।

(6) जीवित शरीर अनेक कोष्ठों से बनता है उसी प्रकार समाज का निर्माण अनेक व्यक्तियो द्वारा होता है।

(7) शरीर की किसी इकाई के समाज से पृथक् हो जाने पर जिस प्रकार शरीर समाप्त नहीं होता, उसी प्रकार समाज की किसी इकाई (व्यक्ति) के समाज से अलग हो जाने पर समाज का अस्तित्व मिट नहीं जाता।

स्पष्टत. स्पेंसर ने समाज और व्यक्ति में जो समानताएँ दिखलायी है वे एक दृष्टि से सही भी है। किन्तु वे इनकी भिन्नताओं का भी ध्यान रखते हैं। वे इसी कारण व्यक्तिवाद के समर्थक हैं, किन्तु उनके दूसरे आयाम का पर्यवसान समाजवाद में होता है। उनके इस सिद्धान्त से समाजवादियों और आदर्शवादियों को निश्चय ही बल मिला।

स्पेंसर के समर्थक लिलीनफेल्ड तो यहाँ तक कहते हैं कि शरीर के जन्म, विकास अस्वस्थता, मृत्यु, पुनर्जीवन की भाँति समाज मे भी उपर्युक्त विशेषताएँ विद्यमान होती है। यद्यपि समाज व्यक्ति का आवश्यक परिवेश है, किन्तु जब उसे व्यक्ति के अन्त और बाह्य का सम्पूर्णत निर्धारक मान लिया जाता है तो वह एक अति हो जाती है: अस्तित्ववादी जहाँ 'मैं' के भाव को प्राथमिक भाव स्वीकार करके आगे बढते है, वहीं कुछ समाजशास्त्री विचारको ने इस आत्म भाव को भी समाज द्वारा ही निर्मित मान लिया है। विलियम मैकडूगल आदि विचारको ने भी ऐसा ही विचार अपने "सामूहिक मस्तिष्क सिद्धान्त मे दिया है। सभवत इन विचारको को प्रेरणा अरस्तू और प्लेटो के सावयव सिद्धान्तो से मिली तथा इनमे प्लेटो ने Republic मे स्पष्टत सामूहिक मन को स्वीकार किया है। विलियम तथा मैकडूगल का मानना है कि व्यक्ति के मन के समान समाज का भी मन होता है। व्यक्ति अपने विषय में सोचता है, वैसे ही सामूहिक मन पूरे समाज के विषय मे सोचता है। इस सिद्धान्त के समर्थको ने व्यक्ति के मन या मस्तिष्क का सामूहिक मन से पृथक कोई अस्तित्व एव महत्व ही नहीं स्वीकार किया है।

इनकी धारणाओ को चार्ल्स कूले तथा मीड के आत्म-दर्पण सिद्धान्त से भी बल मिला। इन विचारकों के अनुसार अपने विषय में हमारी स्वयं की जो अवधारणा है, वह अन्य व्यक्तियो के बाबत अथवा समाज के माध्यम से बनती है। कूले के अनुसार व्यक्ति की 'आत्म' के प्रति धारणा इस बात पर निर्भर करती है कि उसके चारो ओर लोग उसे किस रुप मे देखते हैं अर्थात् व्यक्ति अपने को दूसरो की निगाहो से देखता है। अत दूसरे व्यक्तियों का विचार, निर्णय आदि व्यक्ति के स्वय का दर्पण बन जाता है और उसी दर्पण के आधार पर वह स्वय के स्वरुप को जानता है।

चार्ल्स कूले का निष्कर्ष है कि व्यक्ति न केवल दूसरे की निगाहो से स्वय को देखता है अपितु वह स्वयं वैसा बन भी जाता है। जार्ज हर्बर्ट मीड ने इसे और आगे बढाते हुए समाज को ही सर्वप्रधान बना दिया। वे कहते हैं कि स्वयं की अवधारणा केवल तभी बन सकती है, जब व्यक्ति स्वयं से बाहर जाये और स्वयं को वस्तु रूप मे परिणत कर ले। वे बाल्यावस्था में मैं (I) तथा 'मुझ (Me) में भेद करते है तथा कहते है कि मैं मूलत. बच्चे की स्वयं की अवधारणा है, जिसके द्वारा बच्चा स्वयं को दूसरों से अलग

समझता है तथा 'मुझ' वस्तुत उसके प्रति दूसरे द्वारा प्रदत्त अवधारणा है। व्यक्तित्व विकास की एक अवस्था में दोनो का विलय हो जाता है। मीड ने दोनों के पार्थक्य की अवस्था को Play stage तथा विलय की अवस्था को Game stage की संज्ञा दी है। प्रथम स्तर पर स्वयं ओर अभिनीत चरित्र में भेद होता है किन्तु द्वितीय स्तर पर दोनों का सम्मिश्रण हो जाता है।

स्पष्टत मीड तक आते-आते सामाजिक नियतत्ववाद की अवधारणा प्रबल हो जाती है। दुर्खीम, जो समाजशास्त्र को दर्शनशास्त्र का प्राकृतिक प्रतिविम्वन मानते हैं ने भी सामूहिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा प्रस्तुत कर सामाजिक चेतना की स्वतत्र स्थिति की मान्यता दी थी। उनके अनुसार मानव व्यवहार पर इनकी वाध्यकारी भूमिका होती है।

इसका प्रभाव मनोविज्ञान मे भी परिलक्षित हुआ। फ्रयड के शिष्य कार्ल गुस्ताव जुंग ने फ्रयड की अचेतन की स्वायत्त अवधारणा में परिवर्तन कर उसमें सामाजिक अचेतन की भूमिका का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार मानव चेतना के निर्माण मे सामूहिक भावनाएँ और वशानुगत सस्कार महत्वपूर्ण भागीदारी रखते है। मनोविज्ञान मे एरिक्सन आदि विचारको ने भी मनोसाामाजिक विश्लेपण मे सामाज को व्यक्तित्व निर्माण का महत्वपूर्ण कारक सिद्ध किया।

रोचक तथ्य तो यह है कि प्रत्ययवादी तथा समाजवादी दो परस्पर विरुद्ध धाराओ ने भी प्रकारान्तर से साामाजिक नियतत्ववाद का ही समर्थन किया। प्रत्ययवाद ने राज्य और समाज का एकीकरण कर व्यक्ति को पूर्णत राज्य अथवा समाज के अधीन कर दिया। उन्होंने राज्य की वलिवेदी पर व्यक्ति का वलिदान कर दिया। यद्यपि उनका उद्देश्य एक सुव्यवस्थित सुनियंत्रित आदर्श व्यवस्था कायम करना था, किन्तु इसका पर्यवसान घोर सर्वाधिकारवाद में हुआ। सिद्धान्त के अनुसार -व्यक्तित्व का उद्गम उन व्यक्तियो की चेतना मे है, जो राज्य के सदस्य है। परन्तु यह व्यक्तित्व अपने ही ज्ञान इच्छा तथा आकाक्षाओ से मुक्त होता है ओर यह उन व्यक्तियो की चेतनाओ को अनुप्राणित तथा निर्धारित भी करता है। यह विचारधारा अन्तत हमे राज्य में व्यक्ति के पूर्ण संविलयन पर ले आती है। व्यक्ति जितना अधिक अपनी इच्छाओं को राज्य के अधीन कर देगा, राज्य के हित के लिए काम करेगा तथा राज्य के उद्देश्यों को अपना उद्देश्य मान लेगा,

उसका जीवन उतना ही अधिक नैतिक होगा.

इसी प्रकार समाजवाद ने समाज से पृथक की अवधारणा को महत्वहीन माना है। अस्तित्ववादियो की व्यक्तियों की अवधारणा को उसने बुर्जुआ अवधारणा की संज्ञा दी है। मार्क्स ने कहा है – किसी विशेष व्यक्ति का सारतत्व,उसकी दाढ़ी, उसका खून, उसका अमूर्त भौतिक चरित्र नहीं वरन् उसकी सामाजिक कोटि है। उसके अनुसार – 'मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती वरन उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसे निर्धारित करता है।' वह मानते हैं कि मनुष्य के इतिहास को समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाएं ही अन्तिम रूप से निर्धारित करती है। मनुष्य सामाजिक विकास के नियमो को मिटा नहीं सकता या नये नियम बना नहीं सकता पर वह नियमों को, इस ऐतिहासिक अनिवार्यता को समझने की सामर्थ्य रखता है और इनका बोध रखने से ऐतिहासिक प्रक्रिया मे सक्रिय हस्तक्षेप कर सकता है। स्वतत्रता वस्तुगत अनिवार्यता को समाप्त नहीं कर देनी। वह इस चीज की द्योतक है कि मनुष्य अनिवार्यता को समझता है और अनिवार्यता का अपनी कार्य सिद्धि के लिए उपयोग करता है। मानव के कार्य कलाप तभी स्वतत्र होते है जब वे वस्तुगत अनिवार्यता से मेल खाते है

स्पष्टत समाजवाद मे सर्वत्र आर्थिक ऐतिहासिक तथा सामाजिक नियतत्व का एक 'बरमूडा' त्रिकोण सा बना हुआ है, जिसमें आकस्मिक रूप से व्यक्ति की स्वतत्रता, उसका अस्तित्व, उसका व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है। सभवत यही कारण है कि अस्तित्ववादियों को समाजवादियों से पर्याप्त जूझना पडा।

यदि सार और अस्तित्व की धारणा से भी देखे, तो समाजवादी दर्शन मे सामाजिक सबंध ही उसके सार तत्व बन जाते है। मार्क्स के शब्दों में – 'मनुष्य का सार तत्व प्रत्येक अलग व्यक्ति में अन्तर्भूत कोई अमूर्त तत्व नहीं है। अपनी वास्तविकता में यह सामाजिक संबंधों का समुच्चय है।' दूसरे शब्दों में– मनुष्य के सार तत्व मे सामाजिक परिघटनाओं का सार तत्व निहित है, जिसे वह अपने कार्यकलाप की प्रक्रिया मे आत्सात् करता है ओर जो उसके अपने सारतत्व का अंतर्य हो जाता है। और इस प्रकार 'व्यक्तित्व हर आदमी का एक सामाजिक लक्षण है।'

समाजवाद ओर अस्तित्ववाद दोनो मे रोचक समानता यह हैं कि दोनो ही जैविक सारतत्व की निर्णायक भूमिका नहीं मानते। स्मिर्नोव इसका स्पष्टीकारण देते हुए कहते

है कि 'कभी-कभी जैविक सारतत्व तक की सवात की जाती है, जिसे सामाजिक सारतत्व के मुकावले मे आतरिक सारतत्व वाताया जाता है, किन्तु सारतत्व तो सदा किसी परिघटना का एकमात्र और आतरिक अभिलक्षण होता है और उसका कोई दूसरा वाह्य (अतात्विक) सारतत्व नहीं हो सकता मनुष्य में सारतत्व उन ससामाजिक सवधों की समग्रता है, जिनमे वह अपने को पाता है। मनुष्य के दैहिक अभिलक्षणों और पशुओ से उसकी जैविक विभिन्नताओ की भी सामाजिक प्राणी (सत्व) के विशिष्ट ऐतिहासिक संवधों की समग्रता द्वारा, न कि जैविक नियम सगतियो द्वारा, व्याख्या की जा सकती है।

ठीक इसी प्रकार, सार्त्र जैविक नियतत्ववाद का निषेध करते हुए कहते है - 'अस्तित्ववाद जव एक कायर को चित्रित करता है तो यह दिखाता है कि अपनी कायरता के लिए वह खुद जिम्मेदार है। उसके कायर होने मे उसके हृदय, फेफडे, मस्तिष्क आदि किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं है। वह शारीरिक अवयवों के कारण कायर नही हुआ है, वल्कि वह कायर इसलिए है, क्योकि उसने अपने कृत्यो द्वारा अपने आपको कायर वनाया है।'

हम स्पष्ट रूप से देख सकते है कि सामाजिक नियतत्ववाद, जिससे कि आज समाज बुरी तरह ग्रस्त है, केवल एक दुरास्था का कारण वन रहा है और प्रत्येक व्यक्ति अपने अत्तरदायित्व को अन्य पर अथवा पूरे समाज पर डालने के लिए प्रयत्नशील है। अस्तित्वाद इन सवका प्रतिरोध करता है।

(2) राजनीतिक नियतत्ववाद -

मनुष्य के वैचारिक विकास में आदर्शवादी विचारधारा जितनी प्राचीन है, सभवत उतनी ही प्राचीन राजनीतिक नियतत्ववादी विचारधारा रही है। यदि चिन्तन के वजाय व्यवहार के धरातल पर देखें तो जवसे राज्य अस्तित्व मे आया अथवा जवसे समाज-राज्य का एकीकरण हुआ, तभी से येन केन प्रकारेण व्यक्ति को राज्य के अधीन करने का प्रयत्न किया गया। अनेक उग्र आदर्शवादियो तथा तानाशाह साम्यवादियों न तो व्यक्ति को पूर्णयता राज्य के अधीन ही कर दिया।

आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक अपरिमित, सर्वशक्तिमान, निरपेक्ष संप्रभु तथा निरंकुश संस्था है। व्यक्ति के लिए यह न केवल अनिवार्य सामाजिक संस्था है, अपितु एक सर्वोच्च नैतिक संस्था भी है, जिसमें रहकर व्यक्ति अपना सम्पूर्ण सामाजिक

आर्थिक, आध्यात्मिक विकास कर सकता है अत यह न केवल एक राजनैतिक अनिवार्यता है, अपितु नैतिक अनिवार्यता भी है इस कारण आदर्शवादी चिन्तकों ने व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य माना। उनकी दृष्टि मे यह सव्यक्त के व्यक्तित्व का ही नही अपितु उसके अस्तित्व का भी सरक्षक हो गया। उन्होने मनुष्य को स्वभावत. एक सामाजिक प्राणी ही नहीं वल्कि राजनीतिक प्राणी भी मान लिया फलत राज्य को कोई कृत्रिम और वैकल्पिक सस्था न रहकर एक नैसर्गिक ओर अनिवार्य सस्था मान लिया गया। राज्य के प्रति इस अनिवार्यतावादी दृष्टिकोण ने उसे सर्वोच्च, पूर्णत निरपेक्ष, स्वायत्त तथा सर्वसप्रभु सथा बना दिया, जिसमे व्यक्ति एक गौण इकाई बन कर रह गया । राज्य ने व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही नहीं उसकी आत्मा का भी अपहरण कर लिया । सप्रभु एव स्वायत्त होने के कारण राज्य निरकुश व्यक्तियो का स्वामी वन गया। कांट ने कहा है – राज्य के केवल अधिकार है, कर्तव्य नहीं और व्यक्ति के कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं होते, केवल कर्तव्य होते है। हीगेल के अनुसार – राज्य स्वय एक जाग्रत नैतिक तत्व है, स्वय प्रवुद्ध ओर एक सपूर्ण व्यक्ति है। 'राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।' राज्य साधन नही, वल्कि साध्य है। वह विकास में विवेक युक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्याम्मिक तत्व को प्रकट करता है। वह पूर्ण रूप से विवेकमुक्त है, वह दैवी सत्ता है, खुद जानती है, खुद इच्छा करती है । वोसांके के अनुसार – राज्य नैतिकता की सर्वोच्च तथा सार्वभौम संस्था है। उसके नैतिक –अनैतिक आचरणो का निर्णय करना व्यक्ति की परिधि से वाहर है। ब्रैडले ने भी कहा है – 'नैतिक कर्तव्यो से युक्त मनुष्य के जीवन का रूप मुख्यत. साकल्य की उस व्यवस्थ में उसके स्थान से बनता है, जो राज्य है और राज्य अशत अपने कानूनों और सस्थाओं ओर उससे अधिक अपनी चेतना द्वारा मनुष्य को उस प्रकार का जीवन प्रदान करता है, जिस प्रकार का जीवन वह व्यतीत करता है ओर उसे व्यतीत करना चाहिए स्पष्टत यह विचारधारा अन्तत हमे राज्य मे व्यक्ति के पूर्ण सविलयन पर ले आती है। व्यक्ति जितना अधिक अपनी इच्छाओ को सराज्य के अधीन कर देगा, राज्य के हित में काम करेगा तथा राज्य के उद्देश्यो को अपना उद्देश्य मान लेगा, उसका जीवन उतना ही नैतिक होगा।

निश्चय ही यह राज्य की अतिवादी अवधारणा थी और कुछ आश्चर्य नहीं कि इसने सर्वाधिकारवाद जैसी विचारधाराओ को प्रोत्साहन दिया। मुसोलिनी के फासीवाद

तथा हिटलर के नाजीवाद पर इसका स्पष्ट प्रभाव है। मुसोलिनी ने कहा है- प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत तथा राज्य के लिए है, कोई न तो उसके विरुद्ध हो सकता है न वाहर जा सकता है। राज्य सभी मूल्यों का संश्लेषण है राज्य के वाहर किसी वात का अन्य कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार मुसोलिनी का यह फासीवाद राज्य की सर्वोच्चता और सर्वग्राहिता का सिद्धान्त वन जाता है कोई आश्चर्य नही जव मुसोलिनी ने कहा - हमने स्वतत्रता की सडती हुई लाश को दफना दिया है .

इटली मे फासीवाद के समानान्तर ही जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व मे नाजीवाद का विकास हुआ। जर्मन परम्परा के अनुसार ही नाजीवाद राज्य को सातवे आसमान पर पहुँचा देता है। हिटलर ने कहा था - 'हमे वच्चे की प्राइमरी से लेकर अन्तिम समाचार पत्र तक, प्रत्येक थियेटर और प्रत्येक चलचित्र पर नियन्त्रण रखना है।' और उसने इस वात को वखूवी लागू किया, जर्मनी मे प्रभाव के किसी भी माध्यम की उपेक्षा नहीं की गयी। प्रत्येक विपय, इसमे विज्ञान भी सम्मिलित था की शिक्षा राष्ट्रीय अभिमान को वढाने का साधन हो गयी। शिक्षा का उद्देश्य यह हो गया कि प्रत्येक तरूण के दिमाग मे जाति की भावना ठूँस-ठूँस कर भर दी जाय।

कहना नहीं होगा कि इन दोनो अतिवादी विचारधराओ ने राज्य के नाम पर कितना दमन चक्र चलाया। यह वात केवल दक्षिणपथी विचारधाराओ मे ही विद्यमान रही हो, ऐसी वात नहीं है। मार्क्स द्वारा साम्यवाद की पूर्ववर्ती व्यवस्था के रूप मे प्रतिपादित राज्य पूँजीवाद की अवधरणा की आड में साम्यवादियो ने भी व्यक्ति पर राज्य का संपूर्ण प्रभुत्व कायम कर दिया, चाहे वह स्टालिन-लेनिन के नेतृत्व मे रूस मे हुआ हो या माओत्से तुग के नेतृत्व में चीन मे, फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में क्यूवा में हुआ हो या पोल पॉट के नेतृत्व मे कम्वोडिया मे। अनुमान है कि इनमे से प्रत्येक ने राज्य के नाम पर 20 से 60 लाख के वीच हत्याएँ करवायी। सैवाइन ने ठीक ही कहा है-'दोनों विचार धाराएँ (वामपंथी साम्यवाद तथा दक्षिणपथी फासीवाद ओर नाजीवाद) इस अर्थ में सर्वाधिकारवादी थी कि उन्होने व्यक्तिगत निर्णय व सार्वजनिक नियन्त्रण क्षेत्रो का भेद समाप्त कर दिया।' कामू ने साम्यवाद के इस रूप को स्पष्टतः 'राज्य का आतकवाद' कहा है। उनके शब्दों में -'जव मार्क्स के कार्य को उनके उत्तराधिकारियों ने सँभाला, व्यक्तिगत आतंकवाद राज्य आतंकवाद के रूप में परिणत हो गया । हत्या एक वैधानिक स्वीकृति

पा गयी ओर ऐतिहासिक परिस्थितियाँ नैतिकता की निर्धारक हो गयी। शुभ साध्य के लिए अशुभ साधन के औचित्य का यह एक घातक परिणाम था।

राज्य की सर्वाधिकारवादी अवधारणओं को अनेक क्षेत्रो से बल मिला। धार्मिक सन्तो, दार्शनिक विचारकों राजनैतिक चिन्तको, ऐतिहासिक परिस्थितियों –सभी की निर्णायक भूमिका रही। हिटलर स्वय हीगेल नीत्से के विचारो से अत्यधिक प्रभावित था हीगेल के विचारो को जेटील तथा प्रोजेलीन नामक विचारको ने इटली मे प्रतिष्ठित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मेजिनी और डार्विन के विचारो से तो मुसोलिनी अनुप्राणित ही था। पोप ने कहा था –'अब ईश्वर इटली में पुन प्रतिष्ठित हो गया है और इटली ईश्वर को पुन. समर्पित हो गया है।' गियावानी जेन्टाइन ने लिखा– फासिज्म मेजिनी के आदर्शवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के इटली के 'रिसार्जिमेटो' (Resorgimonto-14वीं-15वीं शताब्दी का इटली का राष्ट्रीय आदोलन) के युग का प्रत्यागमन है। इस विचार से उसकी प्रवृत्ति एक महान् धर्मयुद्ध की है, उसका ध्येय इटली तथा उसके शासन को शक्तिशाली और गौरवपूर्ण बनाना है, आर्थिक, साम्माजिक पुनरूत्थान हेतु उसकी समस्त नीतियाँ उसके ध्येय की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है''[28] एल्फ्रोडो रोको ने फासिज्म को ''नागरिक जीवन की एक नूतन कल्पना'' ''एक शक्तिशाली परिवर्तनकारी आदोलन'' एव ''नवीन सस्कृति के उन्नायक के रूप मे प्रस्तुत किया[29]

नीत्शे ने ''शक्ति की इच्छा'' ''मूल्यातरण'' ''प्रभु–नैतिकता'' ''अतिमानव'' ''शक्ति के लिए सघर्ष'' आदि अवधारणाओ के द्वारा सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन दिया। उनके अनुसार– ''उत्कृष्ट कोटि का व्यक्ति स्वय अपने को मूल्यो का निर्माता समझता है, उसे किसी के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती। वह यह निर्णय देता हे कि आवश्यकता नहीं होती। वह यह निर्णय देता है कि जो मेरे लिए हानिकारक है वही वास्तव में हानिकारक है''[30] उनका मानना है– ''यह संसार शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं है, आप स्वयं भी इस शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त कुछ और नहीं है''।[31]

वे विकास का अंतिम लक्ष्य मानव जीवन का सातत्य वनाये रखना नहीं,अपितु आदिमानव का आविर्भाव मानते है, जो साहसी, बलवान, प्रतिभाशली, निर्दय कठोर तथा

संघर्षशाली होगा। वही पृथ्वी का भावी स्वामी है।[32] "आदिमानव ही पृथ्वी की सार्थकता है। अपनी इच्छा को कहने दो कि आदिमानव को पृथ्वी की सार्थकता होना है।"[33] "जूलियस सीजर" और "नेपोलियन" का महिमा मण्डन करते हुए वे आदिमानव को शेर और शेर की ही तरह पाशविक बना देते हैं। उनके अनुसार -"अधिक पूर्ण मनुष्य हमेशा अधिक पूर्ण पशु थे।"[34] "मनुष्य को एक शिकारी पशु, शिकार ओर सिद्धि की खोज मे लुब्ध होकर धूमने वाला भव्य स्वर्णाभिकेश पशु बनने का प्रयास करना चाहिए. उसे पशु के रूप में फिर से प्रकट होना चाहिए, और जगल लौट जाना चाहिए। महान जातियो ने, जो जहाँ कहीं भी गये, अपने पदचिन्हों में जगलीपन का सम्प्रत्यय छोडा है।"[35]

निश्चय ही ऐसा आदिमानव अति असामाजिक तथा अतिघातक [illegible] [illegible] स्वयं कहते है- "आदिमानव अपने साधन के रूप मे झूठ हिंसा और अत्यधिक निष्ठुर अहमन्यता का प्रयोग इस कुशलता से करता है कि उसे दुष्ट और पिशाच ही कहा जा सकता है।"[36]

इस प्रकार सर्वाधिकारवाद एक व्यक्ति और एक राज्य की तानाशाही से बर्वर आतकवाद की ओर किस प्रकार गतिमान होता है- हम उक्त पृष्ठभूमि मे देख सकते हैं। राज्य साध्य बनकर व्यक्ति को साधन बना दे यह मानवता के लिए एक त्रासद क्षण होगा। और जब भी शक्ति का एक स्थान या एक व्यक्ति के पास संकेन्द्रण होगा वह निरंकुश ओर अत्याचारी हो ही जायेगी। लार्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है- "शक्ति भ्रष्ट करती है ओर पूर्ण शक्तिमत्ता पूर्णतया ही भ्रष्ट कर देती है।

मार्क्स के पूर्व अनेक विचारकों की इतिहास की यह अवधारणा कि कुछ गिने-चुने प्रतिभाशाली या शक्तिशाली लोग ही इतिहास का निर्माण करते हैं, ने भी सर्वाधिकारवाद को बढाने में प्रश्रय दिया। इस विचारधारा का समर्थन प्रूधों तथा बाउर बन्धुओं ने विशेष रूप से किया है। मार्क्स ने वासिल्येविच अन्तेकोव के नाम लिखे पत्र मे इस विचार की आलोचना भी की है- 'प्रूधों ने मनुष्य द्वारा अर्जित उत्पादक शक्तियों तथा उनके सामाजिक संबंधो के सघर्ष से उत्पन्न होने वाले महान ऐतिहासिक आदोलनों के स्थान पर, एक राष्ट्र के भीतर विभिन्न वर्गों के बीच तथा राष्ट्रों के बीच भयकर युद्धों के स्थान पर, जनता की वास्तविक एवं उग्र कार्यवाई के स्थान पर, विशाल लम्बे ओर जटिल

आदोलनो के स्थान पर अपने सिर की इस सनक भरी विचारधारा को रख देते हैं कि ज्ञानी मनुष्य ही इतिहास का निर्माण करते हैं, वे मनुष्य जो ईश्वर के गुण, विचारों को चुराना जानते हैं तथा सामान्यजन तो उनकी प्रकाशनाओं को लागू मात्र करते है''[37]

राजनीति ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी स्वतन्त्र अस्मिता को जो चोट पहुँचायी है अस्तित्वाद ने उसका प्रवल प्रतिवाद किया है। यही स्वातन्त्र्यवोध है जो सार्त्र को अन्तत मार्क्सवाद से भी परे ले जाता है तथा जास्पर्स को नाजीवाद की प्रतिवद्धता छोडने को वाध्य करता है।

(3) आर्थिक नियतत्ववाद

अर्थ मानव जीवन व्यापार की अनिवार्य विधा है। इसने सदैव से मानव समाज की दशा और दिशा को प्रभावित किया है, चाहे वह कृपि प्रधान समाज रहा हो या उद्योग प्रधान, चाहे वहाँ वस्तु-विनिमय प्रणाली रही हो या मौद्रिक विनिमय प्रणाली, चाहे साम्यवादी व्यवस्था हो या पूँजीवादी। अर्थ और मानव की अन्त क्रिया का विचार वहुत पहले से विद्यमान रहा है। मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभापा देते हुए ही कहा है- अर्थशास्त्र मानव कल्याण का वह विज्ञान है, जो एक तरफ मानव का अध्ययन करता है दूसरी तरफ अर्थ का। किन्तु मार्क्स के पूर्व किसी विचारक ने वैज्ञानिक ओर ऐतिहासिक आधार पर यह सिद्ध नही किया था कि अर्थ मानव जीवन का केन्द्रीय पहलू है। उसके पूर्व के अर्थशास्त्री विचारक अर्थव्यवस्था तथा समाजव्यवस्था मे प्राय कोई गहन संवंध नही देखते थे और सामान्यत दोनों को निरपेक्ष मान लेते थे। यही नहीं, वे अर्थव्यवस्था मे भी आर्थिक शक्तियों को स्वायत्त तथा स्वचालित मानते थे। इसी कारण वे मुक्त अर्थव्यवस्था तथा निजी पूँजी की हिमायत करते है। उनके अनुसार माँग और पूर्ति के रूप में दो आर्थिक शक्तियाँ सदैव अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों (उत्पादन,उपभोग,विनिमय, वितरण, और राजस्व) का नियमन और समायोजन करती रहती है। आय और रोजगार सदैव पूर्णता के स्तर पर विद्यमान रहते हैं तथा इसकी पुष्टि के लिए जे0 वी0 से के वाजार नियम को आधार वनाया जाता था, जिसके अनुसार पूर्ति अपनी माँग का सृजन स्वय करती है। इस प्रकार ये सभी विचारक कभी भी अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र तथा इतिहास से गहनता पूर्वक जोड़कर नहीं देख पाये, यद्यपि प्रारभ में अर्थशास्त्र स्वय राजनीतिशास्त्र का अंग था और राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र से पृथक नहीं था।

मार्क्स ऐसा पहला विचारक था, जिसने भौतिक उत्पादन और उत्पादन प्रणाली के रूप में अर्थ को जीवन और समाज का आधारभूत संप्रत्यय बना दिया। यदि फ्रायड ने "काम की इच्छा" को तथा एडलर ने "शक्ति की इच्छा को जीवन का केन्द्रीय तत्व माना, तो मार्क्स ने "अर्थ की इच्छा" को प्रकारान्तर से जीवन का केन्द्रीय तत्व बना दिया "मार्क्स द्वारा उत्पादन तथा उत्पादन संबंधो की सामाजिक जीवन में निर्णायक भूमिका का प्रमाणित किया जाना एक महती वैज्ञानिक खोज है, जिससे समाज के इतिहास को एक नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया की तरह अर्थात् नियमसगत और वस्तुपरक प्रक्रिया की तरह से देखना संभव हो गया है[38]।

अर्थ की जीवन मे, मानव समाज में निर्णयक भूमिका है, इस बात को मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा अध-संरचना और अधिःसरचना के सिद्धान्त से सरल तथा समझा जा सकता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद इस अवधारणा का प्रतिपादन करता है कि भौतिक शक्तियाँ ही इतिहास का प्रमुख निर्धारक तत्व है। एंगेल्स के शब्दों में- "इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुन उत्पादन ही अन्तिम रूप से निर्णायक तत्व है"[39] मार्क्स के अनुसार सामाजिक संरचना के मुख्यत दो आयाम होते है, जिनको उन्होंने अध संरचना का निर्माण होता है। अध संरचना मूलत आर्थिक संरचना है, जिसमे मार्क्स ने उत्पादक शक्तियों के अन्तर्गत उन्होने तीन तत्वों- मनुष्य, उत्पादन के उपकरण तथा उत्पादन कौशल को रखा है। मार्क्स का मानना है कि इस आर्थिक सरचना रूपी आधार मे परिवर्तन होने पर समग्र अधिसरचना का परितर्वन हो जाता है। अधिसंरचना के अन्तर्गत उन्होंने शेष सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, बौद्धिक आदि संरचनाओं को रखा है। मार्क्स के शब्दो मे- "जीवन निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादान और परिणामत· उस जनगण का अथवा उस युग के अन्दर उपलब्ध आर्थिक विकास का स्तर वह आधार होता है,जिस पर जनसमूह की राज्यीय संस्थाऐं, कानूनी धारणाऐं, कला यहाँ तक कि उनके धर्म संबंध ी विचार विकसित हुए होते हैं। उसकी रोशनी में ही इनकी व्याख्या की जानी चाहिए, न कि उलटे तरीके से, जैसा कि अब तक होता आया है।[40]

यद्यपि अधिसंरचना की भी समाज में महत्वपूर्ण भूमिका होती हे किन्तु उसका

आधार अध सरचना ही होती हे। अफनास्येव के शब्दो मे- 'अनेकानेक सामाजिक संवंधो को छॉंट लिया ओर वताया कि ये ही मुख्य और निर्णायक सदंध है"[41]

स्पष्ट है कि सामाजिक सवंध अनेक प्रकार के होते हैं। पर ऐतिहासिक भौतिकवाद इनमें से भौतिक और उत्पादन संवंधों के स्वरूप को भी आर्थिक शक्तियो की अवस्था पर निर्भर मानता है। उत्पादन सवधो से उनका तात्पर्य हे- सपत्ति का स्वरूप, उत्पादक समूह मे व्यक्तियों के अन्तर्सवध तथा भौतिक सम्पदा के वितरण का स्वरूप। उत्पादन संवंध इन्ही तीनों का योग है। मार्क्स के अनुसार हर समाज की अपनी अध-सरचना की होती है और उस समय तक कोई अद्य. सरचना प्रकट नहीं हो सकती, जव तक कि पुराने समाज के अन्दर तदनुरूप भौतिक अवस्थाए और उस आधार के जन्म के लिए आवश्यक उत्पादक शक्तिया उत्पन्न न हों। कितु एक वार जव अध सरचना का आविर्भाव हो जाता है तो वह समाज के जीवन में जवर्दस्त भूमिक अदा करता है। उसी के आधार पर लोग भौतिक संपदा का उत्पादन और वितरण संगठित करते हैं। विना परस्पर आर्थिक सवध कायम किये लोग उत्पादन नहीं कर सकते ओर फलस्वरूप जीवन निर्वाह के साधनो का वितरण नहीं कर सकते।[42] मार्क्स के शब्दो में उत्पादन सवधों के भूमिका इस प्रकार है- अपने अस्तित्व के सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य एक निश्चित संबंधों की दुनिया में प्रवेश करते हैं, जो उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं, जो उत्पादन संबंध कहलाते हैं तथा जो उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था मे बनते हैं। इन उत्पादन संबंधों के समग्रता समाज के आर्थिक ढाचे का निर्माण करती है, यही वास्तविक आधार है, जिसके ऊपर एक कानूनी एवं राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है और उसी के अनुरूप सयामाजिक चेतना के विश्चित रूप बनते हैं।[43]

विक्तर जोतोव ने कहा है- 'हमारा समाज एक जटिल वहुमंजिली इमारत है। इसके अधिरचनात्मक सामाजिक सबंधों और परिघटनाओ की अनेक मजिले इसके भौतिक तकनीकी (उत्पादक शक्तियां) और आर्थिक आधार (उत्पादन संवध) पर निर्मित होती है। लेकिन अधिरचना भी हरेक अगली मंजिल अर्थात सामाजिक परिघटनाओ और संपर्कों के प्रत्येक खास समूह के लिए आधार का काम करती है।[44]

अधिरचना वस्तुतः आधार से निर्मित होती है और अन्ततोगत्वा आधार के प्रति

लोगों के रुख को व्यक्त करती है। विभिन्न विचार लोगों के लिए प्रस्तुत आधार को सुदृढ बनाने अथवा उसे नष्ट कर देने की आवश्यकता को उचित ठहराने के काम आते हैं। संस्थाए और संगठन (राज्य और राजनीतिक पार्टियां आदि) उन्हे इन विचारों को लागू करने मे समर्थ बनाते हैं अधिसरचना अध सरचना के द्वारा ही उत्पादक शक्तियों के विकास पर प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए सभी जानते हैं कि कम्यूनिस्ट पार्टी सोवियत राज्य और संपूर्ण समाजवादी अधिसंरचना कम्यूनिज्म के भौतिक और तकनीकी आधार का निर्माण करने में कम्यूनिस्ट उत्पादक शक्तियो को विकसित करने मे कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।[45]

मार्क्स की मान्यता है कि अध संरचना और अधिसरचना में भिन्नता तो है किंतु इनमें एक अवियोज्य संबध है। एक अध.संरचना के अनुरूप कोई न कोई अधिसरचना अवश्य विद्यमान होती है। और अधिसंरचना अध संरचना को निष्क्रिय प्रतिबिम्बित मात्र नहीं करती अपितु सक्रिय रूप से उसे प्रभावित भी करती है। प्रत्येक अधिसरचना चाहे उनमे राजनीतिक कार्यकर्ता हों या धार्मिक सन्त या वैज्ञानिक, अपने शासक वर्ग के हितो को रूपायित करती है और अध सरचना की तत्कालिक सहायता करती है।

इस प्रकार कला, विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति, धर्म, आध्यात्म, दर्शन चिन्तन जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो आर्थिक अधःसंरचना से प्रभावित नहीं होता। ऐतिहासिक भौतिकवाद में मार्क्स इतिहास की व्याख्या भी उत्पादन प्रणाली के माध्यम से करते हैं और इसका प्रमुख तत्व है- आर्थिक नियतत्ववाद।

उत्पादन प्रणाली की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि यह अधिकसमय तक एक स्थिति पर स्थिर नहीं रहती है, इसमे सदैव परिवर्तन व विकास होता रहता है। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने से संपूर्ण सामाजिक विचारधारा सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। विकास के विभिन्न स्तरों पर मनुष्य अलग-अलग उत्पादन प्रणाली अपनाता है। आदिम साम्यवादी युग में एक प्रकार की उत्पादन प्रणाली थी, दासत्व युग में दूसरे प्रकार की, सामन्तवादी युग मे तीसरे प्रकार की और पूंजीवादी युग में चौथे प्रकार की। अतः समाज के विकास का इतिहास वस्तुत उत्पादन प्रणली के विकास का इतिहास अर्थात् उत्पादक शक्ति और मनुष्यों के उत्पादन संबंध के विकास का इतिहास है। साथ ही सामाजिक विकास का इतिहास वास्तव में

उन लोगों का इतिहास है, जो कि भौतिक मूल्यों का उत्पादन करते हैं।

दूसरे शब्दों में सामाजिक विकास का इतिहास वास्तव मे श्रमिक वर्ग का इतिहास है जोकि उत्पादन प्रक्रिया मे प्रमुख शक्ति है और जो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक मूल्यो का उत्पादन करती है।

इस कारण इतिहास को यदि वास्तव में विज्ञान बनना है तो वह राजाओं और शासको के कारनामो का इतिहास नहीं वरन् उन लोगो का इतिहास होगा जो भौतिक मूल्यो का उत्पादन करते हैं।

स्पष्ट है कि सर्वप्रथम ऐतिहासिक कार्य उन साधनों का उत्पादन है, जिससे कि भोजन वस्त्र और निवास आदि की आवश्यकताएं पूरी हो सके। वास्तव मे यही एक ऐतिहासिक कार्य है जो कि हजारों को बनाये रखने के लिए परमावश्यक है अर्थात समस्त इतिहास की बुनियादी शर्त है।[46] मनुष्य को सर्वप्रथम खाने-पीने को, रहने और पहनने को चाहिए, उसके पश्चात् ही फिर कहीं वह राजनीति, धर्म, कला आदर्श आदि के सबंध मे सोचता है।

निश्चय ही, मार्क्सवाद आर्थिक नियतत्ववाद को एक चरम रूप दे देता है। यद्यपि मार्क्स तथा एंगिल्स बारंबार स्पष्टीकरण देते हैं कि ऐसा नहीं है कि आर्थिक प्रभाव एकमात्र कारण है और दूसरे सभी प्रभाव निष्क्रिय है।[47] पुन वे ब्लोख को लिखे अपने पत्र में कहते हैं कि "इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा उत्पादन के अन्तिम तत्व तो मानती है किन्तु एक मात्र तत्व नहीं। भौतिक प्रभाव को इससे अधिक महत्व न तो मार्क्स ने और न ही मैंने प्रदान किया है।"[48]

किंतु मार्क्सवाद का जनसामान्य में जो सन्देश गया वह आर्थिक नियतत्ववाद का गया। भौतिक वस्तुओं पर बल ने मनुष्य को भी भौतिक वस्तु के समान बना दिया, आर्थिक संबंध की आख्या से सामाजिक पारिवारिक संबंध भी निर्धारित होने लगे, आर्थिक नियतत्ववाद को व्यक्तियों ने नियतिवाद मान लिया। यही कारण है कि मार्क्स ने यद्यपि पूर्ववर्ती समाजवाद की यूटोपियाई समाजवाद कहकर आलोचना की थी, किंतु उसका वैज्ञानिक समाजवाद भी अन्तत· यूटोपियाई समाजवाद ही सिद्ध हुआ। इतिहास साक्षी है कि समाजवाद का जिस भांति उत्थान और पर्यवसान हुआ, उसमे वह राज्य पूजीवाद तथा साम्यवादी सर्वाधिकारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया और वह कभी वास्तविक

साम्यवाद का रूप नहीं ले पाया।

इसके विपरीत, पूजीवाद ने भी अर्थकेन्द्रित बाजार आधारित ऐसी व्यवस्था प्रारभ की जिसने आर्थिक मूल्यों को ही सर्वप्रधान बना दिया। आर्थिक समृद्धि ही विकास का मानदण्ड मान ली गयी। भौतिक शक्ति ही वास्तविक शक्ति बन गयी समकालीन सदर्भों में पूजीवाद का नव-उपनिवेशवादी चरित्र देखा जा सकता है। "सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति" को पूर्णत सामाजिक स्वीकृति मिलती गयी। मानव बाहर की भौतिक संपदा मे इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने भीतर की सपदा की फिक्र ही न नहीं। मानव जीवन आन्तरिकता से निरन्तर सूना होता गया। मुठ्ठी तो भर गयी किंतु हृदय खाली हो गया। कल्पना की, तर्क की, ज्ञान की तो उसे नयी ऊँचाईया मिलीं कितु वह प्रेम की, आनन्द की, अनुभूति की, सवेदनशील गहराइयो से वचित होता गया। उपभोक्तावाद, आध्यात्मवाद और मूल्यवाद से विरत कर दिया। आर्थिक नियतत्ववाद का ही यह दूसरा पहलू था। एंगिल्स ने ऐसी संस्कृति के विषय में ठीक ही लिखा है- "धन कमाओ और धन नहीं जितना बन सके उतना कमाओ। समाज का धन नहीं, एक अकेले, क्षुद्र व्यक्ति का धन बस यही सम्यता का एकमात्र और निर्णायक उद्देश्य है।"[49]

4. जैविक नियतत्ववाद :

आधुनिक युक विज्ञान का युग है और यदि जीव विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय, तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक शाखा आनुवाशिकी (Genetics) की है। आनुवंशिकी के अनुसार प्रत्येक जीव कोशिकाओं की संरचना है और इन कोशिकाओ के केन्द्रक मे कुछ निश्चित संख्या मे गुणसूत्र होते हैं और इन गुणसूत्रों में ही जीव की संरचना के स्वरूप निर्धारक तत्व 'जीन' (Gene) विद्यमान होते हैं जो मूलत चार रासायनिक सारकों, एडिनीन, साइटोसीन, गुएनीन, चाइमीन के विभिन्न अनुक्रमों से निर्मित होते हैं। इस प्रकार आनुवंशिकी के अनुसार किसी मनुष्य का व्यक्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी जीन की संरचना कैसी है। एक व्यक्ति या कोई प्राणी जब भ्रूण में प्राथमिक युग्मक की अवस्था में होता है तभी यह निर्धारित हो जाता है कि वह व्यक्ति किसी रंग, रूप क्षमता, आकार का होगा। यदि प्राणी के जीन में परिवर्तन कर किया जाय जैसा की आज जीन अभियांत्रिकी द्वारा किया भी जा रहा है, तो व्यक्ति के गुण परिवर्तित हो जायेंगे। स्पष्टत इससे जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि

मनुष्य का अस्तित्व उसकी अन्तर्वस्तु या सार तत्व से निर्धारित होती है। इसे हम जैविक नियतत्ववाद की सज्ञा दे सकते हैं।

वास्तव मे जैविक नियतत्ववाद मानव स्वतंत्रता के प्रति प्रवल चुनौतियों में से एक है। वैज्ञानिक आधारों पर प्रमाणित होने के कारण इसकी उपेक्षा करना सत्य से मुख मोडना होगा। इसकी प्रभाविता का मात्र इतने से पता चल सकता है कि इस सिद्धात ने शीघ्र ही मानव की समग्र चेतना को आन्दोलित कर दिया। आधुनिक काल में इसके प्रवर्तन का श्रेय सर जान ग्रेगर मेंडल (1822-1884) को है जिन्होंने सन् 1866 मे "Annual Proceedings of the Natural History" मे मटर के पौधो मे वंशागति के प्रयोगों को प्रकाशित किया। इसके पूर्व भी यद्यपि ग्रीक दार्शनिकों जिनमें पाइथागोरस तथा अरस्तू प्रधान है, को वंशागति का आभास तो था, किंतु मेंडल से पूर्व किसी को इसकी प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। मेंडल द्वारा प्रतिपादन के वाद भी 34 वर्षो तक दुर्भाग्यवश इस सिद्धान्त पर वैज्ञानिकों का ध्यान नहीं गया। सन् 1900 में जर्मनी में कार्ल कोरेन्स, हालैण्ड मे ह्यूगो डी व्रीज तथा आस्ट्रिया मे सरिक वॉन शेरमैक का इन पर ध्यान गया, तव इसका प्रभाव क्षेत्र वढा।

मेंडल ने वंशागति के कारकों को Factor की संज्ञा दी थी, जो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से Gene कहे जाते हैं। यहां हमें मेंडल के सिद्धांत को संक्षिप्त रूप में विवेचित कर लेना होगा, ताकि हम यह देख सकें कि परवर्ती काल में उके वैज्ञानिक निष्कर्षों को किस प्रकर प्रजातिवाद (Racism) और वर्णव्यवस्था की पुष्टि में प्रयोग किया जाने लगा तथा अन्तत. संघर्ष का कारक बना। फिर बाद में इसने किस प्रकार पर्यावरणवाद बनाम वंशानुक्रमवाद के विवाद का रूप धारण कर लिया।

मेंडल के सिद्धांतो को कार्ल कोरेन्स (Carl Correns) ने तीन नियमो के रूप में वर्गीकृत किया है- प्रथम नियम- पृथक्करण का नियम, द्वितीय नियम- प्रवलता का नियम तथा तृतीय नियम- स्वतंत्र अपव्यूहन का नियम। मेंडल के प्रथम नियम के अनुसार जैविक संरचना के तुलनात्मक रूपों के कारक सदैव शुद्ध रूप में रहते हैं चाहे वे अन्य कारकों के साथ कितने ही समय तक क्यों न रहें। उनका पार्थक्य वना रहता है। द्वितीय नियम के अनुसार कारकों में जो तुलनात्मक रूप से प्रवल होते हैं वे ही जीव की संरचना में अभिव्यक्त होते है और अप्रबल कारक अनभिव्यक्त रह जाता है।

तृतीय नियम के अनुसार सकरण होने पर प्रवल और निर्वल कारको मे पुनर्समायोजन होता है और इस समायोजन मे यादृच्छिकता रहती है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि कोई कारक अपने युग्मक के पूर्ववर्ती सहभागी के साथ ही संरचना बनाये या प्रवल कारक किसी प्रवल अथवा निर्वल कारक से ही योग वनाये।

मेडल के नियमों को वाद मे भी वैज्ञानिकों ने यत्किञ्चित सशोधनों के साथ स्वीकार किया। कोरेन्स (1903) ने यह दिखाया कि जैविक कारको मे शुद्धता का मेडल का दावा पूर्णत समीचीन नहीं था और उनमे प्रायः सम्मिश्रण हो जाता है।

परवर्ती काल में समाजशास्त्रियो से लेकर शासकों तक ने इसके परिणामो को स्वेच्छया ढालने का प्रयत्न किया तथा अपने मनोनुकूल निष्कर्षो को वैज्ञानिक आधार देने की प्रवंचना की। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड के विचारक फ्रांसिस गल्टन ने प्रतिभा की वंशागति के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता का निष्कर्ष निकाला, जिसे वाद में कार्ल पियर्सन ने गति प्रदान की। गल्टन ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्तानों के प्रतिभसपन्न होने की सभावना बहुत अधिक है। उन्होने जर्मनी के प्रसिद्ध गायक वश 'वाक वश' की आठ पीढियो का इतिहास जुटाया। इनमे 136 सदस्यो मे से 99 पुरुष थे जिनमे 50 पुरुष वहुत अच्छे गायक हुए। स्पष्टत गायन का लक्षण एक प्रवल लक्षण के रूप में वंशगत हुआ। हुगडेल एव ईस्टैब्रुक ने न्यूयार्क के ज्यूक्स वंश के 2094 सदस्यो का पता लगाया। यह वंश एक दुष्ट व्यक्ति का वंश था। इन वंशजों में से 299 भिखारी, 86 चरित्रहीन, 118 अपराधी और 378 वैश्याएं हुईं। शेष अल्पायु में ही मर गये। वुड्स ने अपने अध्ययन मे सिद्ध किया कि राज परिवारों ने अन्यों की अपेक्षा अधिकसंख्या में प्रतिभावानो को जन्म दिया है। अमेरिका के पुरोहित वर्ग के वैज्ञानिकों ने प्रतिष्ठित परिवारों को जन्म दिया, जवकि व्यावसायिक वर्ग ने कृषक वर्ग की अपेक्षा वैज्ञानिकों को अधिक जन्म दिया।[51] इसी प्रकार के अध्ययन प्रजाति और राष्ट्रीयता के आधार पर भी किये गये। विशर्स ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि अकुशल श्रमिकों की 48,000 सन्तानों में से केवल एक के प्रतिभाशाली होने के अवसर हैं जबकि कुशल श्रमिकों में 30, कृषकों में 70 व्यापारियों में 600 व्यवसायियों में 1035 तथा पादरियों में 2400 सन्तानोंके प्रतिभावान होने की संभावना है।[52]

ये सारे निष्कर्ष वंशानुक्रम को किसी न किसी रूप में मानव जीवन में प्रभावी कारक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार सीजर लाम्ब्रोसो (1870) ने अपनी पुस्तक L'Vomo Delıanerte नामक पुस्तक में मनुष्य के शारीरिक लक्षणों के आधार उनके आपराधिक विचलनों को व्याख्यायित करने का प्रयास किया। इस विचारधारा को शेल्डन, इलीएनर ग्लूएक, हस आइजेंक आदि विचारकों ने भी पुष्ट किया। आइजेंक ने स्पष्ट घोषणा की कि वंशानुक्रम आपराधिक चरित्र का सर्वाधिक प्रभावी कारक है।[53] सुजननिकी (Eugenıcs) की एक शाखा ने यह माना कि समाज के उच्च वर्ग या प्रतिभाशली वर्ग की जनसंख्या वृद्धि कर निम्नवर्ग या प्रतिभाशाली वर्ग की अपेक्षा कम होती है।[54]

हक्सले, जो कि दर्शन जगत में अत्यधिक प्रतिष्ठित है ने भी घोषणा की- "अब यह प्रमाणित सा प्रतीत होता है कि जो बुद्धिमान है, उनकी प्रजनन दर अल्प बुद्धिवाले लोगो की अपेक्षा कम है। यदि यह प्रक्रिया कायम रही तो इसके भयकर परिणाम निकलेंगे। समाज को अधिक बुद्धिमान लोगों की आवश्यकता है।"[55] बट्रेंड रसेल ने भी कई जगहो पर इस बात की पुष्टि की है।[56] निश्चय ही रसेल और हक्सले के ये निष्कर्ष पर्याप्त रूप में विज्ञानसम्मत हैं और किसी न किसी रूप में मानव की जैविक नियतत्वता का समर्थन करते हैं।

जब एक बार मानव को यह ज्ञात हो जाय कि उसकी जीवनगत वंशानुगति पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है तो फिर वह येन-केन-प्रकारेण इसे लागू करने से बाज नहीं आयेगा। हक्सले इसकी वैज्ञानिक और विकासगत अनिवार्यता को घोड़ों पर किये गये परीक्षण से निगमित करने का प्रयास करते हैं उनके अनुसार जिस प्रकार कुछ ही सततियों बाद उन्नत नस्ल के घोड़े पैदा कर लिये जाते हैं, वैसे ही उन्नत प्रजाति के लोगों से शीघ्र ही उच्चस्तरीय मानवता विकसित की जा सकती है। उनके शब्दों मे- "कृत्रिम चयन अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है और प्राकृतिक चयन की अपेक्षा इससे इधिक शीघ्रता से परिणाम निकल सकते हैं। एक बार अगर हम तथ्य को समझ लें कि हम लोग भावी विकास के अभिकर्ता हैं और जीवन की निहित संभाव्यताओं का विकास करने के अतिरिक्त और कोई उच्चतर तथा महान कार्य नहीं है, तो उसकी प्राप्ति के मार्ग में जो किसी प्रकार का अवरोध होगा उसे दूर करने के तरीके और साधन

किसी प्रकार से मिल जायेंगे, इसमे व्यापक सुजननिकी विज्ञान प्रेरक तथा अग्रणी हो सकते हैं।[57]

किंतु हम कैसे आशा करें कि इस प्रकार की सुजननिकी का दुरुपयोग नहीं होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिट्लर ने जिन नाजीवादी आधारों पर 40 लाख से अधिक यहूदियों की हत्या करवायी क्या वे प्रजातिवाद की विकृत व्याख्या के परिणाम नहीं थे। हिट्लर, जिस नीत्शे से प्रभावित था, वह स्वयं आनुवशिकता को अन्तत प्रजातिवादी और जातिवादी रूप दे देता है। चूंकि नीत्शे की गणना प्रारभिक अस्तित्ववादियो में की जाती है अत उसके कथन का उल्लेख समीचीन होगा- "यदि आपको माता-पिता के बारे मे थोड़ी जानकारी है तो आप वच्चे के सवध में निष्कर्प निकाल सकते हैं और सर्वश्रेष्ठ शिक्षा के द्वारा भी हम मात्र आनुवशिकता को धोखा देने में ही सक्षम हो सकते हैं।[58] और इसी के साथ वे जातिवादी विनाशक विचारधारा भी प्रस्तुत करते हैं। भारतीय वर्णव्यवस्था मे वे चाण्डालो की सामाजिक परम्पराओ को वे इस कारण उचित मानते हैं कि इससे उनका स्वत विनाश हो जायेगा- ये वर्ग कौटुम्बिक व्यभिचारो के कारण घातक महामारियों और भयकर यौन रोगोके कारण समाप्त हो जाते हैं। निम्नतर जाति का विनाश प्रजनन संप्रत्यय का आवश्यक परिणाम है। वह हमेशा इस वात की माग करता है कि नयी जाति उत्पन्न हो और सभी असन्तुष्ट, विद्वेषी और ईर्ष्यालु व्यक्तियो की उत्पत्ति पर रोक लगे, अपराधियो का वन्ध्याकरण हो और करोडो अयोग्य प्राणियों का विनाश हो।[59]

इन कथनों के साथ ही हमें हिट्लर के "एक जाति, एक भाषा और एक राष्ट्र" के नारे की याद हो आती है, जो यह मानकर चलता है कि विश्व में आर्य श्रेष्ठ हैं और आर्यों में नाजी श्रेष्ठ हैं- "इन कथनों के पीछे नाजी गैस चैम्वरो की काली छाया दीखती है।"[60]

वस्तुत यह प्रजातिवाद अठारहवीं सदी के पूर्व किसी विशेप समस्या के रूप में नहीं उभरा था। जातिगत रक्त संबंधी शुद्धता का भाव तो था किंतु शुद्धता का ऐसा विनाशकारी रूप न था। प्रशान्त महासागर के द्वीपों की खोज के साथ ही मनुष्यों मे प्रजातिगत अहमन्यता और विभेदीकरण मुखरित होने लगी। पहले भी दास परपराए रही हैं। यद्यपि अरस्तू ने भी दास परंपरा का समर्थन किया था, भारतीय प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में दास और दस्युओं का विवरण मिलता है, किंतु उनको वैज्ञानिक आधार देने

की कोशिश नहीं की गयी थी। आश्चर्य तो यह है कि आक्रान्ताओं ने जब आदिवासी जनता को गुलाम बनाकर सताना शुरू किया, तो उनकी गुणवत्ता की बजाय उनमें आत्मा होने न होने का प्रश्न उठाया जाने लगा। स्पेन के राजा और चर्च ने तो इस प्रकार की एक कान्फ्रेंस का भी आयोजन किया जिसका कार्य यह तय करना था कि क्या आदिवासियों में सामान्य मनुष्यों की भांति कोई आत्मा भी होती है? हमें गहन दुःख के साथ चकित तब होना पड़ता है जब आस्ट्रेलिया और उत्तरी अमेरिका के लोगों ने स्पष्ट घोषणा भी कर दी कि इनमें कोई अमर आत्मा नहीं होती और इनका भी पशुओं की तरह शिकार किया जा सकता है।

इसी प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशकारी काल में प्रजातिवाद ने क्रूर साम्राज्यवाद का रूप ने लिया। गोरी प्रजातियो की मान्यता थी कि वे हर दृष्टि से अन्य प्रजातियो से श्रेष्ठ है ठीक वैसे ही जैसे कुत्तों में अल्सेशियन। उनको विश्वास था कि काली जातियों पर शासन के लिए ही गोरों का जन्म हुआ है। ईश्वर ने स्वयं गोरी जाति को अन्य जातियों को सभ्य बनाने हेतु चुना है।

अठाहरवीं-उन्नीसवीं सदी में जब विलियम जोन्स एवं मैक्समूलर ने संस्कृत, ग्रीक लेटिन और जर्मन भाषाओं में समानता बतलायी, तो उन्होंने यूरोपीय भाषा को आर्यभाषा की सज्ञा देकर स्वय को आर्य और श्रेष्ठ मान लिया। चूंकि इतिहास साक्षी था कि प्राचीन श्रेष्ठ सभ्यताओं-भारतीय, यूनानी तथा रोमन सभ्यताओं को आर्य प्रजाति ने जन्म दिया था अत· यह सिद्ध मान लिया गया कि संस्कृति को जन्म देने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वह केवल आर्य प्रजाति में है। इसलिए आर्य श्रेष्ठ प्रजाति है। काउंट आर्थर डी गोविनिऊ ने तो यहां तक कहा कि- "आर्य प्रजाति ही श्रेष्ठता की वाहक है, इसके अभाव में मानव सभ्यता नष्ट हो जायेगी।"[61] भारतीय संस्कृत वांड्गमय मे भी आर्य का श्रेष्ठ अर्थ में ही प्रयोग है।

आर्यवाद की पृष्ठभूमि ने नार्डिकवाद को जन्म दिया। Nord शब्द जर्मन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है उत्तर। यह गलत धारणा भी फैलायी गयी कि शुद्ध आर्य प्रजाति उत्तर में निवास करती है।

अत· इसे नार्दिक जाति भी कहा गया। इसके अनुसार विश्व के श्रेष्ठ कलाकार, वैज्ञानिक और शासक नार्दिक प्रजाति ने ही दिए हैं। हिटलर ने तो यहां तक कहा कि

नाजी विश्व के सर्वश्रेष्ट शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत सम्पूर्ण विश्व पर शासन करना उनका प्राकृतिक अधिकार है। हिटलर ने प्रजातीय शुद्धता के लिए जर्मनी में नाजियों के सुनियोजित विवाह की व्यवस्था करायी तथा यहूदियों की हत्या दमन तथा वहिर्गमन कराया।

जर्मनी में प्रजातिवाद जहां ट्यूटनवाद तथा नाजीवाद के रूप में सामने आया, वहीं इंग्लैंड मे एग्लो सैक्शनवाद तथा फ्रास मे गैलिकवाद के रूप मे प्रकट हुआ। मेडल के सिद्धान्तो के साथ डार्विन के सिद्धान्तो का भी प्रजातीय श्रेष्ठता मे दुरुपयोग किया गया है, जिसके अनुसार "योग्यतम की उत्तरजीविता'' को आधार वनाकर अपने को श्रेष्ट समझने वाली जातियो ने अन्य प्रजातियो का दमन शोषण किया। अफ्रीका मे अभी हाल तक श्वेत-अश्वेत सघर्ष नृशस प्रजातिवाद का उदाहरण वना हुआ था। अभी कुछ ही समय पहले तक अमेरिका तथा अफ्रीका मे काले और गोरे लोगो के लिए अलग-अलग कानून तथा व्यवस्थाएं विद्यमान थीं। नीग्रों लोगों को छोटे अपराधों के लिए भी मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी जवकि गोरों को वड़े अपराधों के लिए भी मृत्युदण्ड नहीं दिए जाते थे। गोरों के लिए पृथक शिक्षा सस्थान, चिकित्सालय ट्रेने तथा वसे हुआ करती थी। चिकित्सालयों में भी किसी गोरी प्रजाति के व्यक्ति को विना उसे वताये किसी काले व्यक्ति का एक रक्त नहीं दिया जा सकता था।

मार्क्स ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है- इंग्लैण्ड में एक यैंकी किसी गुलाम को कोड़े लगाने को उद्यत है, तभी शांति-दण्डाधिकारी उसे ऐसा करने से रोकता है, वह यैंकी नाराज होकर कहता है-"इसे ही आप स्वाधीनता का देश कहते हैं, जहा कोई आदमी अपने नीग्रो को भी नहीं पीट सकता?"[62]

निश्चय ही प्रजाति की यह समस्या वैज्ञानिक नहीं अपितु सामाजिक स्वरुप की थी, इसमे केवल वैज्ञानिक सिद्धान्तो की अनुचित व्याख्या की गयी थी। एम.एफ. एश्ले मांटेग्यू ने प्रजातिवाद को सबसे खतरनाक कल्पित अवधारणा माना है।

टूटन का मानना है कि प्रजाति शब्द के गलत अर्थ ने ही प्रजातिवाद को जन्म दिया। जैकब्स तथा स्टर्न का मत है कि प्रजातिवाद में मानवीय खोजों की अवहेलना की जाती है और यह विश्वास किया जाता है कि जन्म से ही कुछ जातियां उच्च हैं कुछ निम्न। वंशानुक्रमण मात्र ही हमारे जीवन के वैयक्तिक और सांस्कृतिक पक्ष को प्रभावित करता है, पर्यावरण या समाज नहीं। इन अवैज्ञानिक अवधारणाओं के कारण

ही अशिप्ट और अतार्किक व्यवहार किये जाते हैं।[63]

जूलियन हक्सले को संभवत. इस दुरुपयोग का भान था, तभी वे कहते हैं- "सामान्य सुधार के लिए सुजननिकी (Engenics) का यह अर्थ नहीं है कि किसी ऐसे राज्य या सत्ता मे विश्वास किया जाये, जिसे अच्छे और वुरे आनुवशिक गुणो के सम्वन्ध में निर्णय करने के लिए निरकुश अधिकार प्राप्त हो"।[64] पुन मानवता के विकासात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं-"हमें परम्परागत नैतिकता की बजाय विकासात्मक नैतिकता पर वल देना होगा जिसके अनुसार विकास की सहयोगी वस्तु उचित है तथा विकास की वाधक वस्तु अनुचित।[65]

आज जेनेटिक इंजीनियरिंग और क्लोनिग जेसी प्रविधियो के कारण जेविक नियतत्ववाद पुन प्रासगिक हो गया हैं। विकासात्मक नेतिकता ओर सामान्य नैतिकता मे द्वन्द्व शुरू हो गया है। "ह्यूमन जीनोम प्रोजेक्ट" तथा "सेलेरा जीनोमिक्स" द्वारा मानव के सम्पूर्ण जीन अनुक्रम को लिपिवद्ध कर देने के वाद यह खतरा और वढ गया है। मेंडल की कारक शुद्धता के नियम को प्रजातिवादियो ने जिस प्रकार रक्त की शुद्धता के नियम में तथा प्रवल कारक की प्रभाविता को "शक्तिशाली के शासन" के नियम में परिवर्तित कर दिया उसको देखते हुए ऐसी आशंकाएँ निराधार नहीं हैं।

जिन विश्वयुद्धों की विभीषिका में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ है, अस्तित्व के जिस संकट से जूझकर मनुष्य के चिन्तन में अस्तित्ववादी विचारधारा ने रूपरेखा वनायी है, उन युद्धों और संकटो के मूल में प्रजातीय अहंमन्यता के रूप मे जैविक नियतत्ववाद ने महती भूमिका निभायी है।

S. *पर्यावरणीय नियतत्ववादः-*

मनुष्य प्रकृति की उत्पत्ति और प्रकृति का अंग हे। वह अपने पर्यावरण के साथ अन्ततः क्रियात्मक संबंध रखता है अर्थात वह स्वयं अपने पर्यावरण से प्रभावित होता है तथा स्वयं भी पर्यावरण को प्रभावित करता है। आधुनिक पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण वस्तुत मानव, पर्यावरण और अन्य जीवों के अन्तः सम्वन्धों का ही विज्ञान है।

"मनुष्य प्रकृति की व्युत्पत्ति है इस धारणा ने क्रमशः इस अवधारणा को भी जन्म दिया कि मनुष्य प्रकृति का अंग ही नही, उसका दास भी है। प्रकृति मनुष्य की धारक ही नहीं, निर्धारक भी है। प्रकृति के प्रति यह निर्धारणवाद यद्यपि आधुनिक भौगोलिक

दृष्टिकोण में विशेष मुखरित हुआ, किन्तु इसके बीज प्राचीन काल से ही मिलने लगते हैं। वस्तुत मानव जीवन पर भौगोलिक प्रभाव संबन्धी विवाद अरस्तू के समय से ही प्रारम्भ हो गया था जिसे बाद में डार्विन के विकासवाद के कारण भी गति मिली। पुन जब खगोल विज्ञान ने ज्योतिषशास्त्र का रूप ले लिया तब मानव की पर्यावरणीय सीमा सुदूर अतरिक्ष तक फैल गयी और इसका पर्यवसान नियतत्ववाद के बजाय नियतिवाद मे हुआ।

यहा पर्यावरणीय नियतिवाद के विवेचन से पूर्व हमे यह देख लेना आवश्यक है कि यहा पर्यावरण का अर्थ क्या है? मैकाइवर एव पेज के अनुसार– "भौगोलिक पर्यावरण में वे समस्त दशाएं सम्मलित हैं, जिन्हें प्रकृति मनुष्य को प्रदान करती है। भूमि, जल, पर्वत, मैदान, खनिज, पौधे और जीव-जन्तु जलवायु और गुरुत्वाकर्षण, विद्युत तथा विकिरण आदि सभी प्राकृतिक शक्तियां जो मानव के जीवन को प्रभावित करती हैं, भौगोलिक पर्यावरण के अन्तर्गत आती है।"[66]

पिटिरिम सोरोकिन ने पर्यावरण को मानवीय अन्त.क्रिया से स्वतत्र रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार भौगोलिक पर्यावरण का तात्पर्य उन सभी प्राकृतिक दशाओं एवं घटनाओं से है, जिनका अस्तित्व मनुष्य के कार्यों से स्वतन्त्र है, जो मानव द्वारा निर्मित नहीं है, जो मानव के कार्यों से स्वतंत्र है जो मनुष्य के कार्यों तथा अस्तित्व से प्रभावित हुए बिना स्वय ही परिवर्तित होती रहती हैं। अन्य शब्दों में हम, यह कह सकते हैं कि यदि हम एक व्यक्ति अथवा एक सामाजिक समूह के सम्पूर्ण पर्यावरण को लें और उसमें से उन सभी परिस्थितियों को घटा दें जो मनुष्य के कार्यों अथवा अस्तित्व से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में परिवर्तित हो गयी हो अथवा निर्मित हो, तो जो कुछ भी शेष रहेगा उसी को भौगोलिक पर्यावरण के नाम से जाना जायेगा।[67]

हमे पर्यावरण को मनुष्य से स्वतंत्र रूप से परिभाषित किए जाने की अवधारणा में ही पर्यावरणीय नियतत्ववाद का आभास मिल जाता है। इन नियतत्ववादियों की एक सुदीर्घ श्रृंखला रही है, विशेष रूप से भौगोलिक और सामाजिक विचारधाराओं में यह काफी विवाद का विषय रहा है। नियतत्ववादी केवल मानव जीवन और व्यक्तित्व को ही पर्यावरण द्वारा निर्धारित नही मानते, अपितु उसके सामाजिक, आर्थिक,राजनैतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं शारीरिक सभी पक्षों को पर्यावरण द्वारा प्रभावित मानते हैं। इस

दृष्टि से मानव के खान-पान, रीति-रिवाज, नियम-कानून अपराध और नैतिकता,धर्म और संस्कृति, जनसंख्या और जन्म-मृत्युदर सभी पर्यावरण द्वारा प्रभावित होते हैं

हम संक्षेप में कुछ नियतत्ववादियों के मत को निम्न रूप मे देख सकते हैं।

(1) हिपोक्रेटीज(420 ई0 पू0) का मत है कि मानव प्रकृति जलवायु से प्रभावित होती है और मानव प्रकृति ही सरकार को तय करती हैं यूरोप एव एशिया मे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व पाये जाने का कारण उनकी भौगोलिक विषमता है। यूरोप की जलवायु अपरिवर्तनशील होने के कारण वहा के निवासी वीर वलिष्ठ और क्रूर हैं, जबकि एशिया की जलवायु के परिवर्तनशील होने के कारण वहा के निवासी शान्त शिष्ट और दयालु हैं।

अरस्तू ने लिखा था कि यूरोपवासी अपने ठण्डे परिवेश के कारण वहादुर होते हैं, किन्तु विचारों और तकनीकी कौशल की उनमें कमी होती है। इसके विपरीत एशियावासियो में वैचारिक कुशलता तो होती है,किन्तु उनमें उत्साह की कमी पायी जाती है।

स्ट्रेबो ने रोमन सम्राज्य की सफलता का कारण वहां की जलवायु से वताया था।

बांदा जिन्होने राजनैतिक दर्शन मे सर्वप्रथम संम्प्रभुता की अवधारणा प्रस्तुत की, ने ठण्ढे प्रदेश के निवासियों को निर्दय तथा साहसी बतलाया जबकि गर्म प्रदेश के निवासियो को कुटिल प्रतिशोधी किन्तु विवेकशील माना।

मान्टेस्क्यू का मत है कि भौगोलिक पर्यावरण ही मानव के शारीरिक और मानसिक गुणो को विकसित करता है। उनके अनुसार ठण्डे प्रदेशवासी वलवान, धैर्यवान, क्रूर तथा यौन शक्ति में कमजोर होते हैं, जबकि गर्म प्रदेशो मे रहने वाले सामान्यत. भावुक, दुर्वल,कामी, कायर तथा संतोषी होते हैं। इनकी यह भी मान्यता है कि ज्यों-ज्यों हम भूमध्य रेखा की ओर वढतें हैं त्यों-त्यों अपराधों में वृद्धि होती जाती है और ध्रुवों की तरफ बढ़ने पर मद्यपान संवन्धी अपराधों में वृद्धि होती है। पर्वतों पर वैयक्तिक अधिक अपराध होते हैं,जवकि तराई और मैदानों में कम।[68]

क्वेटलेट ने अपराध का ताप संबंधी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, आपका मत है कि गर्म प्रदेश एवं संसार के दक्षिणी भागों में हिंसा, वलात्कार और घातक आक्रमण जैसे अपराध अधिक होते हैं, जवकि ठण्डे और उत्तरी प्रदेशों में चोरी, डकैती व लूटमार जैसे सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं। इस प्रकार मानव का चरित्र भी भौगोलिक

स्थितियों से प्रभावित होता हैं।

इगलिश इतिहासकार थामस वकल ने सस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव का उल्लेख किया हैं उनके अनुसार मनुष्य के व्यवहार से लेकर सभ्यता,धर्म और विज्ञान तक सभी दशाए भौगोलिक पर्यावरण का परिणाम हैं।

पिकरटन के अनुसार भारत की जलवायु ही उसकी कल्पना शक्ति का उर्वर किन्तु विचार शक्ति को कुंठित करती है।

ओशो की मान्यता है कि भारत में सुनिश्चित जलवायु चक्र होने के कारण ही यहा काल की चक्रीय व्याख्या तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ, जबकि पश्चिम की अनिश्चित जलवायु के कारण ही वहां काल ही रैखिक व्याख्या तथा एक जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ।

फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कजिन ने यहा तक कहा कि मुझे एक देश का मानचित्र दे दीजिए, उस देश की स्थिति, जलवायु और समस्त प्राकृतिक उपज, वनस्पति और जीव-जन्तु का विवरण दे दीजिए, मैं पहले ही यह वता देने का दावा करता हूँ कि उस देश के व्यक्ति क्या होगें और उनका इतिहास मे क्या स्थान होगा। यह कथन अल्पकालीन नहीं, अपितु सभी युगो मे सत्य है।[69]

सेवेरिन ने भी ऐसा ही दावा किया- "आप मुझे यह वता दीजिए कि आप क्या खाते हैं और मैं आपको यह बता दूंगा कि आप क्या हैं?"

वास्तव मे चार्ल्स डार्विन द्वारा विकासवाद की अवधारणा प्रस्तुत किये जाने के वाद मनुष्य और पर्यावरण के मध्य अन्त.सम्बन्ध तलाशने की एक प्रवल वैज्ञानिक प्रवृत्ति सी विकसित हो गयी। ग्रासमैन ने कहा है -समकालीन वीसवीं सदी के प्रथम दो दशक डार्विन के सिद्धान्त के तीन पक्षों से प्रभावित थे-

(क) प्राकृतिक नियतत्ववाद

(ख) जैविक अनुकूलनवाद

(ग) परिस्थितिकीय क्रिया प्रतिक्रियावाद

फ्रेडरिक लिप्ले ने वैज्ञानिक सर्वेक्षणों के माध्यम से "स्थान, कार्य, समुदाय, युक्ति" प्रस्तुत की, जिसके अनुसार स्थान मानव के कार्य को तथा कार्य, मानव के समुदाय को प्रभावित करता है। इस संकल्पना को आगे चलकर डि मोलिन्स ने मुखर रूप दिया।

इसके बाद तीन अमेरिकी विचारकों ने विलियम्स डेविस एलेन चर्चिल सेम्पल तथा एल्सवर्थ हंटिंगटन ने पर्यावरणवाद की संकल्पना को और अधिक स्पष्ट किया. सेम्पल ने अपनी पुस्तक 'Inflvences of Geographical Enrironment' में स्पष्ट रूप से कहा कि "मनुष्य धरातल की उपज मात्र है।"

हैटिंग्टन ने तो यहाँ तक कहा कि जलवायु न केवल मानव जीवन को अपितु उसके जन्म को भी प्रभावित करती है। अपनी पुस्तक 'Season of Birth' में उन्होने जनसंख्या और पर्यावरण मे सबध दिखाते हुए कहा कि जनसख्या भी ऋतुओ की तरह परिवर्तित होती रहती है। वे यह भी कहते हैं कि ऋतुओ के अभाव में मानव जाति कभी सभ्य ही नही हो पाती। वे मानसिक क्षमता और तापक्रम मे भी धनिष्ट संबद्ध ा दिखलाते हैं।[70]

फ्रेडिरिक रैट्जेल ने अपनी पुस्तक "The History of Mankind" में कहा है- "हम सदैव पृथ्वी से बँधे रहते हैं और टहनी केवल शाखा पर ही लगती है। मानव प्रकृति अपना सर आकाश मे चाहे जितना उठा ले परन्तु उसके पैरो को सदेव पृथ्वी का सहारा लेना पडेगा और मिट्टी अवश्य मिट्टी में मिलेगी।

हेवुड ने पर्यावरणवाद को अभिव्यक्ति देते हुए कहा है- मनुष्य प्रकृति के अधीन है और उसी के संकेत पर अपना जीवन व्यतीत करता है। संसार एक नाट्यशाला है और पृथ्वी एक रंगमंच है. जिन पर ईश्वर और प्रकृति मनुष्य रूपी अभिनेताओं से अभिनय कराते हैं।

निश्चिय ही हम यहाँ देख सकते हैं कि मनुष्य किस प्रकार नियतत्ववाद से नियतिवाद की ओर अग्रसरित हो जाता है। ज्योतिषीय दृष्टिकोण के कारण मनुष्य पृथ्वी ग्रह की अपेक्षा सुदूर के अन्य ग्रहों से प्रभावित होने की मान्यता स्वीकार करने लगा।

ग्रहनक्षत्रो के प्रभावों के सबध में भी अनेक शोध हुए, जिन्होंने एक सीमातक इन विश्वासो की पुष्टि की।

इस विचारधारा को आनुवंशकी के विकास से गहरा आघात लगा। यद्यपि वह स्वयं आंतरिक नियतत्ववाद का समर्थन करती थी. किन्तु इसने वाह्य नियतत्ववादी विचारधारा के सम्मुख प्रबल चुनौती उत्पन्न की। पर्यावरणवादियों ने तर्क दिया कि वंशानुक्रम स्वयं अतीत का पर्यावरण है। वे मानते है कि "वंशानुक्रम एक क्षमता है जिसे पर्यावरण मे

ही वास्तविक रूप प्राप्त होते है"[71]

वस्तुत वंशानुक्रमवाद के समान ही पर्यावरणवाद भी दूसरी अति पर है। इसी कारण पर्यावरणवाद के समानान्तर ही सम्भावनावादी विचारधारा विकसित हो गयी जिसे फेवर, विडाल डि ला ब्लाश, जीन्स ब्रुक्स इसाया बोमन तथा कार्ल सावर आदि विचारको ने सवर्द्धित किया। फेवर ने स्पष्ट उद्घोष किया।

" कहीं भी विवशताएं नहीं होती अपितु प्रत्येक जगह संभावनाएँ विद्यमान होती हैं और मनुष्य इन संभावनाओ का स्वामी होने के नाते इनके उपयोग के लिए स्वय निर्णायक होता है।'

निश्चय ही यह मत अस्तित्ववाद के अनुकूल था । अनेक अन्य विचारकों ने भी पर्यावरणीय नियतत्ववाद की भिन्न-भिन्न आधारो पर आलोचना की। एल०एफ० वार्ड ने कहा है- "पर्यावरण पशु को वदलता है, जवकि मनुष्य पर्यावरण को"[72] स्वयं हीगल ने कहा है- "मुझसे भौगोलिक नियतत्ववादियो के वारे मे वात मत कीजिए । जहाँ कभी ग्रीकवासी रहते थे, वहां अव तुर्क रहते हैं। इससे ही प्रश्न हल हो जाता है।"[73] डास्टर ने कहा है- "प्रकृति केवल सामग्री प्रदान करती है अपनी आवश्यकताओं, प्रतिभा योग्यता के अनुरूप ही मनुष्य अपने उद्देश्यो के लिए उनका उपयोग करता है।"[74]

स्पष्टत. यह नियतत्ववादी विचारधारा कथमपि मान्य नहीं हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि मनुष्य के जीवन पर कैंची के दो फलकों की भाँति पर्यावरण और वंशानुक्रम दोनों का प्रभाव पड़ता है। जैसा कि मैकाइवर कहते हैं-"जीवन का प्रत्येक लक्षण दोनों की उपज है परिणाम के लिए प्रत्येक उतना ही आवश्यक है, जितना दूसरा। दोनों मे से न किसी को छोड़ा जा सकता है और न ही पृथक किया जा सकता है"[75]

किन्तु यह द्वैतवादी व्यवस्था अस्तित्ववादियों को मान्य नहीं है। वे यह कहते हैं कि मनुष्य को ज्यों ही अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान होता है वह इन वाध्यताओ से मुक्त तो जाता है। सार्त्र ने भी इतना ही कहा है कि "मनुष्य किसी नियति से मुक्त है"[76] संभवतः हम मार्क्स की स्वतंत्रता विषयक अवधारणा से इसे भली प्रकार समझ सकते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्रता एक संज्ञानीकृत अनिवार्यता है।[77] इसका तात्पर्य है कि सामाजिक आर्थिक परिवेश उनके विकास के नियम वस्तुगत होते हैं। प्रकृति के नियमों

में इस वात से कोई अन्तर नहीं पडता कि पृथ्वी पर मनुष्य है या नहीं।"[78] किन्तु जब हम अनिवार्यता के मूल नियमों को समझ जाते हैं तो हमें सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है तब हम उस अनिवार्यता में हस्तक्षेप करने में समर्थ हो जाते है।

यद्यपि मार्क्सवादी धारणा के आधार पर तो अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता किन्तु जहाँ तक प्राकृतिक प्रभावों और तत्व सदर्भ [illegible] की वात है हम उसे वेहतर ढग से समझ सकते हैं. वस्तुत आज हमारा प्रकृति से सवध एक पक्षीय नहीं अपितु द्विपक्षीय हो गया है। आज हम उस स्थिति में हैं जिसमें हम ही प्रकृति पर निर्भर नहीं अपितु प्रकृति भी हमपर निर्भर है।[79] जिस डार्विनवाद के आधार पर पर्यावरणवादी नियतत्ववाद का प्रतिपादन करते हैं, उसमें स्वय प्रकृति और प्राणियो की द्विपक्षीय अन्त क्रिया वर्णित है। वहाँ अनुकूलन का तात्पर्य दो प्रकार के अनुकूलन से था-भौतिक अनुकूलन तथा जैविक अनुकूलन। किन्तु पर्यावरणवादियों ने इसे मात्र एकागी दृष्टि से ही देखा।

वस्तुत पर्यावरणीय नियतत्व की विचारधारा प्राचीन काल मे ही सार्थक हो सकती थी और तत्कालीन विचारकों द्वारा वैसे कारको की खोज अनुचित भी नहीं थी। यह खोज भूगोल से मनुष्य के सवंधो की खोज थी। "ग्रीक विद्वान् हिप्पोक्रेटीज अमेरिकन विद्वान हंटिंगटन एव अंग्रेज इतिहासकार टॉयनवी तक सभ्यता की उत्पत्ति विकास और विनाश के लिए भौगोलिक कारको को ढूँढते रहे हैं वे मत खोजने मे व्यस्त रहे कि क्या कारण है कि कुछ समाज सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये जवकि कुछ आदिम ही रहे और शिक्षा, साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं कर सके? कुछ समाजो के पास भाषा है, पर वर्णाक्षर नहीं, प्रविधियाँ हैं, पर विज्ञान नहीं, दन्तकथायें हैं, पर साहित्य नहीं प्रथायें हैं, पर कानून नहीं धर्म है, पर ईश्वर ज्ञान नहीं, कला है, लेकिन ललित कला नहीं और उदारता है लेकिन दर्शन नहीं।[80]

वे इन भेदों को मानव प्रकृति की अपेक्षा भौगोलिक प्रकृति में खोजने का प्रयत्न करने लगे। संभवत. प्राकृतिक विज्ञानों का यह मानव विज्ञानों में सबल हस्तक्षेप था। आधुनिक पर्यावरणवादियों ने तो प्रवल प्रमाण भी दिये किन्तु इनके प्रमाण अधिकाशत सांख्यिकीय थे। यदि हम 1920 में स्थापित शिकागो सम्प्रदाय के विचारकों के मत को देखें तो यह बात स्वत स्पष्ट हो जाती है।[81] इन सिद्धान्तो में अन्तर्विरोध तो था, किन्तु

एक मौलिकता भी थी, जिसके कारण ये शीघ्र प्रभावी हो गये। सोरोकिन ने इनके विषय में लिखा है- "प्रारम्भ में व्यक्ति इन सिद्धान्तो की मौलिकता और ओज से प्रभावित होता है अध्ययन को जारी रखते हुए वह उनके विरोध एवं अस्पष्टता के कारण उद्विग्न एव चकित हो जाता है और अन्त मे इन सिद्धान्तों के सागर मे [illegible] कि उनमे क्या सत्य है और क्या दुविधापूर्ण भटक जाता है"[82]

स्पष्टत व्यवहार मे स्वयं हम पर्यावरणवादियों की व्याख्या का विरोधाभास देख सकते हैं, इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता ही नहीं है। यदि भौगोलिक पर्यावरण ही सभ्यता को तय करता तो फिर अमेरिका में जहाँ आदिवासी रेड इडियन रहते थे, वहाँ आज विश्व की सर्वाधिक उन्नत भौतिक सभ्यता कैसे विकसित हो सकती थी। कभी सोने की चिड़िया ओर जगद्गुरू कहलाने वाला भारत आज अविकसित राष्ट्र क्यो होता?

वास्तविकता यह है कि पर्यावरण और मनुष्य में अन्त क्रियात्मक संबध रहा है। दोनो ने एक दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। पुरातन काल मे मनुष्य पर पर्यावरणीय शक्तियों का प्रभुत्व था, जब कि आधुनिक काल में पर्यावरण पर मनुष्य का प्रभुत्व विद्यमान है। प्रकृति के प्रति सुरक्षात्मक रूख रखने वाला मानव आज आक्रामक रूख अपना रहा है। उसकी अन्तः प्रकृति ने वाह्य प्रकृति के प्रति विद्रोह कर दिया है। मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों की चुनौतियों को स्वीकार किया है, प्राकृतिक आपदाओं का सबल प्रतिकार किया है। प्रकृति पर उसकी विजय ने ही उसके विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। ओशो ने ठीक ही कहा है "प्रकृति हमें निर्धारित करती है, किन्तु हम भी लौटकर प्रकृति को निर्धारित करते हैं। आज जमीन पर जो भी डायनामिक सोसायटी है उन्होंने बहुत दूर तक प्रकृति को निर्धारित किया है। जो स्टेटिक सोसायटीज हैं, वे प्रकृति से निर्धारित होती चल रही हैं। प्रकृति निर्धारित करती है, लेकिन इतना निर्धारित नही करती जितना हम मान लेते है। पचास प्रतिशत शायद वह निर्धारित करती है, पचास प्रतिशत हमारी धारणाएँ निर्धारित करती हैं कि हम क्या होंगे।"[83]

वस्तुत. हम प्रकृति और मनुष्य के बीच प्रभावो का कोई सुनिश्चित अनुपात तो निर्धारित नहीं कर सकते, किन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि हम प्रकृति पर आधारित हैं, उससे निर्धारित नहीं। जैसे-जैसे प्रकृति में सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान वढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हममे प्रकृति को वदलने की क्षमता वढ़ती जाती हैं। अगर काव्यात्मक

ढग से कहें तो हम कह सकते हैं कि कल "प्रकृति केवल हमारी जमीन होगी हमारा आकाश नहीं"।

८. *मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद*

मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठ भूमि मे व्युत्पन्न विचारधारा है। विशेपत फ्रायड के उपरान्त अचेतन मन के संदंध में जो धारणाएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्होंने व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके अतीत से अनिवार्य रूप से जोड दिया यह विचारधारा अस्तित्ववाद की दृष्टि से इस कारण विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि अनेक अस्तित्ववादियो का मनोविज्ञान से गहरा जुडाव रहा है। यद्यपि एक अर्थ मे अस्तित्ववाद मनोवैज्ञानिकता के विरूद्ध रहा है, किन्तु मानसिक भावो के निरूपण मे, चेतना के विश्लेपण मे वे मनोविज्ञान के अत्यन्त निकट रहे हैं। हुसर्ल का ब्रेटानो और वुण्ट के माध्यम से मनोविज्ञान से गहरा जुडाव रहा है। कार्ल जास्पर्स ने मनोविज्ञान के अध्यापन के साथ-साथ मनोविज्ञान और मनोचिकित्सा पर दो अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तके Verstehande Psychology तथा General Psychopathology) भी लिखीं। सार्त्र ने एक नये प्रकार का मनोविज्ञान ही विकसित करने का प्रयास किया है। Being and Nothingness लिखने से पूर्व वह एक मनोवैज्ञानिक के रूप में भी प्रसिद्ध हो चुके थे। मॉरिस मार्लियो पोंती ने फेनोमेनोलॉजिकल मनोविज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नीत्शे मनोविज्ञान को सभी समस्याओ के अपने उपागम का आधार बनाता है।[84]

वास्तव में 19वीं शताव्दी के अन्त में पशिचमी दर्शन में मनोविज्ञानवाद का वोलवाला था। उन दिनो भौतिक विज्ञानों के साथ- साथ मनोविज्ञान का भी द्रुतगति से विकास हो रहा था। दार्शनिकों ने मनोविज्ञान की उपलव्धियो से प्रभावित होकर उसे तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा का आधार वनाने का प्रयत्न किया। इससे अध्यात्मवादी दर्शन को वल मिला। इंग्लैण्ड में जे एस. मिल और जर्मनी में वुण्ट सिजवर्ट और लिप्स इसके समर्थक थे मिल समझते थे कि तर्कशास्त्र मनोविज्ञान का एक अंग है और उसे मनोविज्ञान से ही सैद्धान्तिक आधार प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार लिप्स का कहना था कि तर्कशास्त्र मनोविज्ञान की ही एक शाखा है। मनोविज्ञान मानव विचारों का अध्ययन उसी रूप में करता है जैसे वे हैं और तर्कशास्त्र यह बताता है कि मानव विचार किस प्रकार होने

चाहिए।[85]

मनोविज्ञान का दर्शन में प्रयोग कोई नयी वात नहीं थी। प्रारम्भ मे दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही मनोविज्ञान का भी अध्ययन किया जाता था। मन-शरीर द्वैत संबंधी समस्याओ पर आधुनिक काल मे देकार्त, स्पिनोजा, लाइवनित्ज लॉक, ह्यूम आदि ने गहन विचार किया था। यद्यपि मन संवंधी वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा वुण्ट से ही प्रारंभ हो चुकी थी, किन्तु फ्रायड की मनोविश्लेपणात्मक विचारधारा के आगमन के साथ ही मनोविज्ञान मे एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात हो गया। फ्रायड की अचेतन मन की अवधारणा ने मनुष्य के व्यक्तित्व को उसके अतीत से उसकी अज्ञात प्रवृत्तियो से जोड दिया। यद्यपि फ्रायड ने काम- भाव को स्वचालित तनाव निष्कासन से जोडकर उसे धार्मिकता और नेतिकता से मुक्त कर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया।[86] किन्तु उसने मनुष्य को सर्वयौनवाद (Pansexnalism) की अवधारणा दे दी। उसने अतीत की रूढियो से तो मुक्ति प्रदान की, किन्तु मनुष्य के अचेतन में एक नये ढग से अतीत समाविष्ट कर दिया। अन्तत फ्रायडवादी मनोविज्ञान हमे मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद की ओर अग्रसरित कर देता है। मुशी एवं निगम ने भी कहा है कि "पूरे फ्रायडवाद से अनेक मौलिक सिद्धान्तों पर विचार करने से पूर्व हमें एक वात याद रखनी चाहिए कि उसकी संपूर्ण विचारधारा मानसिक नियतिवाद या कार्य- कारणवाद पर आधारित ओर उसी की पोषक है।"[87] R S वुडवर्थ ने मानसिक नियतत्ववाद की फ्रायडवाद के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए कहा है-" नियतत्ववाद एक विश्वास अथवा स्वयसिद्ध वैज्ञानिक प्रमाण होता है और वह यह है कि प्रकृति की समस्त घटनाओं के पर्याप्त कारण होते हैं। मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे इसी नियतत्ववाद को लागू करने का यह अर्थ होगा कि मनुष्य के जितने भी व्यवहार होते हैं, चाहे शारीरिक हों, चाहे मानसिक, उन सवके पीछे पर्याप्त कारण अवश्य होगे, यह और वात है कि उसके शरीर और वातावरण की अत्यन्त पेचीदगी के कारण हम उन्हें ठीक-ठीक न जान सकें। इसलिए फ्रायड की विचारधारा में स्वतंत्रेच्छा का अधिक स्थान नहीं है। उसकी यह आवश्यक पूर्व मान्यता है कि प्रत्येक मानवीय व्यवहार के पीछे कोई न कोई उद्देश्य या प्रेरक अवश्य होता है, और वह यदि ज्ञात नही तो अज्ञात चेतन, नही तो अचेतन होगा।[88]

वस्तुतः फ्रायड की स्पष्ट मान्यता है कि मनुष्य के मन की व्यवस्था भी कार्य-कारण

के उन्हीं नियमों और कानूनों के अन्तर्गत होती है, जो कि समस्त जगत् अथवा प्रकृति का नियन्त्रण तथा सचालन करते हैं। ऐसी स्थिति मे किसी भी घटना को चाहे वह कितनी ही मामूली और नगण्य क्यो न हो, अकस्मात या अकारण ही नही कहा जा सकता। हमारी जुबान से जाने-अनजाने, गलत-सही गम्भीरता पूर्वक या मजाक में जो कुछ भी निकलता है, हमारे सपनों का अल्पाश तक और मानसिक रोगी के हर लक्षण तक का कोई न कोई कारण अवश्य होता है और उसका पता लगाया जा सकता है।[८९]

फ्रायड ने अपनी इस मान्यता कि सिद्धि मान के त्रिस्तरीय वर्गीकरण के द्वारा की जोकि एक सीमा तक लाइबनित्ज से प्रभावित थी। फ्रायड के अनुसार हमारे मन के दो आयाम होते हैं-गत्यात्मक और स्थैतिक ,और इन दोनोंके तीन-तीन विभाग होते हैं। स्थैतिक दृष्टि से मन के तीन हिस्से हैं-चेतन, उपचेतन तथा अचेतन। गत्यात्मक दृष्टि से मन के तीन भाग हैं-इदम (Id), अहम (Ego) तथा पराहम (Super Ego) फ्रायड के अनुसार मनुष्य के चेतन समझे जाने वाले अनेक व्यवहार उसके अचेतन से प्रादुर्भाव तथा नियन्त्रित होते हैं। हमारा चेतन मन हमारी सजग अवस्था और हमारी वर्तमान काल से संबंध रखता है जबकि हमारा अचेतन मन हमारी मूल प्रवृतियां और अतीत काल से संबंध रखता है। मनुष्य का इदम भी मूलत. अचेतन से सबद्ध होता है और यह उन इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करता है, जिनका यथार्थ, नैतिकता, सामाजिकता से कोई संबंध नहीं होता। यहाँ वे प्राथमिक इच्छाएं होती हैं जिन पर कोई शर्त नहीं होती है।

जैंगविल ने अचेतन के अन्तर्गत चार प्रकार के भावो को रखा है। प्रथम -अत्यन्त पिछड़ा हुआ आदिम रूप का चिन्तन इस पर इच्छा और प्रभावशीलता का नियन्त्रण रहता है और यह चिन्तन चेतना में ऐसे छद्‌म रूपो में व्यक्त होती है कि सोचने वाला धोखा खाकर उसकी असलियत और अहमियत को नही पहचान पाता है।

द्वितीय- मूल प्रवृत्तियाँ और उनसे सम्बद्ध सहज मनोवृत्तियाँ।

तृतीय- ऐसी विरोधी शक्तियाँ, जो उक्त सहज प्रवृत्तियों का विरोध करती हैं।

चतुर्थ- बचपन की अवशिष्ट अनुभूतियाँ तथा स्मृतियाँ।[९०]

यद्यपि यह सब उपक्रम हमारे सीधे-सादे स्पष्ट अनुभव क्षेत्र की सीमा से बाहर होते हैं, हम इन्हें महसूस नहीं कर पाते हैं, लेकिन फिर भी अनेक अनुसंन्धानों तथा

प्रयोगो में इन्हे सही सिद्ध पाया गया है।

फ्रायड ने काम वृत्ति (libido) को मूल प्रवृत्ति माना है और इसी को मनुष्यों के समस्त व्यवहार का कारक सिद्ध किया है। इसी विचारधारा को राबर्टस सी सोलोमन ने सर्वयौनवाद (Pansexualism) की संज्ञा दी है।[91] फ्रायड के अनुसार इस काम वृत्ति के अनुरूप ही मनुष्य के व्यक्तित्व का क्रमश वर्गीकृत विकास होता हैं, जिसे उन्होने पॉच अवस्थाओ –मौखिक (oral) वायु (Anel) और (phallic), अव्यक्त (latent) तथा जननेन्द्रिय (genital) अवस्था में बॉटा है। यह व्यक्तित्व का विभाजन बहुत कुछ वैसा ही जैसा कि मार्क्स ने अर्थ के आधार पर समाज का पाँच अवस्थाओ मे वर्गीकरण किया था।

फ्रायड ने यह स्पष्ट किया कि अचेतन में इदम के माध्यम से उद्‌भूत होने वाली वृत्तियों का वास्तविकता से कोई सबंध नहीं होता, ये अस्तित्व में ही विद्यमान होती हैं। किन्तु यथार्थ के धरातल पर सामाजिक बन्धनों और नैतिक मर्यादाओं के कारण इदम के विरूद्ध निषेधक के रूप मे अहम तथा पराहम विकसित हो जाते हैं। यहॉ अहम औचित्यपरक निर्णय अथवा अचेतन की वृत्तियों के उपयुक्त चयन का कार्य करने लगता है तथा वह इदम और पराहम का मध्यस्थ हो जाता है। फ्रायड ने इदम को मुख्यत शरीरानुकूल, अहं को परिवेशानुकूल तथा पराहम को समाज एव सस्कृति के अनुकूल माना है। मन की इस चयनात्मक शक्ति को उन्होने प्रतिबन्धक (censor) की सज्ञा दी हैं।

किन्तु अहम् द्वारा मूल वृत्तियों का यह निषेध उन्हे केवल दमित कर पाता है, उन्मूलित नहीं कर पाता। और यह दमन अन्तत· मानव व्यवहारों में विचलन (per version) का कारक बनता है। ये दमित वृत्तियॉ कल्पना, स्वप्न आदि से लेकर शारीरिक व्यवहार तक प्रच्छन्न रूप से प्रकट होती रहती है। इन्हीं माध्यमों से इन दमित विचारों को अभिव्यक्ति मिलती रहती है। हमारा कोई भी व्यवहार मूलतः इन वृत्तियो से ही संचालित होता रहता है। जिन स्वप्नों ,विचारों, कल्पनाओ या वाक त्रुटियों को हम अकारण समझते हैं, वे भी किसी न किसी रूप मे अप्रकट ढग से इन वृत्तियो से जुड़े होते हैं। इसी कारण फ्रायड यह भी कहते हैं कि मनुष्य के कार्य प्राय अविवेकपूर्ण ही होते हैं। मनुष्य कार्य अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप ही करता है, किन्तु उसे

बाद मे तर्क से पुष्ट करने लगता है। प्रवृत्ति प्रथम होती है, तर्कबुद्धि परवर्ती।

फ्रायड ने बाद मे मानव की मूल वृत्तियों को दो भागो मे वर्गीकृत कर दिया। जिजीविषा (इरोज) तथा मुमूर्षा (थानारोज)। जिजीविषा काम-वृत्ति के साथ ही जीवन के सभी सृजनात्मक भावो के साथ जुड़ी है। मुमूर्षा, आक्रमण, हिसा, आत्महत्या, तथा हत्या समेत जीवन के सभी विध्वसात्मक भावो के साथ जुड़ी है। फ्रायड ने यहॉ आकर मानव की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को अधिक स्पष्ट कर दिया है। मुशी और निगम के शब्दो मे "जिस प्रकार मनुष्य के जिंदा रहने और विकसित होते रहने की वास्तविकता की व्याख्या करने के लिए फ्रायड ने जिजीविषा की आधारभूत स्थापना की थी, उसी प्रकार मनुष्य के इस अवसानोन्मुख होते रहने और अन्त में समाप्त हो जाने की वास्तविकता की व्याख्या करने के लिए उसने एक दूसरी मुमूर्षा या मरणात्मक मूल प्रवृत्ति की अवध ारणा की स्थापना की। इस मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत वे सभी व्यवहार आते हैं जो मनुष्य को पतन और विनाश की ओर ले जाते हैं। इस सम्वन्ध मे यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य केवल रचनात्मक कार्य ही नहीं, विनाशात्मक कार्य भी करता है, वह प्रेम भी करता है, घृणा भी, वह चीजे बनाता भी और बिगाडता भी, वह दूसरो से मित्रता भी करता है और शत्रुता भी। यह शत्रुता या आक्रमण प्रेम की ही भॉति वह औरो के प्रति भी करता है और स्वयं के प्रति भी। अर्थात वह परहत्या एवं आत्महत्या दोनो करता है। मनुष्य के इसी प्रकार के व्यवहारों देखकर फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला और स्थापना की कि जिस प्रकार मनुष्य में सृजन या रचना करने की जिजीविषात्मक प्रवृत्ति मूल होती है, उसी प्रकार विनाश और नष्ट करने की मुमूर्षात्मक प्रवृत्ति भी मूल होती है।[92]

ओशो ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि –"सिगमंड फ्रायड की गहनतम खोज दो आकांक्षाओं के संवंध मे है-जीवेषणा और मृत्यु-एषणा। आदमी जीना भी चाहता है, इसकी भी वासना है और आदमी के भीतर मरने की भी वासना है । यह दूसरा सूत्र समझना कठिन है लेकिन अनेक कारणों से दूसरा सूत्र भी उतना ही. अपरिहार्य है जितना पहला। हर आदमी जीना चाहता है इसमें तो कोई शक नहीं है। जीने की आकांक्षा सभी को जन्म के साथ मिली है। लेकिन दूसरी आकांक्षा, जो जीने के विपरीत है, जो मरने की आकांक्षा है वह भी हर आदमी के भीतर छिपी होती है। इसीलिए कोई

आत्मघात कर पाता है, अन्यथा आत्मघात असंभव हो जाये"।

तो फ्रायड चालीस वर्षों तक निरन्तर लोगों का मनोविश्लेषण करके इस नतीजे पर पहुँचा कि लोगो को पता नहीं है कि उनके भीतर मृत्यु की आकांक्षा भी है। पर हालात ऐसी है कि जैसे एक सिक्का है और उसके दो पहलू होते हैं। जब एक पहलू ऊपर होता है तो दूसरा नीचे दबा होता है और जब दूसरा ऊपर आता है तो पहला नीचे चला जाता है। कभी-कभी किसी बेचैनी में, किसी उपद्रव में, किसी अशान्ति मे सिक्का उलट जाता है, जिन्दगी की आकांक्षा नीचे और मृत्यु की ऊपर आ जाती है। बूढे आदमी में मृत्यु की आकांक्षा ऊपर आ जाती है, जीवन की आकांक्षा नीचे दब जाती है। लेकिन कभी-कभी वासना के उदाम प्रवाह मे सिक्का उलट जाता है और बूढा भी जीना चाहता है। लेकिन एक ही वासना का आपको पता चलेगा, दोनों एक साथ आपकों दिखाई नहीं पड सकतीं, क्योकि एक ही पहलू आप देख सकते हैं।"[93]

इस प्रकार फ्रायड एक द्वैतवादी के रूप में मानव व्यवहार की व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसकी दृष्टि में मानव एक द्वन्द्वात्मक विकास की श्रृंखला बन जाता है और उसका यह विकास एक प्रकार की संचयी बारंबारता लिए हुए होता है, क्योकि अतेत की स्मृतियाँ, अतीत के व्यवहार, अतीत के दमन सदैव हमारे अचेतन मे संगृहीत होते हुए हमारे वर्तमान और भविष्य के व्यवहारो के नियामक बन जाते हैं।

फ्रायड की व्याख्या अत्यन्त विवादास्पद किन्तु प्रभावी सिद्ध हुई है। मार्क्स की अर्थ केन्द्रित व्याख्या की भाँति फ्रायड की काम केन्द्रित व्याख्या का भी जीवन के सभी क्षेत्रों मे प्रयोग किया जाने लगा। मनुष्य की धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थाएं ही फ्रायडवादी मनोविज्ञान का विषय बन गयीं। कामवृत्ति वैयक्तिक चेतना के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था का मूल बन गयी। जिस प्रकार हीगेल के दर्शन में बुद्धि वैक्तिकता का अतिक्रमण सार्वभौम हो गयी। उसी प्रकार फ्रायड की विचारधारा मे कामवृत्ति सार्वभौम हो गयी। मनुष्य की प्रवृत्ति ही उसकी नियति बन गयीं ।

जान बार्थ ने इस सर्वयौनवाद की आलोचना करते हुए कहा-"फ्रायड की यह व्याख्या है कि जगत् की सारी वस्तुएं इतिहास की आंतरिक चक्रीय गतिविधियां काम-नृत्य का ही रूप बन जाती हैं। यह जो तानाशाह यहूदियों को जलाते हैं, व्यापारी रिपब्लिकन को वोट देते हैं, नाविक जहाज चलाते हैं, स्त्रियाँ ताश खेलती हैं, लड़कियां

व्याकरण पढती हैं, लडके इन्जीनियरिंग करते हैं-सब जननेन्द्रियो का निर्देश है। एक सहवास नगरो और साम्राज्यो का उद्‌भव करता है, निबन्धों और कविताओ की रचना करवाता है, दौड़ तथा युद्धकौशल विकसित करता है, आध्यात्म और जल-कृषि विकसित करता है, व्यापार संघ और विश्वविद्यालय बनवाता है।[94] तब विश्व क्या एक चिकित्सकीय भाव बन जाता है? [95]

यदि फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के बजाय उनके स्नायुशारीरिक सिद्धान्त को लिया जाय, जिसे उन्होंनें 1893 में प्रकाशित अपनी पुस्तक Psychic Mechanisms में प्रतिपादित किया था तो भी वह एक प्रकार का "मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद"[95] ही प्रस्तुत करता है वहा मन स्नायुतत्रो का उद्‌दीपन होने पर भी स्वय की सम्प्रभुता स्थापित किए है । इसे मनोविज्ञान और स्नायुतत्र विज्ञान का एक व्यामिश्र कह सकते हैं, जिसे फ्रायड की विज्ञानों की एकता और मन शरीर तंत्र की व्यवस्था की भौतिकवादी मान्यता का परिणाम मान सकते हैं।[96]

फ्रायड ही नहीं, उनके परिवर्ती एडलर तथा युंग तक ने एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक नियतत्ववाद की ही पुष्टि की है। एडलर ने अपने वैयक्तिक मनोविज्ञान में "हीनता की ग्रन्थि" और "शक्ति की आकाक्षा" को समग्र व्यक्तित्व का निर्धारक बना दिया है। यहां मानव व्यक्तित्व एक निरन्तर क्षतिपूर्ति बन जाता है। युंग ने तो विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में अचेतन में "सामाजिक अचेतन" की अवधारणा समाहित कर दी। फ्रायड में समाज जहॉ पराहम् के माध्यम से निर्धारक था, वहॉ युग में वह इदम के माध्यम से ही अचेतन मे समाविष्ट हो गया। यह एक व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक ढंग से सामाजिक निर्धारण था।

मानसिक नियतत्ववाद का एक भिन्न रूप हम मनोविज्ञान मे प्रतिवर्ती क्रिया के अनुकूलन सिद्धान्त में भी देख सकते हैं। पावलोव का यह सिद्धान्त एक प्राविधिक सिद्धान्त है और मन को शरीर से निर्धारित करने का प्रयास करता है। कुत्ते की ग्रन्थियो से उसके व्यवहार का सबंध तथा अनुकूलित प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा भिन्न् विषयो से भिन्न व्यवहारों का संबंध यह सिद्ध करता है कि शारीरिक तत्व ही मानसिक भावों के निर्धारक होते हैं। पावलोव के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि प्रतिवर्ती क्रिया को उसने सम्पूर्ण मानसिक क्षेत्र पर लागू करने का प्रयास किया है और कथित मानसिकता के

शारीरिकता मात्र से अधिक न होने मे उसे पूर्ण विश्वास है। पावलोव ने अन्तर्दृष्टि, चिन्तन तथा भावना और कल्पना जैसी धारणाओं का जोरदार खण्डन किया है।[97] स्पष्टतया. यह अवधारणा फ्रायडवादी अवधारणा के विपरीत एक भिन्न दिशा में नियतत्ववाद का प्रतिपादन करती है। फ्रायड में मन प्रथम है जबकि पावलोव में शरीर।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अस्तित्ववाद मनोविज्ञान के विरूद्ध क्यों है? मनोविज्ञान मानव की नियतात्मकता का एक परोक्ष द्वार खोल देता है। विशेषत फ्रायड के मनोविश्लेषण के बाद यह प्रवृत्ति अधिक मुखर हो गयी। पाल रूविचेक ने ठीक ही कहा है –" मनोविश्लेषण असाधारण ढंग से मनोविज्ञान की एकपक्षता में वृद्धि करता है। इसका मूल आवेग इसलिए था कि उन अवचेतन कारको के कारण उत्पन्न सभी अवरोध दूर हो जाए, जिनसे यथोचित रूप मे सामना करने में रोगी असमर्थ रहता है जिससे उसके निर्णय और कार्य करने की स्वतत्रता लौट आए। अच्छे डाक्टर अभी भी इसका इस प्रकार प्रयोग करते हैं। किन्तु अगर आप सैद्धान्तिक मनोविश्लेषणवादी लेखो को देखेगें तो आप पायेंगे कि इन मौलिक अभिप्रायों के बावजूद वे नियतत्ववाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। वे मुख्य रूप से यह बताते हैं कि हम ऐसे कारको पर जैसे बचपन की अनुभूतियो पर कितने आश्रित हैं, जिन पर हमारा कोई प्रभाव नहीं था और अवचेतन में ये कारक किस प्रकार का कार्य करते हैं, स्वतंत्र कार्यों को करने से रोकते हैं।

"सच तो यह है कि मनोविश्लेषण का विकास अपने ही आधारभूत सिद्धान्त की चुनौती के रूप में हुआ है और इसने संकल्प स्वातंत्र्य में किसी भी आस्था के विरूद्ध कुछ सबसे दृढ युक्तियॉ प्रस्तुत की हैं। यह वैज्ञानिक विधि का स्वाभाविक परिणाम है।[98]

वस्तुत मनोविज्ञान का यह नियतत्ववाद स्वयं ही अपूर्ण, अपर्याप्त तथा आत्मविरोधी है।" मनोविज्ञान का सबध इन बातों से है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, कैसे क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, इसका संबंध उन मूल संप्रत्ययो से नहीं है, जिन्हे हम प्रयोग में लाते हैं। यह इस बात की व्याख्या करता है कि हम मूल्यों का उपयोग और दुरूपयोग कैसे करते हैं, यह मूल्यों की व्याख्या नहीं करता है। यह निर्णय करने की प्रक्रियाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। उन मानदण्डों की रूपरेखा नहीं, जिन पर हम अपने निर्णयों को आधारित करते हैं। अतः यद्यपि यह इस बात को तो दिखला

सकता है कि हम कब स्वत्रंत रूप से कार्य नहीं कर सकते, किन्तु यह उसी रूप मे स्वतंत्रता के बारे में कुछ कहने में असमर्थ है।[99]

अन्तत हमे देखना होगा कि क्या किसी भी प्रकार का वास्तविक नियतत्ववाद स्थापित किया जा सकता है? रूचिबेक कहते हैं कि "नियतत्ववाद को पूर्णत स्वीकार करना मनुष्य की शक्ति से असभव है। नियतत्ववाद का अर्थ यह होता है कि इच्छा स्वातंत्र्य का अस्तित्व नहीं है क्योंकि सभी घटनाएं, जिनमे मनुष्य की ऐसी क्रियाएं भी शामिल हैं जो स्वतत्र क्रियाएं प्रतीत होती हैं बाह्य आवश्यकताओं से निर्धारित होती हैं किन्तु व्यवहार के धरातल पर ये सिद्धान्त अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं, यहा तक कि तार्किक विचारकों और दार्शनिको को भी अतत आत्मनिर्धार्यता की ओर अग्रसरित होना पड़ता है। धर्म में ईश्वर या भाग्य को मनुष्य का निर्धारिक माने जाने पर भी उनके सभी उपदेश मनुष्य से अपील करते हैं कि वह इस उद्देश्य के अनुरूप कार्य करे अर्थात वे उसके इच्छा स्वातंत्र्य से अपील करते हैं। जुलियन हक्सले अंधशक्तियों और यद्दच्छाओं के पक्ष में प्रयोजन को अस्वीकार करता है फिर भी वह हमसे इस बात की अपेक्षा करता है कि हम सुजनन विज्ञानों को काम मे लाये।"[100] कार्ल मार्क्स, जिनके लिए साम्यवाद उद्देश्य या आदर्श नहीं है, प्रत्युत "आवश्यकता से उत्पन्न घटनाओं का वास्तविक प्रवाह है। अपने अनुयायियों से यह चाहता है कि वह क्राति करें। अतः इसमे आश्चर्य की बात नहीं कि रूविचेक अन्तत. निष्कर्ष देते हैं कि" जो सिद्धांत नियतत्ववाद का समर्थन करते हैं, वे वास्तविक रूप से उत्तरदायित्व की उस अनुभूति की सत्ता के लिए सबसे अनूठा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जो स्वतंत्रता की पूर्व कल्पना करती है।"[101]

वस्तुत· अस्तित्ववाद नियतत्ववाद और अनियतत्ववाद दोनो के विरूद्ध है। यद्यपि अस्तित्ववाद की सामान्य अवधारणाओं से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह अनियतत्ववादी है, किन्तु वह आत्मनियतत्ववादी दार्शनिक विचारधारा है। नियतत्ववाद के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों और इच्छाओं के लिए पूर्व निर्धारित है, अनियतत्ववाद के अनुसार अनिर्धारित किन्तु आत्मनियतत्ववाद के अनुसार वह आत्म निर्धारित है। नियतत्ववाद तथा अनियतत्ववाद दोनों एकान्तवादी दोष से ग्रस्त हैं। अर्डमन का विचार है कि नियतत्ववाद की इच्छा वह इच्छा है जो इच्छा ही नहीं करती। अनियतत्ववाद की इच्छा वह इच्छा है जो इच्छा तो करती है पर किसी चीज की नहीं।[102]

नियतत्ववाद इच्छाहीन वस्तु को स्वीकार करता है जवकि अनियतत्ववाद वस्तुहीन इच्छा को। अनियतत्ववाद 'स्व' पर इतना बल देता है कि तंत्रता को भूल जाता है और नियतत्ववाद तंत्रता पर इतना जोर देता है कि वह स्व को उपेक्षित कर बैठता है। पहला स्वतंत्रता को अतंत्रता समझता है और दूसरा उसे परतंत्रता समझ बैठता है। स्वतत्रता न तो अतंत्रता है और न ही परतंत्रता, अपितु वह आत्मतंत्रता है। जगत मे आत्म की अनुभूति से ज्ञात स्वतंत्रता है। इसीलिए स्टीवंसन ने भी कहा है-"यदि मनुष्य की चयन क्रिया अनिर्धारित होती तो सैद्धान्तिक दृष्टि से भी उसके विषय मे कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति मे मनुष्य स्वयं यह न जान सकता कि वह भविष्य मे क्या निर्णय करेगा और न वह अपने इस निर्णय को रोकने का उपाय कर पाता। उसका निर्णय उसके व्यक्तित्व का परिणाम न होकर केवल शून्य से उत्पन्न होता। तव मनुष्य निर्धारक परिस्थितियो का शिकार न होकर आकस्मिकता का शिकार होता।[103]

नावेल स्मिथ ने भी कहा है, यद्यपि मनुष्य के कर्म उसकी रूचियो तथा उसके चरित्र द्वारा पूर्णतया निर्धारित होते हैं, फिर भी वे स्वतत्र है, यह कथन कि मनुष्य के समस्त कर्म उसके स्वभाव तथा चरित्र द्वारा निर्धारित होते है, इस कथन के समान कदापि नहीं है कि वह भाग्य के हाथों में एक मोहरा अथवा अनिवार्यता के लौह-पाश में एक बंदी मात्र है। इसका अर्थ केवल यही है कि जो मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र को भली-भांति जानता है, वह उसके कर्मों के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है।[104]

इन्हीं अर्थों में सार्त्र भी कहते हैं- "नियतिवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है-मनुष्य मुक्त है, मनुष्य मुक्ति है"।[105] पहले मनुष्य है उसके बाद ही वह कुछ है। मनुष्य को अपने तत्व का स्वयं निर्माण करना होगा। "मनुष्य नहीं" है, अपितु वह स्वयं का निर्माण करता है।" मेरे अतीत के साथ भी यही बात है। वह निर्विकार रूप से निर्धारित प्रतीत होता है, लेकिन इसके प्रति मे जो अभिवृत्ति ग्रहण करता हूँ, उससे मैं इसे रूपान्तरित कर सकता हूँ।" इस प्रकार 'मैं' अपनी सत्ता में स्वयं का वरण नहीं करता प्रत्युत्त सत्ता बनने की रीति में वरण करता हूँ।"[106]

किन्तु जब वे मनुष्य को अवस्तुता कहते हैं तो क्या यह समग्र अनियतत्ववाद नहीं हो जाता। सार्त्र, हाइडेगर और काम जिस रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता को परिभाषित करते हैं क्या उसका पर्यवसान 'अतंत्रता में नहीं हो सकता? क्या हम अपने स्वतंत्रवरण

को अवसरवाद का रूप नहीं दे सकते? कामू स्वयं इन प्रश्नों को उठाते हैं-"अगर हम अवस्तु में विश्वास करते हैं, अगर अवस्तु का अर्थ है और हम किन्हीं मूल्यो की पुष्टि नहीं कर सकते तब प्रत्येक वस्तु सभव है। अवस्तु का कोई महत्व है तो हत्यारा न तो उचित होता है और न अनुचित। अशुभ और शुभ केवल यदृच्छा या स्वेच्छा है।" [107]

संभवत. स्वतंत्रता का सप्रत्यय अस्तित्ववाद में एक द्वंद्वात्मक स्थिति मे फॅस जाता है। नियतत्ववाद के निषेध में उसे अनियतत्ववाद की ओर गमन करना पडता है। वह एक ओर सामाजिक नियतत्ववाद का निषेध करता है दूसरी ओर यह भी कहता है कि "मनुष्य न केवल स्वय के प्रति उत्तरदायी है अपितु वह सम्पूर्ण समाज के प्रति उत्तरदायी है।"[108]

इसी विरोधाभास की स्वीकृति देते हुए सार्त्र कहते हैं- "स्वतंत्रता का यह विरोधाभास है कि प्रत्येक स्वतंत्रता एक परिस्थिति में ही होती है और प्रत्येक परिस्थिति स्वतंत्रता के माध्यम से ही होती है। मानवीय वास्तविकता सर्वत्र उन प्रतिबंधों और बाधाओं से टकराती है जिनको उसने स्वयं सर्जित नहीं किया है किन्तु ये प्रतिबंध और बाधाएं भी उस स्वतंत्रवरण द्वारा ही अर्थ प्राप्त करती है, जो मानवीय वास्तविकता है।"[109]

स्वतंत्रता के वरण और वरण की स्वतंत्रता का ही एक दूसरा पहलू उत्तरदायित्व का है। व्यक्ति की स्वतंत्रता उसे समस्त के लिए और समस्त के प्रति उत्तरदायी बनाती है। उसकी स्वतंत्रता एक प्रतिबद्धता के रूप में एक आन्तरिक दायित्व के रूप मे सामने आती है। नियतत्ववाद व्यक्ति को इस दायित्व से मुक्त कर देने का, उस पर आवरण डाल देने का कार्य करता है। वह जिम्मेदारी को स्वयं से हटाकर अन्य के कंधों पर रख देता है। वह आत्मचेतना की बजाय आत्म प्रवंचना का मार्ग बन जाता है। वह सत्य से प्रतिबद्ध करने की बजाय असत्य से आबद्ध कर देता है। ओशो ने ठीक ही कहा है-"मार्क्स और फ्रायड इन दो के तालमेल से एक अद्‌भुत स्थिति पैदा हो गयी है। मार्क्स ने कह दिया कि जो भी हो रहा है, उसके लिए जिम्मेवार प्रकृति है। आदमी बाहर हो गया। अगर एक आदमी चोरी कर रहा है, तो जिम्मेवार समाज है। अगर एक आदमी हत्या कर रहा है तो जिम्मेवार समाज है। ऐसा मार्क्स ने कह दिया, व्यक्ति के ऊपर कोई जिम्मेवारी नहीं है, सोशल रिस्पोंसिबिलिटी है। इसलिए अगर व्यक्ति को बदलना है, तो समाज को बदलो। और जब तक समाज नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति

जैसा है वैसा रहेगा। इसकी हम उसे लाइसेस दे देते हैं।

व्यक्ति बड़ा प्रफुल्लित हुआ। हजारों साल की जो चिंता थी उसके दिमाग से गिर गयी। ये कृष्ण ने महावीर ने, बुद्ध ने आदमी को बड़ी भारी चिता, बड़ी एग्जाइटी दे दी थी कि तुम जिम्मेवार हो। चिन्ता गिर गयी। व्यक्ति बडा निश्चिंत हुआ। लेकिन उस निश्चिंतता से व्यक्ति सिर्फ वही रह गया, जो कोयला था। उससे बाहर की यात्रा बद हो गयी। निश्चित ही, कोयले को हीरा बनना हो तो चिता से गुजरना पडेगा। लाखों साल की लम्बी यात्रा है।

फिर फ्रायड ने लोगो को कह दिया कि समाज भी बदल डालो तो भी कुछ होने वाला नहीं है। क्योकि रूस मे क्रोध कम हो गया? कि रूस का अहंकार कम हो गया? कि रूस का नागरिक किसी भी तरह से आदमियत के तल पर बदल गया है? कुछ भी नहीं बदला। फ्रायड ने कहा, समाज वगैरह को बदलने का सवाल नहीं है। जिम्मेवार स्वभाव है, नेचर है।" [110] निश्चय ही, इस प्रकार की नियतिवादिता घोर प्रवंचना है, मानव की अस्मिता का तिरस्कार है उसके अस्तित्व का निषेध है, उसकी स्वतंत्रता का हनन है। अस्तित्ववाद का मूल्य इसी स्वतंत्रता की स्थापना में है। यह स्वतंत्रवरण के माध्यम से मनुष्य के उत्तरदायित्व की स्थापना करता है।" अस्तित्ववाद का सबसे पहला परिणाम यह निकलता है कि यह मनुष्य को जैसा वह है उस स्वयं पर वह अधिकार देता है और अपने अस्तित्व का सारा दायित्व उसके ही कंधे पर डाल देता है।[111]

किन्तु अस्तित्ववाद का यह नियतत्व विरोधी दृष्टिकोण कहां तक सार्थक और समीचीन है, यह विवाद का विषय है। अपने दृष्टि कोण मे उसे कितनी सफलता मिली है, यह भी विवादास्पद है। यद्यपि कोई भी वाद विवादो से परे नहीं होता, किन्तु अस्तित्ववाद के संबंध में विवाद कुछ अधिक ही हैं। सर्वप्रथम तो अस्तित्ववादी अपने दर्शन के प्रस्तुतिकरण में तर्कों की उपेक्षा दृष्टांतो की सहायता अधिक लेते हैं और इन दृष्टातों का व्यापक निरूपण हम अस्तित्ववादी साहित्य में देखते हैं। किन्तु इनकी साहित्यिक रचनाओ में मानव की जिस दुःखद नियति का चित्रण मिलता है और उनकी मुक्ति का जो आदर्श दृष्टिगोचर होता है, वह अस्तित्ववादी दर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है अस्तित्ववादी रचनाकारों के पात्र प्रायः एक त्रासद नियति या संकटपूर्ण परिस्थिति से जूझ रहे होते हैं और इस संत्रास से त्राण की खोज में वे जिस विचित्र परिणति की ओर अग्रसरित हो जाते हैं, उसका न तो नैतिकता से कोई संबंध होता है और न

सामाजिकता से। और सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि वे अपने से अधिक जूझते हैं, परिस्थितियो से कम। इनकी सक्रियता नदी की लहर नहीं, अपितु भंवर बन जाती है, और व्यक्ति उसी वर्तुल में घूमता रह जाता है, कहीं पहुंच नहीं पाता। अस्तित्ववादी स्वतंत्रता में केवल आकाश की उन्मुक्तता ही नहीं मिलती, अपितु वहां व्यक्ति धरती से भी पृथक हो जाता है, उसकी जडें भी उखड जाती है।

समग्र अस्तित्ववादी दर्शन में एक समस्या विशेष रूप से उभरकर सामने आती है कि क्या मनुष्य के कंधे इतने सबल हैं कि वह सारे कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सके। क्या केवल स्वतत्रता की जानकारी दे देने से मनुष्य की सीमाएं और दुर्बलताएं समाप्त हो जायेगी? कीर्केगार्ड ने जिस ससीमता और असीमता के द्वन्द्व निश्चितता और अनिश्चितता की द्विविधा का वर्णन किया है, क्या वह मनुष्य पर पूर्णत· चरितार्थ नहीं होता। वस्तुत· इस निरपेक्ष स्वतंत्रता के कारण अस्तित्ववादी दायित्वबोध दायित्वबोझ बन जाता है और यह बोझ केवल अपना ही नहीं अन्यों का भी हो जाता है। सबसे बढ़कर तो यह कि यहां अपना होना ही खुद बोझ बन जाता है। हम जिस भार को अन्यत्र रखकर अधिक सुचारु रूप से गतिमान हो सकते है, उसे ढोना हमारी मूढता ही है, यदि किसी ट्रेन मे कोई अपना बिस्तर अपने सिर पर उठाये रखे तो न तो ट्रेन हल्की होगी और न आदमी ही ठीक से चल फिर पायेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 मैकाइबर और पेज, समाज, पृ0 46-47.

2 स्पेंसर, हर्बर्ट, 'द प्रिंसिपल्स ऑव सोशियोलॉजी', प्रथम खंड, भाग-1, पृ0 48.

3 स्पेंसर, हर्बर्ट, 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स', पृ0 258

4 मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक विचारधारा, पृ0 82

5 हरलैंबोस, एम0 और हियाल्ड रोबिन, 'सोशियोलॉजी', ऑक्सफोर्ड युनिवार्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृ0 16

6. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक विचारधारा, पृ0 281

7 हरलैंबोंस, एम0 'सोशियोलॉजी', पृ0 544

8 वही, पृ0 545

9 बोटोमार, टी0 बी0, सोशियोलॉजी, ब्लैकी और सन (इंडिया) लिमिटेड, 1986, पृ0 79

10 जोड, सी0 ई0 एम0, गाइड टू फिलोसॉफी ऑफ मोरल्स एण्ड पॉलिटिक्स, पृ0 591

11 वही, पृ0 593.

12. मार्क्स, कार्ल एण्ड एंगेल्स, फ्रेडरिक, कलेक्टेड वर्क्स, खंड 3, 1975, पृ0 21.

13 मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक विचारधारा, पृ0 176.

14 अफनास्येव, वी0, मार्क्सवादी दर्शन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, देल्ही, पृ0 185

15 मार्क्स, 'थीसिस ऑन फॉयरबाख', उद्घृत, कलेक्टेड वर्क्स, खड 5, पृ0 4.

16 स्मिर्नोव, ग0, समाजवादी समाज मे व्यक्ति, प्रगति प्रकाशन, पृ0 17

17. वही, पृ0 29.

18. सार्त्र ज्यॉ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद, अनुवादक-जवरीमल्ल पारख, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ0 47.

19 हेगेल, जी0 डब्ल्यू एफ0, 'फिलॉसॉफी ऑफ हिस्ट्री', पृ0 247

20 सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', पृ0 619-20.

21. ब्रैडले, एफ0 एच0, 'एथिकल स्टडीज', पृ0 174

22. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', पृ0 825

23 वही, पृ0 852

24 वही, पृ0 854

25 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिस्टेंशियलिज्म, पृ0 510-11

26 प्लैट और डूरण्ड, वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ0 649

27 लैंगसम, 'द वर्ल्ड सिन्स 1919', पृ0 337

28 पूनीडर एण्ड क्लोग, 'मेकिंग फासिस्ट्स', पृ0 23,29

29 अल्फ्रेडो, रोको, 'पॉलिटिकल डॉक्ट्रिन ऑफ फासिज्म', पृ0 23, 39

30 बीयर्डस्ले, एन0 सी0 'द यूरोपियन फिलॉस्फर्स फ्रॉम डेकार्ट टू नीत्शे', पृ0 863.

31 वही, पृ0 856

32 वही, पृ0 857

33 नीत्शे'ज वर्क्स, सपादक- श्लेरा के0, खड - 2, पृ0 280.

34 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 28.

35 नीत्शे, 'द विल टू पावर', द कम्पलीट वर्क्स, खड 15, पृ0 20

36 नीत्शे, 'बियांड गुड एण्ड इविल', पृ0 224

37 मार्क्स एण्ड एंगेल्स, 'सेलेक्टेड कोरेसपॉन्डेन्स', पृ0 37

38 स्मिर्नोव, ग, 'समाजवादी समाज में व्यक्ति', पृ0 25

39. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, 'सेलेक्टेड कोरेसपॉन्डेन्स', पृ0 475

40. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, 'कलेक्टेड वर्क्स', खंड 2, पृ0 167

41. अफनास्येव, वी0, मार्क्सवादी दर्शन, पृ0 181.

42 वही, पृ0 224

43. मार्क्स कार्ल, राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को योगदान, पृ0 20

44. जोतोव, विक्तर, 'समाज का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1988, पृ0 106

45 अफनास्येव वी0, मार्क्सवादी दर्शन, पृ0 224

46 मार्क्स एण्ड एंगेल्स, 'द जर्मन आइडियोलॉजी', पृ0 16

47. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, 'सेलेक्टेड कोरेसपॉन्डेन्स', एंगेल्स लेटर टू स्टारकेनबर्ग, पृ0517.

48. वही, पृ0 475

49. एंगेल्स, फ्रेडरिक, 'द ओरिजिन ऑफ द फेमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड द स्टेट, मार्क्स एण्ड एगेल्स, 'सेलेक्टेड वर्क्स', खड 3, 1973, पृ0 333

50 बॉटोमोर, टी0 बी0, 'सोशियोलॉजी', पृ0 92

51 बुड्स, एफ0 ए0 मेंटल एण्ड मोरल हेरेडिटी इन रॉयल्टी, पृ0 20-26

52 विसेज, एस0 एस0, ''हू'ज हू'', एन आर्टिकिल इन अेरिकल जरनल ऑफ सोशियोलॉजी- (1925), पृ0 551-57

53 हरलोम्बोन्स, एम0, 'सोशियोलॉजी', पृ0 408-9

54 बॉटोमोर, टी0 बी0, 'सोशियोलॉजी', पृ0 92

55 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 35

56 रसेल, बर्टेन्ड, सुख की साधना

57 हक्सले, जे0, 'द लिनर', खंड 46, पृ0 878-9

58 नीत्शे, एफ0, 'बियाड गुड एण्ड इविल', पृ0 264

59 नीत्शे, द ट्विलाइट ऑफ द आइडियल्स,' द कंप्लीट वर्क्स, खंड 16 पृ0 47.

60 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 34.

61 क्योटेड बाइ बोहनान, पी0 इन सोशल एंथ्रोपोलॉजी, 1935, पृ0 202.

62 मार्क्स, कार्ल एण्ड स्टेरनो, 'द लिजनर', खंड 46, पृ0 879

63 जैकोव्स एण्ड स्टेरनो, 'जेनेरल एंथ्रोपोलॉजी', 1955, पृ0 75

64. हक्सले, जे0, 'द लिजनर', खंड 46, पृ0 879

65 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 35

66 मैकाइबर एण्ड पेज, 'सोशाइटी', पृ0 98

67. सोरोकिन, पिटरिम, 'कंटेम्पोरेरी सोशियोलॉजिकल थ्योरीज', पृ0 101-102.

68 मोंटेस्क्यू, 'स्पिरिट ऑफ लॉ', पृ0 36.

69. क्योटेड बाई बीरस्टीड, आर0, 'द सोशल ऑर्डर', पृ0 35.

70 हटिंग्टन, 'सिविलाइजेशन एण्ड क्लाइमेट', पृ0 105-24

71. मैकाइबर एण्ड पेज, 'सोशाइटी', पृ0 53

72. वार्ड, एल0, क्योटेड बाई ग्रीन, 'सोशियोलॉजी', पृ0 27

73. हेगेल, क्योटेड बाई वीस्टीड आर0, 'द सोशल ऑर्डर', पृ0 31

74. दस्तूर, जे0 ए0, 'मैन एण्ड हिज इनवॉयरनमेंट', पृ0 3

75 मैकाइवर एण्ड पेज, 'सोशाइटी', पृ0 95

76 सार्त्र ज्याँ पॉल, उद्घृत भद्र, एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म'

77. जोतोव, विक्तर, 'समाज का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत', पृ0 28

78 वही, पृ0 22

79. एत्मातो, चिगीत, उद्घृत, जोतोव, विक्तर, वही, पृ0 51

80 बीरस्टीड आर0, 'द सोशल आर्डर', 1957, पृ0 53

81. हरलोम्बर, मिशेल, 'सोशियोजॉली थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव', 1998, पृ0 420-22

82. सोरोकिन, पिटिरिम, 'कंटेम्पोरेरी सोशियोलॉजिकल थ्योरीज,' पृ0 101-102

83 ओशो, 'ओशो टाइम्स इटरनेशनल', अगस्त 2001, पृ0 17-18

84 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 24

85 मिश्र, हृदयनारायण और शुक्ल, प्रतापचन्द्र; 'अस्तित्ववाद', पृ0 145

86 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, 'फ्रॉम हेगेल टू ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 128

87 मुंशी, सूरज नारायण और निगम, सावित्री, 'रोगी मन', हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1961, पृ0 186

88 बुडवर्थ, आ0 एस0, 'कंटेम्पोरेरी स्कूल्स ऑफ साइकोलॉजी', पृ0 1723

89 मुंशी सूरज नारायण और निगम, सावित्री, 'रोगी मन', पृ0 187

90 जैंगबिल, पी0, 'एन इंट्रोडक्शन टू मॉडर्न साइकोलॉजी', पृ0 174.

91 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, 'फ्रॉम हेगेल टू ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0· 174

92. मुंशी सूरज नारायण और निगम, सावित्री, 'रोगी मन', पृ0 190.

93 ओशो, ओशो टाइम्स इंटरनेशनल अक्टूबर 1994

94. बार्थ, जॉन, 'इंड ऑफ द रोड', गार्डेन सिटी, न्यूयॉर्क, 1967, पृ0 93.

95 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, 'फ्रॉम हेगेल टू ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 152

96 सोलोमन, रॉबर्टस सी0, 'फ्रॉम हेगेल टू ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0. 137

97. शल्य, यशदेव, मनस्तत्व, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1958, पृ0 6

98. रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 14

99. वही, पृ0 80-81.

100 हक्सले, जूलियन, 'द लिसनर', खंड 46, पृ0 878-879.

101 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 15

102 उद्घृत, ब्रैडले, एफ0 एच0, 'इथिकल स्टडीज', पृ0 12

103 स्टीवेंसन, सी0 एल0, 'इथिक्स एण्ड लैंग्वेज', पृ0 12

104 नॉबेलस्मिथ, पी0 एच0 'इथिक्स', पृ0 313

105 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 40

106 उद्घृत, रूविचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 118-119

107. कामू, अल्वेयर, 'द रिबेल', पेंगुइन मॉर्डन क्लासिक्स, न्यूयॉर्क, 1954, पृ0 5

108 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 36

109 सार्त्र, जे0 पी0, 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस', पृ0 489.

110 ओशो, गीता दर्शन, भाग 1, पृ0 179

111 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 36

अध्याय : 3

अस्तित्ववाद, त्रास, मनोवृत्तियों का प्रभुत्व और युद्ध

अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक- राजनीतिक पहलू उभरता है वह यह है कि यह अस्तित्व के संकट की अनुभूति में व्युत्पन्न दर्शन है। दो महायुद्धों की त्रासद विभीषिका और मानवता के समूल विनाश की आशका में यह विचारधारा विकसित हुयी है। प्राणो का संकट, अस्तित्व विनाश का भय व्यक्ति को उस ठोस धरातल पर ला देता है, जहां जिज्ञासा जिजीविषा बन जाती है, जहां मन का चिन्तन प्राणों का कम्पन बन जाता है, जहां तर्कपरक ज्ञान और प्रमाण परक विज्ञान निरर्थक हो जाते हैं। निश्चय ही जब दर्शन का चिन्तन जीवन की चिन्ता का रूप ले ले तो दर्शन स्वयं दृष्टि का रूप ले लेता है, वह वाणी की अभिव्यक्ति से हृदय की अनुभूति बन जाता है। अज्ञेय, जो हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववादी दृष्टि के सशक्त संस्थापको मे परिगणित होते हैं, ने ठीक ही लिखा है- "वेदना में एक शक्ति है, जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है।" [1] सस्कृत में जो वेदना शब्द है वह भी इस दृष्टि से रुचिकर अर्थ रखता है। यह शब्द विद् धातु से बना है जिसके ज्ञान, अनुभूति तथा पीड़ा- तीनों अर्थ है। इसी धातु से वेद (विद्या), संवेदना तथा वेदना तीनों शब्द बनें हैं। यहां आकर तीनो मे तादात्म्य हो जाता है। यदि रसेल की भाषा में कहें तो यह ज्ञान (Knowledge) नहीं, अपितु बोध (Aquaintance) बन जाता है।

भारतीय दर्शन में 'दु.ख है' रूपी प्रथम बौद्ध आर्य सत्य की प्राय सर्वत्र स्वीकृति है। यहां का सम्पूर्ण दर्शन दुःख मुक्ति के लक्ष्य को लेकर अग्रसरित हुआ है। इन विचारकों और मनीषियों की जिज्ञासा केवल बाह्य रूप में अथवा बाह्य जगत की जिज्ञासा नहीं है।

यह जिज्ञासा, यदि हाइडेगर की शब्दावली में कहें तो 'रिक्त जिज्ञासा' नहीं है। इसमें स्वयं अनुभूति की पिपासा है, अंतर्जगत का अन्वेषण है। यही अन्वेषण पाश्चात्य दर्शन में अस्तित्ववाद की ओर प्रयाण का मार्ग बन जाता है। अस्मिता की तलाश में वह अपनी आन्तरिकता को टटोलता है पूरी प्रमाणिकता के साथ, पूरी प्रतिबद्धता के साथ। अस्तित्ववादी स्वयं को जगत में, जगत के संबंधों में अन्य के साथ संबंधों में, स्वयं अपने में, अपनी समग्रता में खोजता है। उसकी खोज किसी सिद्धान्त की खोज नहीं होती, किसी तर्क के सहारे नहीं होती; अपितु वह जीवन की खोज होती है, जीवन में

आन्तरिकता की खोज होती और उस आन्तरिकता मे सत्य की खोज होती है। तभी कीर्केगार्ड को यह स्पष्ट अनुभूति होती हैं कि सत्य आत्मनिष्ठता है, वह प्रवल रूप मे भावनात्मक आन्तरिकता की आत्मीयकरण प्रक्रिया मे गहन रूप से आवद्ध अनिश्चितता है।[2] अर्थात् यदि सत्य को वस्तुनिष्ठ ढंग से जानने का प्रयास किया जाय तो वहां सत्य नहीं अपितु अनिश्चितता मिलेगी और यदि उसी अनिश्चितता को आन्तरिक आबद्धता में देखा जाय तो वह सत्य बन जाती है। इसी कारण कीर्केगार्ड उद्घोष करते हैं- "मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता जब तक वह मुझ में जीवन्त न हो जाय।"[3]

किन्तु अस्तित्ववाद की सत्य की खोज किसी वैज्ञानिक की सत्य की खोज नहीं है और न ही वह किसी कलाकार की सत्य की खोज है। वह एक आध्यात्मिक (भिन्न अर्थ मे) की सत्य की खोज है। "विज्ञान की चेतना अन्वेषण करती है। सत्य क्या है, इसकी खोज करती है, अन्वेषण करती है, डिस्कवर करती है। जो ढंका है उसे उघाड़ती है, तथ्य को नग्न करती है। कला चेतना, जो है उसे सजाती और संवारती है, उघाड़ती नहीं, ढाकती है आभूषणों से, वस्त्रों से, रंगों से, कविताओ से, लयों से, छन्दों से। इसलिए विज्ञान कई दफा ऐसे तथ्य उघाड लेता है, जो बड़े संघातक सिद्ध होते हैं और कला कईबार जीवन की ऐसी अभद्रताओ को ढांक जाती है, जो अप्रीतिकर हो सकती थीं। अध्यात्म-चेतना तीसरे तरह की है। वह सत्य को न तो उघाड़ती है और न सत्य को ढांकती है, वह सत्य के साथ स्वयं को लीन करती है। अध्यात्म, सत्य क्या है, इसे नहीं जानना चाहता; सत्य कैसा होना चाहिए, इसे नहीं बताना चाहता; अध्यात्म स्वयं ही सत्य हो जाना चाहता है। अध्यात्म की जिज्ञासा संघर्ष की नहीं, अध्यात्म की जिज्ञासा संवारने की नहीं,अध्यात्म की जिज्ञासा तल्लीनता की है, लीन हो जाने की है। सत्य जो है, उसी में डूब जाना चाहता है। वह जैसा भी हो, सुंदर-असुंदर, सत्य जैसा भी है, अध्यात्म उसमें डूब जाना चाहता है।"[4]

अस्तित्ववादी विचारकों को हम परंपरागत धार्मिक और दार्शनिक अर्थों में आध्यात्मिक नहीं कह सकते और विशेषत नास्तिक अस्तित्ववादियो को तो हम सर्वथा भिन्न रूप में पाते हैं। किन्तु ये सभी आध्यात्मिक इस अर्थ में अवश्य हैं कि ये सत्य को स्वयं के भीतर अपनी आंतरिकता में खोजने का प्रयास करते हैं। इनका आधारभूत

तत्व अमूर्त आत्मा (Soul) नहीं, अपितु वैयक्तिक आत्म (Self) है। ये सत्य का साक्षात्कार जीवन के स्वीकार करने मे ही प्राप्त करना चाहते हैं, मृत्यु के पार नहीं।

वस्तुत· अस्तित्ववादियो की जीवन की यह स्वकृति मृत्यु से पृथक् नहीं है। यह स्वीकृति इतनी व्यापक है कि इसमें जीवन के दुखों का ही नहीं, जीवन के अन्त का भी समावेश हो जाता है। मृत्यु की त्रासद वास्तविकता भी जीवन की प्रामाणिकता बन जाती है। हाइडेगर जैसे विचारक मृत्यु को भी अस्तित्व के भीतर ही समाहित कर लेते हैं।

जीवन की यह समग्र स्वीकृति दुखों की भी अनिवार्य स्वीकृति करा देती है। दुख जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में विद्यमान हो जाता है। अस्तित्ववादी दुखों से पलायन नहीं करता, दु·खों को मिथ्यापित नहीं करता, दुःखों को अज्ञान नहीं मानता, वह दु·खों से जूझता है, उनसे टकराता है फिर भी चूर-चूर नहीं होता, वल्कि और मजवूत होकर उभरता है। दु·ख की त्रासद वेदना में भी, अस्तित्व संकट की आशंका में भी अपनी गरिमा को अक्षुण्ण रखता है, अपनी अस्मिता को स्थापित करता है।

दु·खों के प्रति यह स्वीकृति भाव वेदनाओ के प्रति यह संवेदनशीलता स्वभावतः उसमें चिन्ता, निराशा, परिताप, भय, कम्पना आदि वृत्तियों को जन्म देता है और यही कारण है कि अस्तित्ववादी अपनी यह आशंका सर्वत्र व्यक्त करता दीखता है। प्रत्येक अस्तित्ववादी जीवन के दुःखों के प्रति सजग और संवेदनशील दीखता है, अतएव अस्तित्ववादी में हम सर्वत्र भिन्न-भिन्न नामों से इन दु·खों का वर्णन पाते हैं। कीर्केगार्ड ने इन्हें जीवन-व्याधि (Sıckness Unto Death) की संज्ञा दी है। यास्पर्स ने इन्हे चरम स्थितियों (Ultımate Sıtuatıons) के अन्तर्गत रखा है। कामू ने इसे अयुक्तता तथा नैराश्य के माध्यम से व्यक्त किया है।

किन्तु यहां प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या कारण है कि दर्शनमें एकाएक ये अनुभूतियां मुखर हो उठीं ? किन कारणो से जीवन की दुःखात्मकता इतनी गहन हो गयी ? क्या ये इस व्यक्तिवादी दर्शन के दार्शनिकों का वैयक्तिक दुःख मात्र था ? दुःखों की तो शाश्वत समस्या रही है और आज तो मानव के पास दु·खमुक्ति के अपेक्षाकृत अधिक समाधान हैं। आज हम वैज्ञानिक संसाधनों के माध्यम से दुःखों का बेहतर निदान

पाने में सक्षम हैं। फिर क्या कारण है इस आकस्मिक दु:खपरकता का, इस मार्मिक वेदना का, इस संवेदनशील चेतना का?

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अस्तित्ववादी दर्शन के उद्‌भव का काल इतिहास के भीषणतम युद्धों का, व्यापकतम हिंसा का काल है। दो विश्वयुद्धों ने मानवता को उस स्थान पर ला दिया जहां व्यक्तिगत जीवन-मृत्यु का प्रश्न ही गौण हो गया और समस्त मानव जाति के विनाश का भय उत्पन्न हो गया। "वीसवीं शताव्दी मे पूजीवादी विश्व के बढते संकट ने जिन दो महायुद्धों की सृष्टि की, उसने यूरोप के जनमानस को बहुत गहरे तक आंदोलित किया। दो महायुद्धो की विभीषिका, विशेषत दूसरे महायुद्ध ने यूरोप को पूरी तरह झकझोर दिया और मनुष्य के सामने अस्तित्व का प्रश्न अन्य सभी प्रश्नों से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया।[5]

अस्तित्व का यह संकट, विनाश का यह भय, जीवन का यह अन्तर्द्वन्द्व मानव के चिन्तन को, उसके मूल्यों को हिलाकर रख देता है। ओशो के शब्दों में "ध्यान रहे, पश्चिम में भी यह जो अस्तित्ववादी चितन पैदा हुआ, यह दो युद्धों के बीच में पैदा हुआ है। सार्त्र या कामू या उनामुनो पिछले दो महायुद्धों की परिणति है। पिछले दो महायुद्धों ने पश्चिम के चित्त में भी वही स्थिति खड़ी कर दी है, जो अर्जुन के चित्त में महाभारत के सामने खड़ी हो गयी थी। विगत दो युद्धों ने पश्चिम के सारे मूल्य डगमगा दिये हैं। और अब सवाल यह है कि लड़ना, कि नहीं लड़ना? लडने से क्या होगा? और स्थिति ठीक वैसी ही है कि अपने सब मर जायेंगे तो मरने का क्या अर्थ है? और जब युद्ध की इतनी विकट स्थिति खड़ी हो जाय, तो शान्ति के समय में बनाये गये सब नियम सदिग्ध हो जायें, तो आश्चर्य नहीं है।"[6]

इस सर्वविनाश के क्षण में, मृत्यु के इतने निकट आकर अपने व्यक्तित्व की, अपनी अस्तित्व की रक्षा का भाव उठ पड़ना स्वाभाविक ही है। आखिर, यदि सर्वनाश हो ही गया, तो मेरा होना कौन सा अर्थ रख पायेगा? अज्ञेय के शब्दों में-

"नश्वरते!

कांटो पर जब होगा क्रुद्ध प्रभंजन का आघात,

तब उनमे उलझे फूलों की कौन सुनेगा बात?

जब मेरा अपनापन होगा चिरनिद्रा मे मौन,

मुझमें जो है रहशील वह कह पाएगा कौन?

नश्वरते कौन?[7]

अस्तित्ववादी की पृष्ठभूमि के रूप में हमें यहां इन दो युद्धों की गहनता, कारणों और परिणामों का भी संक्षिप्त अवलोकन कर लेना होगा। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से इन ऐतिहासिक विवरणों का अधिक मूल्य नहीं होगा, किन्तु हम इन तथ्यों के आलोक मे ही युद्ध की मनोवृत्ति और युद्धजन्य मनोवृत्ति मे संवंध स्थापित कर पायेंगे। तभी हम अस्तित्ववादी मनोवृत्ति का इन सबसे समुचित और व्यापक संबंध जोड पायेंगे।

यह संबंध तव और महत्वपूर्ण हो जाता है, जब हम अधिकाश अस्तित्ववादियो को विशेषत प्रमुख अस्तित्ववादियों को सीधे रूप मे युद्ध से जुड़ा हुआ पाते हैं। हाईडेगर ने प्रथम विश्वयुद्ध में सक्रिय भागीदारी की थी। सार्त्र को युद्ध बन्दी के रूप मे काफी दिन बिताने पड़े थे।

गैब्रियल मार्सल को प्रथम विश्वयुद्ध में मृत व्यक्तियो के आकड़े इकट्ठा करने तथा उनके संबंधियों को सूचना देने का कार्य मिला था। यास्पर्स को द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रतिबंध में रहना पड़ा। उसने 1958 में अणुबम पर पुस्तक भी लिखी। कामू के पिता युद्ध में मारे गये थे। वे स्वयं भी युद्ध की विभीषिका व्यक्तिगत स्तर पर झेल रहे थे। इसी दौरान उन्होंने अपनी डायरी में लिखा– "आप कुछ तो कीजिए। सम्पर्क में आने वाले दस, बीस या तीस व्यक्त्यों को यह तो समझाया जा सकता है कि युद्ध की विभीषिका क्या होती है, कि इसको बन्द करना जरूरी है और यदि वे न समझें तो आप चीखें, सिर पटके, कुछ तो असर होगा और शान्ति चाहने वालों की संख्या बढेगी।"[8] ऐसा लगता है, मानो मैं ज्वालामुखी के मुंह पर बैठा हूं, जिसमें से अभी–अभी फूटता लावा मानवीय संवेदना का द्योतक है। जानवरो का शासन शुरू हो गया है। हर एक के भीतर उठती हुई हिंसा और घृणा, सभी प्रकार के मूल्य खत्म हो चुके हैं। मैं केवल जानवरों से मिलता हूं, ओफ्फ! यूरोप का यह वहशी चेहरा![9] यह कैसी बर्बर और क्रूर त्रासदी है, जो आदमी को पागलपन की सीमा तक ले जाये? इस शहर में या तो आदमी खत्म हो जाता है या फिर सारे संघर्षों के दौरान अपनी पूरी आदमियत की पहचान के साथ उभरता है।[10] संभवतः ऐसे वैश्विक युद्ध के विध्वंसात्मक क्षणों में ही

कामू कह उठते हैं- "बाहरी दुनिया के एक अकेले दिन के अनुभव के बाद भी आदमी वड़े आराम से कैद मे सौ वर्ष गुजार सकता है।"[11]

इन्हीं विचारको की पूर्व श्रृखला में हम नीत्शे जैसे विचारको को भी पाते हैं जो अतिमानव बनाने के सातत्य मे युद्ध का, हिंसा का, यहां तक कि पशुता का पुरजोर समर्थन करता है। डार्विन द्वारा प्रतिपादित अस्तित्व के संघर्ष की तथ्यात्मकता यहां एक आदर्श बन जाती है और "योग्यतम की उत्तरजीविता का सिद्धांत" प्रजातिवाद का, नस्लीय हिंसा का आधार बन जाता है। वह स्पष्ट घोषणा करता है- "युद्ध समस्त शुभ का जनक है।"[12] यह यूनानी भाषा के उस कथन का थोडा ही भिन्न अनुवाद है, जिसका महत्व इस बात को दिखाने में है कि "युद्ध अपरिहार्य है।"[13] अगर कोई युद्ध का परित्याग करता है, तो इसका अर्थ है वह महान जीवन का परितयाग करता है।[14]

युद्ध का जब ऐसी अनिवार्यता के साथ प्रतिपादन किया जाय, वह स्वय ही साध्य और उच्चतम आदर्श बन जाय तो महाविनाश से कौन रोक सकता है। कुछ आश्चर्य नहीं जब हिट्लर कहता हो- "जिसे जीना है उसे युद्ध करना होगा। जो इस संसार मे युद्ध नहीं करना चाहता, उसे जीने का अधिकार नहीं है।" हिट्लर के इस वक्तव्य पर नीत्शे की छाप है।

यहां इसी संदर्भ मे हम मुसोलिनी और माओ-त्से-तुंग के विचारों को भी देख सकते हैं। मुसोलिनी कहता है- "युद्ध की जय जयकार हो। नपुंसकों और मूर्खों की जमात तथा बिल्कुल अन्धी और अज्ञानी जनता ही इसे कोसती रहती है, किन्तु इससे अभिनन्दनीय तथ्यों के रूप नहीं बदल जाते, उनकी अग्रगति नहीं थम सकती।" माओत्सेतुंग ने भी कहा है- "शक्ति बन्दूक की गोली से निकलती है।"

वस्तुत. युद्ध तो केवल बाह्य अभिव्यक्ति है, मूल में है- हमारे भीतर की दुर्दम महत्वाकांक्षाएँ, द्वेषपरक स्वार्थ, हिंसा की पाशविक दुर्वृत्ति। यहां हम युद्ध के कुछ तात्कालिक और सार्वकालिक कारणों को दार्शनिक दृष्टि से देख सकते हैं। इन कारणों में हमें कुछ ऐसे महत्वूर्ण कारणों को छोडना होगा, जिनका दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक मूल्य नहीं है।

इस दृष्टि से हम विश्वयुद्ध के कारणों को मूलतः 5 वर्गों में विभक्त कर सकते

हैं:-

1 राष्ट्रवाद तथा सर्वाधिकारवाद

2 साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद।

3 संघर्षवाद एव शक्तिवाद (डार्विन, स्पेसर, नीत्शे)

4 अवसरवाद एव स्वार्थवाद

5 अराजकतावाद

1. राष्ट्रवाद और सर्वाधिकारवादः-

राष्ट्रवाद और सर्वाधिकारवाद की भावनाएं नूतन नहीं हैं। मनुष्य के राजनीतिक इतिहास में राज्य के अन्तर्गत सास्कृतिक तत्वों के व्यामिश्र के साथ ही राष्ट्रवाद तथा शक्ति की संवृद्धि के साथ ही सर्वाधिकारवाद की भावना विकसित हो गयी। किन्तु आधुनिक काल मे हीगेल के दर्शन मे ऐसी तार्किक और वैचारिक विशिष्टताएं विद्यमान थीं, जिनसे इन अवधारणाओं को एक प्रकार का प्रमाणपरक और औचित्यपरक संबल मिल गया। हीगेल ने राजनीति के क्षेत्र में लगभग उन सारी अवधारणाओं को नैतिक आधार प्रदान कर दिया था, जो कालांतर मे क्रमशः राष्ट्रवाद और सर्वाधिकारवाद से आगे बढकर महायुद्ध की ओर अग्रसरित कर सकते थे। सैबाइन के अनुसार- "हीगेल के राजनीतिक दर्शन में दो तत्व सबसे महत्वपूर्ण थे। इनमें से एक तत्व तो द्वन्द्वात्मक पद्वति का था। इसके द्वारा हीगेल ने सामाजिक अध्ययनो में कुछ नये परिणाम निकाले। ये परिणाम ऐसे थे, जो अन्यथा सामने नहीं आ सकते थे। हीगेल के बाद ये दोनों ही सिद्धांत बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। हीगेल के चिन्तन में ये दोनो सिद्धांत अभिन्न थे।"[15]

इन दोनों सिद्धांतों के दो व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुए। द्वन्द्वात्मक सिद्धांत ने प्रकारान्तर से द्वन्द्वात्मक संघर्ष की पुष्टि कर दी तथा विभेदकारी व्यवस्था का समर्थन कर दिया। इसी कारण उसका तर्क था कि- "राज्य के अस्तित्व का यह अभिप्राय नहीं होता है कि संपूर्ण राष्ट्रीय क्षेत्र में नागरिक अधिकारों की समानता हो अथवा विधि की

एकरूपता हो। राज्य मेकुछ विशेषाधिकार संपन्न वर्ग हो सके हैं और आचार सस्कृति भाषा तथा धर्म के भेद हो सकते हैं"[16] हीगेल ने इस कारण आलोचना भी की कि उसने संपूर्ण जनता को समान नागरिकता के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया था।

हीगेल की इस अवधारणा का कारण संभवतः यह था कि उस समय जर्मनी मे स्थानवाद और प्रान्तवाद के कारण उसकी राजनीतिक शक्ति क्षीण हो गयी थी। उसने कटुतापूर्वक जर्मन शासन प्रणाली पर व्यंग्य करते हुए कहा भी कि जर्मनी की आदर्शोक्ति Fıat Justıtıa, Pereat Germanıa है। यह एक ऐसी स्थिति थी, जिसने हीगेल को राज्य की संप्रभुता और सर्वोच्चता का समर्थन करने के लिए विवश कर दिया। 1802 में लिखित अपने निबन्ध "Constıtutıon of Germany"[17] में जर्मनी की दुर्बलता का मुखर चित्रण किया। वे कहते हैं कि जर्मनी अव राज्य नहीं रह गया है, वह प्राय· स्वतंत्र इकाइयों की अराजकतापूर्ण समूह मात्र रह गया है। वह एक ऐसा नाम अवश्य है, जिसकी भूतकालीन महत्ता का आभास होता है लेकिन एक संस्था के रूप में युरोपीय राजनीति की वास्तविकताओं से उसका कोई मेल नहीं बैठ्ता। सैबाइन के अनुसार "वस्तुत हीगेल का ऐतिहासिक विश्लेषण एक साध्य को प्राप्त करने का साधन मात्र था। हीगेल का मुख्य प्रयोजन इस प्रश्न को उठाना था कि जर्मनी कैसे राज्य बन सकता है ?"[18]

हीगेल का यही दृष्टिकोण उसे शक्तिवाद और राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख कर देता है। वे राज्य की परिभाषा ही इस रूप में देते हैं, "राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो सामूहिक रूप से संपत्ति की रक्षा करता है। उसकी अनिवार्य शक्तियां ऐसे नागरिक व सैनिक विभाग के रूप में हैं, जो इस उद्देश्य को पूरा कर सकें।" इसका तात्पर्य यह है कि राज्य एक शक्ति है। वह राष्ट्रीय इच्छा को स्वदेश तथा विदेश दोनों में कारगर करता हो।"[19]

यहां हम हीगेल की विचारधारा में राष्ट्रवाद के साथ सर्वाधिकारवाद का रूप देख सकते है। इसी कारण हीगेल ने इतिहास की जो व्याख्या की है, उसमें मुख्य इकाई व्यक्ति अथ्वा व्यक्तियों का समुदाय नहीं अपितु राज्य है। वे कहते हैं- "विश्व इतिहास की प्रक्रिया में प्रत्येक विशिष्ट राष्ट्रीय प्रतिभा को केवल एक व्यक्ति मानना चाहिए।[20]

वे यहा तक महते हैं कि "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।[2]

हीगेल के अनुसार राज्य के विरुद्ध व्यक्ति को कोई भी अधिकार नहीं दिया जा सकता। व्यक्ति का विकास केवल राज्य की छत्रछाया में ही हो सकता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य ही हो सकता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य के अनुरूप और अधीन ही हो सकती है।

अन्तत उनका राष्ट्रवाद का एक संकीर्ण नाजीवाद का प्रश्रयदाता भी बन जाता है वे कहते हैं- "प्रत्येक राष्ट्र मानव जाति की उन्नति मे कितना योगदान देता है, इसी आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। हर राष्ट्र ऐतिहासिक महत्व के योग्य नहीं होता।[22] हीगेल के ही समसामायिक श्लायरमैकर ने भी कहा था, "ईश्वर इस पृथ्वी पर प्रत्येक राष्ट्र को एक विशिष्ट कार्य सौंपता है।" हम इन कथनों की छाया प्रथम विश्वयुद्ध के समय जर्मनी के सम्राट विलियम कैसर के निम्न कथनो में देख सकते हैं- "परमेश्वर ने हमें संसार को सभ्य बनाने का कार्य सुपुर्द किया है।"[23] द्वितीय विश्वयुद्ध में हिट्लर ने भी घोषणा की- "विश्व में आर्य श्रेष्ठ हैं, आर्यों में जर्मन नाजी श्रेष्ठ हैं।"

हीगेल का यह कथन कि समष्टि के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है, तानाशाहों का मूलमंत्र बन जाता है। हीगेल ने कहा- "इसे विवेक की चतुरता कहा जा सकता हैकि यह कुछ आवेगों को कार्य करने के लिए तत्पर कर देती है। जो इसके अस्तित्व को प्रेरणा के द्वारा विकसित करता है, उसे दण्ड देना पड़ता है, नुकसान उठाना पड़ता है। सामान्य की तुलना में विशिष्ट का बहुत कम महत्व है। व्यक्तियों का बलिदान कर दिया जाता है, उन्हे त्याग दिया जाता है।"[24] इसी बात की घोषणा हम हिठलर के निम्न कथन मे देख सकते हैं- "एक व्यक्ति के हितोंकी अपेक्षा समाज के हित अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। व्यक्ति कुछ नहीं है। समाज (volk) ही सब कुछ है। किसी एक व्यक्ति का जीवन स्वयं उसके लिए नहीं है।"[25]

हाब्स हाउस ने ठीक ही कहा है- "हीगेल के हाथो में राज्य एक वृहत्तर सत्ता, एक भावना, एक अतिवैयक्तिक सत्ता बन जाती है। अतः राज्य में व्यक्ति अपनी खुशी से एक तत्वमात्र बनकर रह जाता है।" यही अवधारणा से हिट्लर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहों को आक्रामक और संघातक बना देती है। आशीर्वादम् के अनुसार- "हिट्लर

विजयी तलवार की शक्ति मे विश्वास करता था। उसने लार्ड वर्कन हेड के इस कथन की सच्चाई सावित की कि संसार उन्हीं की भूरि-भूरि प्रशसा करता है और उन्हीं को पुरस्कार देता है, जिनकी तलवार की धार तेज होती है और जिन के दिल मजवूत होते हैं।[26]

यही राष्ट्रवादी भावना अन्तत साम्राज्यवादी वन कर अन्तर्राष्ट्रीय विध्वसक युद्ध का कारण बनी। हम उस काल के अनेक विचारको में इस भावना का मंत्र पा सकते हैं, जैसे पायेकर ने कहा- "यदि हमारी पीढी अपने छिने हुए प्रान्तों को फिर वापस ले पाने की आशा में न जी रही हो, तो मुझे उसके जीवित रहने के लिए कोइ अन्य कारण दिखायी नहीं पडता।" प्रो0 फे ने राष्ट्रवादी भावना को ही युद्ध के मूल भूत कारणो में प्रमुख माना है।[27] उनके अनुसार देशभक्ति की बढ़ती हुयी विकृत भावना ने विभिन्न राष्ट्रों के बीच घृणा और द्वेष उत्पन्न कर राष्ट्रवाद को रणोन्मादी वना दिया। राष्ट्रीयता की यह प्रवृत्ति माग कर रही थी कि "एक राष्ट्रीयता एक राज्य" के सिद्धांत के अनुसार विश्व के राजनीतिक मानचित्र का पुनर्निर्माण हो। इस राष्ट्रीयता के उन्माद में विश्व के देश मानो एक दूसरेसे टकराने को आतुर थे।

2. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवादः-

साम्राज्यवाद को हम वस्तुत. राष्ट्रवाद से बहुत अलग करके नहीं देख सकते। जिस प्रकार राष्ट्रवाद के उर्ध्वाधर विकास का परिणाम सर्वाधिकारवाद है, उसी प्रकार उसके क्षैतिज विकास का परिणाम साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद है। एवेन्स्टीन ने ठीक ही कहा है कि साम्राज्यवाद राष्ट्रवाद की प्रमुख विकृति है। यह ठीक वैसे ही है जैसे एक के प्रति प्रेम दूसरे के प्रति घृणा बन जाता है। उनके अनुसार यह ऐसी विकृति है कि उच्च लोकतांत्रिक राज्य भी प्राय. कभी न कभी साम्राज्यवाद के रोग से ग्रस्त हो ही जाते हैं।[28]

किन्तु साम्राज्यवाद जब औपनिवेशिक चरित्र अपना लेता है, जैसा कि आधुनिक काल में हुआ है, तो इसकी दमनात्मक मनोवृत्ति की अपेक्षा शोषणात्मक मनोवृत्ति प्रधान हो जाती है। इस स्थित में साम्राज्यवादी केवल भू-क्षेत्र बढाने के लिए साम्राज्य का विस्तार करता है। डा0 शैक्ट ने ठीक ही कहा है- "कच्चे माल के लिए सघर्ष ने

विश्व राजनीति मे युद्ध से पूर्व अव तक की अपेक्षा सर्वाधिक भूमिका निभायी।[29]

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विश्व मे दो प्रकार की प्रगति हुई थी। एक तो जिन देशो के पास धन था और जिनका औद्योगीकरण तीव्र गति से हुआ था उनमे अधिक धन कमाने और अपने तैयार माल को बेचने के लिए वाजार प्राप्त करने की इच्छा रहती थी। ऐसे देशो में इंग्लैण्ड, अमेरिका और जर्मनी प्रमुख थे। ऐसे देशों मे आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता साम्राज्यवाद से संलग्न थी। ये देश अपना औपनिवेशिक विस्तार आर्थिक आवश्यकता के कारण करना चाहते थे। दूसरी प्रगति उन देशों की थी जो अभी कृषि तथा उद्योग के सतुलन की स्थिति में गुजर रहे थे। ऐसे देशो में फ्रांस तथा इटली थे। ये देश एशिया तथा पूर्वी यूरोप के दोशों पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे क्यों कि इन स्थानों पर अभी औद्योगिक प्रगति नहीं हुयी थी। स्वभावत. नये देशों को अधिकार में करने की भूख और अपने विशेष धन और उत्पादन की खपत करने की अभिलाषा से औपनिवेशिक सघर्ष उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि प्रो0 लैंगसम ने साम्राज्यवाद और आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता को विश्वयुद्ध का महत्वपूर्ण कारण माना है।[30]

वस्तुत उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अफ्रीका का अधिकाश भाग यूरोपीय राज्यो में विभाजित हो गया था। इसमे सवसे अधिक हिस्सा इंग्लैण्ड तथा फ्रास को प्राप्त हुआ। जर्मनी औपनिवेशिक दौड़ में विलम्ब से पहुंचा, अतः उसको अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र ही प्राप्त हुआ, जिससे वह असन्तुष्ट रहा। यद्यपि अफ्रीका के बंट्वारे के लिए कोई युद्ध नहीं लड़ना पड़ा था, किन्तु उसके कारण युरोपीय राज्यों में पारस्परिक तनाव में वृद्धि अवश्य हुई। बीसवीं सदी के प्रारंभ में जर्मनी तथा इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ गयी थी कि दोनों देशों के उद्योगपति और राजनीतिज्ञ एक दूसरेको नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे। बाल्कन क्षेत्र में रूस तथा आस्ट्रिया के परस्पर विरोधी आर्थिक हितों के कारण ही वहां संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। सुदूर पूर्व और चीन में आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए यूरोपी शक्तियों ने बन्दर बांट की। इसने उनके बीच निर्णायक संघर्ष को बढ़ा दिया। इस प्रकार यूरोपीय राज्यों की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक महत्वाकांक्षाओ के कारण एक दूसरे से घृणा और परस्पर अविश्वास का ऐसा वातावरण बना, जिससे संघर्ष आवश्यक हो गया।

यहां उक्त घटनाक्रम से हम दो प्रमुख निष्कर्ष निकाल सकते हैं। पहला निष्कर्ष स्वार्थवाद का है, जिसके अनुसार स्वय का हित ही सर्वाधिक प्रधान तथा मूल होता है। हाब्स ने कहा है- "जिस प्रकार आकाश में फेंका गया कोई पत्थर पृथ्वी पर आने को विवश है, उसी प्रकार मनुष्य के प्रत्येक कार्य अन्तत स्वयंपरक हो जाने को विवश है।" किन्तु स्वार्थवाद अन्तत. स्वयं ही आत्मघाती स्थिति में ले आता है। स्वार्थ जव निरन्तर विकसित होते हुए दुष्पूर महत्वाकांक्षाओं के रथ पर सवार हो चरम पर पहुचता है, तव स्वार्थ के विभिन्न वर्गों मे स्वत संघर्ष होने लगता है। इस आत्मव्याघाती स्थिति को हम साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी देशो के दुर्धर्प सघर्ष मे स्पप्टत देख सकते हैं। दोनों विश्वयुद्ध इन्हीं कार्यों की प्रतिद्वन्द्विता की टकराहट है।

यहां रुचिकर होगा कि एक अर्थ में मार्क्स का आर्थिक नियत्ववाद का सिद्धात यहां नये रूप में प्रतिफलित हुआ दीखता है। आर्थिक संसाधनों के स्वामित्व को लेकर होने वाला यह युद्ध क्या अर्थ की शक्ति को सूचित नहीं करता? क्या यह अर्थ की आकांक्षा के ही मौलिक आकांक्षा होने की पुष्टि नहीं करता? यह विश्व संघर्ष क्या मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पूंजीवाद के पतन से साम्य नहीं रखता। मार्क्स ने पूंजीवाद के विनाश का कारण यह दिखलाया है कि पूंजीवाद में अन्तिम अवस्था में स्वयं पूंजीपतियो में प्रतिद्वन्द्विता तथा टकराहट शुरू हो जाती है जिसका पर्यवसान पूंजीवाद की समाप्ति तथा साम्यवाद के उदय में होती है। यह निश्चय ही पूंजीवादी देशो की महत्वाकांक्षाओ की टकराहट थी।

आशीर्वादम ने साम्राज्यवाद का मूल कारण मानव की पाशविक हिंसक प्रवृत्ति को माना है।[31] उनके अनुसार मनुष्य आदिम काल से ही दमनात्मक और हिंसात्मक मनोवृत्ति रखता रहा है। एक प्रजाति का भोजन, पशु आदि के लिए दूसरी जगत माना और दूसरी प्रजातियो की हिंसा करना उसका अतीत रहा है। इस प्रकार हिंसा हमारी मूल प्रवृत्ति है और यही प्रवृत्ति बुद्धि, विज्ञान, शक्ति आदि का आश्रय पाकर संघातक महायुद्ध के रूप में प्रतिफलित होती है।

साम्राज्यवाद मनुष्य की दुर्दम्य महत्वाकांक्षा की ही परिणति है। विश्व में अधिकाधिक भूखण्ड पर प्रभुत्व, अधिकाधिक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व, अधिकाधिक संपत्तियों का

स्वामित्व- एक अन्तहीन श्रृखला को जन्म देता है। विजय की लालसा, शोषण की मनोवृत्ति और दमन की प्रणाली- सभी मिलकर, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का आधार तैयार करते हैं और इसका अन्त यदि विश्वयुद्ध में होता है, तो न तो इसमें तार्किक विसंगति दिखती है और न व्यावहारिक।

3. संघर्षवादः-

यहां संघर्षवाद का तात्पर्य संघर्षों का वर्णन करने मात्र से नहीं है। वस्तुत· आधुनिक काल मे जब डार्विन ने जैविक संघर्ष का शाश्वत नियम प्रतिपादित किया, तो यह धारणा समस्त विश्व में अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हुई। अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक विचारकों ने इसे विभिन्न सामाजिक राजनीतिक क्षेत्रो का भी अनिवार्य नियम बना दिया। हर्वर्ट स्पेंसर ने इसे सामाजिक क्षेत्र मे भी लागू कर दिया। नीत्शे की दृष्टि में तो यह आदर्श ही बन गया।

केवल प्रबुद्ध वर्ग के चिन्तन में ही नहीं, अपितु जनसामान्य के भी मन मे संघर्षवाद की स्वीकृति सी मिलने लगी।' ''इस समय डार्विन के सिद्धात से कई लोग प्रभावित थे और वे सामाजिक डार्विनवाद में विश्वास करते थे अर्थात् वे समझाते थे कि योग्यतम राष्ट्र ही बचेगा और उन्नति करेगा अथवा यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि संघर्ष जीवन का एक प्राकृतिक नियम है ओर विकास के लिए आवश्यक है। विभिन्न राष्ट्रों के लोग अपनी-अपनी संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट समझते थे और दलित राष्ट्रो को उन्नत बनाना अपना धार्मिक कर्तव्य मानते थे। इस कर्तव्य की दुहाई के वहाने अन्य जातियो पर अपना प्रमाण स्थापित करने का उपाय नैतिक माना जाने लगा''[32] पॉल रुचिवेक के शब्दो में- ''डार्विनवाद ने विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र के वाहर भी प्रभाव डाला है। जीवित रहने के लिए जो निर्भय जीवन-मरण संघर्ष है, उसने नयी नैतिकता का रूप ले लिया है, जैसे कि पूंजीवादियों के बीच निर्मम प्रतिस्पर्धा है। साम्यवादी जगत में निर्मम वर्ग-संघर्ष है और कहीं निर्मम राष्ट्रवाद है।[33]

संघर्षवाद को बल जड़वाद से भी मिला। मार्क्स ने फायरबाख का अनुसरण करतेहुए जीवन की जो जड़वादी व्याख्या प्रस्तुत की, समाज में उसके विकृत परिणाम भी सामने आये। जब एक बार यह भावना घर कर जाये कि चेतना जड़परक है तो

फिर हत्याओ के प्रति व्यक्ति निर्मम बन जाता है। युद्ध काल में "भौतिकवाद की प्रगति के साथ धार्मिकता तथा मानवता की भावना शिथिल पडती जा रही थी और नरसहार से अव लोगो की नैतिक भावना को अधिक ठेस नहीं पहुंचती थी।[34] पॉल रुचिवेक के अनुसार– मानवीय इतिहास मे यह पहला मौका है, जव मन और तर्कवुद्धि को अव किसी रहस्यात्मक उच्चतर शक्ति के रूप में, अतिप्राकृतिक दैविक क्षेत्र के अंग के रूप में, जो मानवीय हस्तक्षेप करता है, नहीं देखा जाता, प्रत्युत निम्नतर जैविक कारको की उपज के रूप में देखा जाता है और भौतिकवाद को सुदृढ वनाने के लिए इससे अधिक कोई काम नहीं हुआ है। आत्मा शव्द का अर्थ लुप्त हो गया है और स्वयं मानव को अशक्त कर दिया गया है।[35]

काम्टे से चली प्रत्यक्षवादी विचारधारा ने इसमें महत्वूर्ण भूमिका निभायी। बाटमोर के अनुसार– "काम्टे तथा स्पेंसर दोनों ने समाज के विकास मे युद्ध की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया।[36] स्वय काम्टे के शब्दो में– "मानव समाज के विस्तार मे तथा उसकी आतरिक व्यवस्था के निगमन मे युद्ध की भूमिका अतुलनीय है।"

इसी प्रकार स्पेंसर ने कहा है कि प्रारंभिक विकसित अवस्था मे केवल नहीं समाज जीवित रह सकते थे जो अधिकाधिक रूप मे युद्ध के प्रति संगठित हों।" सामाजिक प्रारूप योग्यतम की उत्तरजीविता द्वारा निर्धारित होता था जिसमें एक वर्ग वह होता था जो अस्त्र धारण करता था और अस्त्र द्वारा आश्वस्त होता था जबकि दूसरा वर्ग सेवा करते हुए हमारी शाश्वत सहानुभूति का पात्र हो सकता था।[37]

काम्टे तथा स्पेंसर दोनों ने ऐतिहासिक दृष्टि से केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया था। उनका उद्देश्य युद्ध को आदर्श बनाना कदापि नहीं था। किन्तु नीत्शे ने इसे एक आदर्श का रूप दे दिया। नीत्शे कहता है एक आदर्श राज्य वह है, जहां की सेनाएं सदैव युद्ध के लिए सन्नद्ध है। एक आदर्श मानव वह है जो वीर और आक्रामक है। हिंसा और युद्ध स्वामी जनों की नैतिकता है। और यदि कोई व्यक्ति स्वामित्वपूर्ण ढंग से किसी का हिंसक दमन करता है तो वह सर्वथा उचित है। नीत्शे कहता है कि मेरे जीवन का सुंदरतम दृश्य वह है जब प्रभात बेला में खुली संगीनो के साथ सैनिक कदमताल कर रहे हों।

नीत्शे इसी अवधारणा के कारण नेपोलियन की भूरि-भूरि सराहना करता है। वह कहता है- "नेपोलियन ने एक युग का सूत्रपात किया है हम इस संवंध में नेपोलियन के ऋणी हैं अर्थात् युद्ध की अनेक शताव्दियां जो इतिहास मे वेमिसाल रही हैं अव एक दूसरे का अनुगमन कर सकती हैं। हमने युद्ध के क्लासिकी युग में प्रवेश किया है जिसे आने वाली शताब्दिया ईर्ष्या से और पूर्णता की अभिव्यक्ति के रूप में विस्मृत होकर देखेंगी।[38]

नीत्शे का योद्धा एक क्रूर योद्धा है। अपनी बर्वरता और शक्ति में वह अतुलनीय है। वह कहता है- जीने का अर्थ है- मरणोन्मुख, तुच्छ एवं जीर्णशीर्ण के प्रति करुणा रहित होना, निरन्तर हत्या करते जाना। यही वर्बरता नेपोलियन, स्टलिन, हिट्लर, मुसोलिनी आदि के 50 साल तक लोगों का अकारण हत्यारा है। हिट्लर ने तो प्रजातिवाद के नाम पर 40 लाख यहूदियों की गैस चेम्बर में हत्या करवा दी। इससे अधिक बर्बरता और क्या होगी? सिकन्दर, चंगेज खा, नादिरशाह, तैमूरलंग से लेकर माओत्से तुंग पोल पॉट तक यह हिंसा करी न कही किसी न किसी रूप मे व्यापक ढंग से विद्यमान रही है।

और यह हिंसक तांडव विश्वयुद्धो मे कम से कम 11 करोड लोगों की हत्या तथा 15 करोड लोगों के अग भंग के रूप में सामने आया। इसके पूर्व कोई युद्ध इतना व्यापक और विनाशक नहीं रहा है, क्योंकि अब तक मनुष्य ने अत्यधिक संघातक भौतिक और आणविक शक्तियां अर्जित कर ली थीं। युद्ध संघर्ष के रूप में प्रतिफलित तो होते हैं, किन्तु शक्ति के ही आधार पर लडे जाते हैं। प्रकृति में 'मत्स्य न्याय' विद्यमान है, सर्वत्र 'शक्ति का नियम' क्रियाशील है, किन्तु जब सभ्यता के विकसित शिखर पर भी यही न्याय और नियम क्रियाशली लेंगे, तो परिणाम युद्ध ही होगा और युद्ध तब अधिकाधिक विध्वंसक होंगे।

4. अवसरवादः-

अवसरवाद का तात्पर्य यहा राजनैतिक कूटनीतियों और कपटसंधियों से है। जीवन की सहज रहस्यात्मकता जब कार्यों की संघातक रहस्यात्मकता का रूप ले लेती है, तो सारे मूल्य, सारे विश्वास खंडित होने लगते हैं। युद्ध में कूटनीतियों की सदैव से प्रमुख

भूमिका रही है। पश्चिम के चाणक्य मैक्यावेली ने अपनी पुस्तक Prince में कूटनीति को राजनीति का अनिवार्य अंग ही माना है। उसका कहना है- "ऐसी कोई वात अपने मित्र से भी न कहो, जो तुम अपने शत्रु से नहीं कह सकते और ऐसी कोई वात तुम अपने शत्रु के लिए न कहो जो अपने मित्र के लिए नहीं कह सकते।" मैक्यावेली का तात्पर्य यह था कि जीवन के संबंध इतने जटिल तथा परिवर्तशील होते हैं कि किसी पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता।

प्रथम और द्वितीय- दोनो विश्वयुद्धों मे हम अवसरवादी कूटनीति की विकट छाया देख सकते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व विस्मार्क की कूटनीतिक संधियों के काण एक ओर त्रिगुट (Triple Allience) का निर्माण हुआ, तो दूसरी ओर आत्मरक्षा में त्रिराष्ट्र मैत्री (Triple Intente) स्थापित हुई। इसका विस्तार होने पर सम्पूर्ण विश्व प्राय दो गुटों में विभक्त हो गया जिनमें एक केन्द्रीय शक्ति (Central Force) के अन्तर्गत आता था तथा दूसरा मित्र राष्ट्र के अन्तर्गत। इस कारण प्रत्येक आक्रान्ता या आक्रान्त देश से जुड़कर सारे देश युद्ध मे संलग्न होते गये। इसी करण प्रो0 फे ने कहा है- "युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्निहित कारण गुप्त सन्धियों की प्रणाली थी। इसने धीरे-धीरे युरोप की शक्तियो को ऐसे दो विरोधी गुटो मे वांट लिया जिनमें एक दूसरे के प्रति सन्देह बढ़ता रहा।"[39]

अवसरवाद को हिटलर तथा मुसोलिनी ने एक आदर्श सिद्धात का रूप दे दिया। सैबाइन ने स्पष्ट कहा है कि इटली और जर्मनी दोनों देशो मे दलों ने अपनी शक्ति का विकास अवसरवाद के आधार पर किया था।[40] मुसोलिनी ने स्पष्ट कहा कि फासीवाद का अपना कोई सिद्धांत नहीं है। उसका कहना था- "सिद्धातों की कोई जरूरत नहीं है, अनुशासन पर्याप्त है।" 1924 में अपने एक निबन्ध में उसनेलिखा था- "हम फासिस्टों में इतना साहस है कि हम परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों की उपेक्षा कर सकते हैं। हम अभिजात भी हैं और लोकतंत्रवादी भी, क्रान्तिकारी भी हैं और प्रतिक्रियावादी भी, श्रमिक भी हैं, श्रमिक विरोधी भी, शान्तिवादी भी हैं और शान्ति विरोधी भी। हमारे लिए केवल एक उद्देश्य पर्याप्त है- राष्ट्र और सारी चीजें साफ हैं।"[41]

इसी प्रकार हिटलर ने कहा-सारे कार्यक्रम व्यर्थ हैं। निर्णायक वस्तु है मनुष्य

की इच्छा, स्वस्थ दृष्टि, पुरुषोचित साहस, विश्वास की सत्यता, आतरिक इच्छा, ये ही सारी चीजें निर्णायक है।[42]

ड्रेस्टन के एक दल नेता ने और भी स्पष्ट रूप में एक उद्योगपति को लिखे पत्र में कहा– "हमारे विज्ञापनो की भाषा से आप परेशान न हो। 'पूंजीवाद का नाश हो' जैसे शब्द मोहक शब्द हैं। लेकिन वे आवश्यक हैं। हमे क्षुब्ध समाजवादी कार्यकर्ता की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। हमारा कोई प्रत्यक्ष कार्यक्रम नहीं है। इसका कारण कूटनीति है।[43] इसी कारण सैबाइन ने कहा है– इन विचारधाराओं के उच्च नेताओं तक के बारे में, जो सनकी थे, यह नहीं कहा जा सकता था कि उन्होने जिस विचारधारा के निर्माण मे मदद की थी, वे उसके स्वामी थे या सेवक।[44]

यहा हम इन विचारधाराओ को अस्तित्ववाद के सापेक्ष दो आयामो से देख सकते हैं। पहला तो यह कि इस विचारधारा के कारण न केवल अस्तित्व का, अपितु मूल्यों का भी सकट उत्पन्न हो गया। नैतिकता, जो कभी काट जैसे दार्शनिको के लिए सर्वोच्च थी, अब आश्रय नहीं बन सकती थी। इसी कारण सार्त्र ने कहा– "यह जानते हुए कि मनुष्य स्वतंत्र है और कोई ऐसी मानवीय प्रकृति नहीं है, जिसे बुनियादी समझा जा सके। मैं इंसानी अच्छाई पर या समाज कल्याण में मानवीय रुचि आदि बातों पर अपने विश्वास की नींव खडी नहीं करसकता।"[45] कामू भी जगत के बेतुकेपन (Absurdity) पर गहरी निराशा प्रकट करते हुए कहते हैं– "हत्यारा न तो उचित होता है और न अनुचित। अशुभ और सद्‌गुण केवल यदृच्छा या स्वेच्छा हैं।"[46] नीत्शे ने ठीक ही कहा है– "सद्‌गुण हमारे दुर्गुणो के लिए निमृत स्थान है।"[47] कीर्केगार्ड को इसी कारण नैतिकता की गहरी निराशा से जूझना पडता है। अपनी धार्मिक मनोवृत्ति को वह "नैतिकता का सोद्‌देश्य निलम्बन (Teleological Suspension of Ethical Despair)" कहते हैं।

यहां राजनैतिक कूटनीति के संदर्भ में हम लेनिन को अवश्य याद कर सकते हैं– "लोग राजनीति मे प्रतारणा और आत्मप्रतारणा के सदा नादान शिकार रहे हैं और तब तक सदा रहेंगे जब तक कि वे सारी नैतकि, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक फिकरेबाजी, घोषणाओं और वादो के पीछे किसी न किसी वर्ग के हितों को खोज

निकालना न सीख लें।[48]

इस अवसरवाद का दूसरा पहलू बुद्धिनिरोधवाद के रूप में विद्यमान है, जो कि अस्तित्ववाद की एक प्रमुख दृष्टि रही है। "फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद के शत्रुओ ने इन आन्दोलनो को विवेक के विरोध मे क्रान्ति कहा। इन आन्दोलनों के सिद्धांत कर्ताओं ने इस विवरण को न केवल स्वीकार किया वल्कि उसे हल्का भी माना। उन्होंने अपनी रचनाओ मे बार-बार कहा कि "विवेक जीवन का नियन्त्रण नहीं करता, बल्कि जीवन विवेक का नियन्त्रण करता है।" इतिहास के महान कार्य बुद्धि के द्वारा नहीं, बल्कि वीरतापूर्ण इच्छा के द्वारा होते हैं।[49] सृजनशीलता अथवा दृष्टि मूलत बुद्धि और विवेक की विरोधी होती है।[50] फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद अपने समस्त विरोधी राजनीतिक सिद्धांतो को चाहे वह उदारवादी हो या मार्क्सवादी, निष्फल बुद्धिवाद के घृणापूर्णशब्दों से संबोधित करते थे।

इन विचारकों को बुद्धिवाद के विरोध की प्रेरणा नीत्शे के अलावा शापेनहावर से भी मिली। शापेनहावर का विश्वास था कि प्रकृति और मानव जीवन, इन दोनों के मूल में एक अविश्रांत अन्धशक्ति कार्य कर रही है। शापेनहावर ने इस शक्ति को 'संकल्प' (Will) कहा है। यह शक्ति निरुद्देश्य, निरर्थक और बेचैन है। यह सब चीजो की कामना करती है, लेकिन किसी से भी सन्तुष्ट नहीं रहती। यह सृजन और संहार करती है, लेकिन उसे सिद्धि कभी नहीं मिलती। इस बुद्धिविरोधी महासमुद्र मे केवल मानव मस्तिष्क ही एक ऐसे एकाकी ओर निर्जन द्वीप का निर्माण करता है, जिसमे कभी-कभी विवेक तथा प्रयोजन की माया अपनी छवि दिखाती है। सत्ता की वास्तविकता का ज्ञान न विज्ञान दे सकता है, न गणित और न साधारण बौद्धिक दर्शनशास्त्र।[52]

वस्तुतः जब प्रकृति कि निर्बौद्धिकता को जन सामान्य की निर्बौद्धिकता के रूप में स्वीकृति मिल जाती है, विश्व की तात्विक सत्ता की निरुद्देश्य गतिशीलता को आधार बनाकर कोई राजनीतिक सत्ता कपटपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम हो जाती है, जीवन की निरर्थकता के नाम पर जब अर्थहीन मूल्यों द्वारा अर्थसिद्धि के प्रयास सफलीभूत हो जाते हैं, तो अवसरवाद के लिए परम राजमार्ग खुल जाता है। स्वार्थ अवसरानुकूल कपटसंधियो का सृजन करता है और अपने चरम पर पहुच कर स्वयं ही

क्षुद्र अहंकारों की टकराहट का केन्द्र वन जाता है। प्रत्येक अवसरवाद और स्वार्थवाद स्वय विघटित होकर द्वन्द्वो और युद्धों का सर्जक वनता है।

5. अराजकतावादः-

बीसवीं सदी के प्रथम दशक मे ही यूरोप में अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। शक्तिशाली देश छोटे-छोटे राज्यों मे बंटकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करने मे लग रहे थे। विश्व एक प्रकार की आन्तरिक और वाह्य अराजकता से ग्रस्त हो चुका था। इसे हम अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की सज्ञा दे सकते हैं।[53] प्रथम विश्वयुद्ध के समय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए कोई वैश्विक संस्था भी न थी। किन्तु युद्धोपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए जिस संस्था 'राष्ट्रसंघ' (League of Natıons) की 1920 में स्थापना की गयी, वह स्वयं असफल सिद्ध हुआ।

राष्ट्रसंघ का जन्मदाता विल्सन स्वयं अमेरिका को इसका सदस्य नहीं बना सका। फ्रांसीसी प्रधानमुत्री क्लीमेशू ने इसके पूर्ववर्ती 14 सूत्री प्रस्तावों की खिल्ली उडाते हुए कहा कि परमात्मा ने 10 आदेश काफी समझे, विल्सन को 14 की आवश्यकता पड़ी। प्रारंभ में, पराजित राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखना इस बात का द्योतक हो गया कि राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का गुट है। रूस राष्ट्रसंघ को पश्चिमी राष्ट्रों का साम्यवादी रूस के विरुद्ध षड्यन्त्र मानता था। हिटलर का तो कहना था- "खोये हुए प्रदेशो की पुन प्राप्ति ईश्वर की प्रार्थना करने से अथवा राष्ट्रसंघ के प्रति पवित्र आस्था रखने से नहीं, वरन् सैनिक शक्ति से ही हो सकती है।[54] अन्तत द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ के साथ ही राष्ट्रसंघ की पूर्णतः असफलता सिद्ध हो गयी।

यदि हम थोड़ी देर के लिए आदर्शवादियों की भांति राज्य को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लें, जैसा कि हीगेल ने कहा है कि राज्य का अपना एक व्यक्तित्व होता है, आन्तरिक अराजकतावाद का संबंध वाह्य अराजकतावाद से जोड सकते हैं। विश्व के समस्त राष्ट्र यदि किसी सर्वोच्च नियामक संस्था का अनुशासन न मानें, परस्पर विभिन्न देशों का सह-अस्तित्व न स्वीकार करेंगे तो एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति आ जाती है। यह आन्तरिक अराजकता का ही विस्तार है।

अराजकतावाद क्या है? अराजकतावाद, वह राजनीतिक विचारधारा है, जिसमे राज्य की सत्ता को सम्पूर्णत. नकार दिया जाय तथा व्यक्तियो को स्वयं ही शासन मे समर्थ मानलिया जाय। अराजकतावादी राज्य ही नहीं, अपितु किसी भी शक्तिसपन्न सत्ता के शासन का विरोध करते हैं और सत्ता से मुक्ति का उद्घोष करते हैं। वे समाज की पिरामिडीय रचना की बजाय वृत्तीय सरचना का प्रतिपादन करते हैं। अराजकतावादियों के अनुसार स्वतंत्र व्यवस्था और संयोग के सिद्धात के कारण समाज का स्वाभाविक समूहीकरण हो जायेगा और यह इतना अधिक सामंजस्यपूर्ण और दक्षतापूर्ण होगा कि उसमे सर्वत्र एक प्राकृतिक सतुलन स्थापित हो जायेगा। इस संदर्भ में *फूरिये* का कथन है– "छोटे–छोटे कंकडो को एक सन्दूक में भरकर हिलाइये, वे इस सुन्दरता सेआपस में बैठ जायेगे के आप इस प्रकार का आकार कभी किसी व्यक्ति द्वारा नहीं दे सकते।"

अराजकतावादी विचारधारा यद्यपि किसी न किसी रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है किन्तु *कोकर* के अनुसार– "विलियम गाडविन को ही आधुनिक अर्थो में प्रथम अराजकतावादी कहा जा सकता है। वह स्पष्ट रूप से पहला विरोधी था जिसने राजनीतिक सत्ता और व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध किया। उन्नीसवीं शताब्दी मे थोरो, एंड्रूज, श्मिट आदि ने इसका संवर्द्धन किया। *श्मिट* ने कहा– व्यक्ति ही एक मात्र सत्ता है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वोच्च कानून उसका अपना हित और सुख है। राज्य अस्वाभाविक है। राज्य व्यक्तिका दमन करता है। राज्य का जैसे भी हो विनाश होना चाहिए। यदि इसके विनाश के लिए हिंसात्मक कार्य करना हो तो वह भी करना चाहिए।

कोकर के अनुसार, आधुनिक अराजकतावाद अपने सर्वाधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप में माइकल बाकुनिन तथा प्रिंस क्रोपाटकिन (142–1921) की रचनाओ में मिलता है। ये दोनों विचारक क्रान्तिकारी अराजकतावाद के प्रवर्तक हैं। दोनों का सामाजिक राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव रहा। मार्क्स ने भी अराजकतावाद का समर्थन किया, किन्तु वे एक सीमा तक राज्य को अनिवार्य बुराई मानते हैं। टालस्टॉय तथा गांधी ने शान्तिपरक दार्शनिक अराजकतावाद का समर्थन किया।

राज्य के प्रति इस विद्रोह भाव ने समाज में क्रान्ति तथा अशान्ति को जन्म

दिया। युद्धों में संलग्न राष्ट्रों के लिए यह एक प्रवल चुनौती थी। युद्धोपरान्त जन सामान्य मे राज्य की भूमिका को लेकर एक गहरी निराशा फैल गयी। व्यक्ति अव राज्य से सुरक्षा की बजाय भय खाने लगा। वह एक विचित्र द्वन्द्व मे फंस गया। अराजकतावाद उसे आकृष्ट भी करता था और अराजकता उसे भयभीत भी करती थी। ऐसे द्वन्द्व की स्थिति में अस्तित्ववाद एक प्रभावी दर्शन के रूप में उभरा।

वस्तुत अस्तित्ववाद में व्यक्ति का द्वन्द्व केवल, दार्शनिक, धार्मिक, वैज्ञानिक ही नहीं अपितु राजनीतिक सामाजिक भी रहा है। इसी कारण अस्तित्ववादियों ने राजनीति को भी दर्शन तथा जीवन से जोडने का भरपूर प्रयास किया। यास्पर्स तो कहते थे कोई भी महान दर्शन राजनीति के बिना पूर्ण नहीं होता। प्लेटो, काट, हीगेल, कीर्केगार्ड, नीत्शे आदि सभी राजनीति पर विचार करते रहे हैं। दार्शनिको की राजनीति उच्च कोटि की होती है। दर्शन का व्यावहारिक रूप राजनीति मे देखने को मिलता है। सार्त्र ने स्वयं (Critique of Dilectic) के उपरान्त मार्क्सवाद के प्रति गहरी प्रतिबद्धता दिखलायी। कामू अल्जीरिया के प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट नेता थे, उन्हें 1939 में पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। युद्ध के इन कारणों के आलोक मे हम अस्तित्ववादी मनोवृत्ति के उद्‌भव को देख चुके हैं। अब हमें युद्ध के परिणामों के आधार पर अस्तित्ववाद की दृष्टि का देखना होगा। महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि इन युद्धों ने मानव की सम्पूर्ण आन्तरिक चेतना और बाहृय व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया। इसमे अनेक मिथक टूटे अनेक मूल्य स्थापित हुए। एक ओर राष्ट्रभक्ति की आस्थापरक धारणा दुर्वल हुई, तो दूसरी ओर मानवतावादी और विश्व बन्धुत्व की चेतना सबल हुई। एक ओर दलित–शोषित–वंचित वर्ग में उनकी अस्मिता के प्रति जागृति आयी तो दूसरी ओर जातीय और प्रजातीय श्रेष्ठता का भ्रम टूट गया।[55] अपार जन–धन की हानि हुई। दोनो युद्धों में लगभग 10 करोड़ लोग हताहत हुए, किन्तु इसका एक दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि युद्ध के प्रति वितृष्णा का भाव आ गया। अब यह शौर्य और वीरता का प्रतीक नहीं, अपितु पशुता और बर्बरता का प्रतीक बन गया। मानवता के इतिहास में यह एक महती क्रान्ति थी।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए 'संयुक्त राष्ट्र सेवा' तथा इसके अधीन अनेक संस्थाएं स्थापित की गयीं, बाद में इन संस्थाओं ने विकासात्मक कार्यों में भी सहयोग देना प्रारंभ

कर दिया। अस्तित्ववादी दृष्टि से जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया, वह व्यक्ति की अस्मिता के बोध के रूप में परिलक्षित हुआ और यह बोध कोई दार्शनिक बोध नहीं था, अपितु यह उनके आन्दोलनो मे, क्रान्तियों में परिलक्षित हुआ। उदाहरणार्थ- महायुद्ध के अवसर पर करोडो की संख्या में नवयुवको के युद्ध मे चले आने के कारण श्रमिकों की कमी हो गयी। लड़ाई मे विजय के लिए जितनी आवश्यकता सैनिकों की थी, उतनी ही अस्त्र शस्त्रों व अन्य युद्धोपयोगी सामग्री की भी थी। इससे श्रमिकों की मांग बढी, फलत. श्रमिकों को अपनी महत्ता का बोध हुआ। इस बोध ने उन्हें अपने कार्य-कालो तथा वेतनो ओर सुविधाओं के लिए आंदोलन की ओर उन्मुख किया। अनेक श्रमिक संघो ही नहीं अपितु राजनीतिक श्रमिक दलो की भी स्थापना हुई।

इसी प्रकार युद्ध मे पुरुषों के मारे जाने के कारण स्त्रियों को उद्योग, व्यवसाय और सेवा क्षेत्र में आना पड़ा। इससे नारीवादी आंदोलनों मे मुखरता आयी। सीमोन द बोउवार, जो कि एक अस्तित्ववादी होने के साथ साथ नारीवादी विचारक भी थी, ने The Second Sex नाम से विख्यात पुस्तक लिखी, जिसमें नारी की अस्मिता को नये ढग से उठाया गया। वे कहती हैं- "मैं स्त्री की नियति की समस्या को बिल्कुल दूसरे ढंग से प्रस्तुत करना चाहूंगी। मैं औरत के मूल्यांकन के क्रम में कहूंगी कि उसके आचरण को स्वतंत्रता का नया और सही आयाम दिया जाये। मैं यह विश्वास करती हूं कि औरत अपने में अनुभवातीत सर्वोपरिता की ओर संक्रमित हो जाने की क्षमता रखती है। यह उस पर निर्भर करता है कि वह अपनी क्षमता का उपयोग करे, स्वीकार करे या फिर वस्तु रूप में अपने अलगाव में ही सीमित हो जाये। उसे इन विरोधी प्रेरणाओ का खिलौना नहीं बनकर इनका समाधान नैतिक स्तर पर करना चाहिए।"[56]

विश्वयुद्ध ने प्रजातिगत श्रेष्ठता के दावों को भी खोखला सिद्ध कर दिया। युद्ध में श्वेतेतर जातियो ने जो शौर्य तथा पराक्रम दिखलाया उससे यूरोपीय नस्लो की उत्कृष्टता का विचार निराधार सिद्ध हुआ। सब नस्लें एक समान हैं कोई उत्कृष्ट या हीन नहीं है, इस विचार द्वारा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीयता तथा सुख-शान्ति में वृद्धि मिली[57] अफ्रीका एवं अन्य देशों में हुई अश्वेत क्रान्ति को हम इसी दृष्टि से देख सकते हैं। यही दृष्टि प्रकारान्तर से एशिया के गौरव के उदय का भी आधार बन गयी। *टायनबी*

ने ठीक ही कहा है– "एशिया के पुनरुत्थान की यह घटना अणुवम से भी अधिक विस्फोटक थी।"

अव हम युद्ध की भयानकता के आलोक मे अस्तित्ववाद मे निराशा, चिन्ता मृत्युभय, प्रक्षिप्तता आदि के रूप मे व्याप्त मानव की मनाव्यथाओं का प्रारूप देख सकते हैं। सारे अस्तित्ववादी जिस भय और चिन्ता से उद्विग्न हैं, उन्हें हम युद्ध की पृष्ठभूमि से सरलतया जोड़ सकते हैं। उदारणार्थ– मार्टिन हाइडेगर ने मानव की सत्तात्मक अनुभूति को एक प्रकार से फेंके हुए होने की अनुभूति कहा है। इसे ही रूप वदल कर सार्त्र ने कहा था कि "फेकी हुई स्वतत्रता है।" हाइडेगर यह दिखाना चाहते हैं कि मानव इस जीवन में चयन के द्वारा नहीं आया, अपितु उसे आकस्मिक रूप से फेक दिया गया है। "जगत मे फेकी हुई सत्ता के रूप में मनुष्य में अपनी प्रामाणिकता को प्राप्त करने की आकुलता है।[58] हाइडेगर को यह विचार ही तब सूझा था, जब वह प्रथम विश्वयुद्ध मे खन्दक मे पड़ा था। वह अपनी स्वेच्छा से नहीं गया था, उसे विठा दिया गया था। यह महाविनाश का ही दृश्य था जिसने कामू को यह कहने को वाध्य किया– "सबसे गम्भीर केवल एक ही दार्शनिक मुद्दा है और वह है आत्महत्या का यह निर्णय लेना कि जिन्दगी जीने योग्य है या नहीं।[59] अन्तत· मृत्यु की आपद्स्थिति को वे स्वीकार करते हुए कहते हैं– निर्णय तो इस बात का लेना है कि मृत्यु का सामना कैसे कया जाय? एक कापुरुष क तरह या फिर योद्धाभाव से। मृत्यु वह चट्टान है, वह वोझ है, जिसका बोध हमे होना चाहिए। मौत पर विजय नहीं, बल्कि मौत का सामना करना पड़ता है।[60] मृत्यु की अनुभूति हाइडेगर में भी प्रखर है। उनके अनुसार मृत्युबोध भी तात्विक शून्यताबोध की वास्तविक जगत में अभिव्यक्ति ही है। वास्तविक जीवन में मृत्युबोध जैसी स्थितिया ही अस्तित्व को अर्थपूर्ण ढंग से सर्जित करती हैं मृत्यु ही हमारा निश्चित भविष्य है। जिस प्रकार हमारा अस्तित्व हमारा है, वैसे ही हमारी मृत्यु भी हमारी है कोई सार्वभौम मृत्यु नहीं होती, कोई और हमारी मृत्यु नहीं मर सकता। मृत्यु निश्चित होते हुए भी अनिश्चित स्वभाव की है, कोई नहीं जान सकता कि वह कब आयेगी। "मनुष्य अपनी सत्ता मे और अपने लिए मृत्यु को अपनी संभावना के रूप में देखता है। इस पूर्वानुमान की प्रारंभिक अवस्था में वह अपने को 'वे' अर्थात जनसमूह में खोया हुआ पाता है और तत्पश्चात् मृत्यु के समक्ष अपने अकेलेपन का

अहसास करता है और उस समय मृत्यु के प्रति स्वतंत्रता का अनुभव करता है, जिस स्वतंत्रता का अपहरण उसके सार्वजनिक जीवन ने कर लिया था।[62] हाइडेगर कहते हैं कि मनुष्य ज्यो ही जीवन में आता है, तत्काल मृत्यु के लिए वूढा हो जाता है।"[63] किन्तु वे भी मृत्यु का सामना दार्शनिक शैली मे करना चाहते हैं उनके अनुसार मृत्यु अस्तित्व की समाप्ति नहीं, अपितु उसकी परिणति है। मृत्यु ही है जो हर मनुष्य को एक सूत्र में बाधे है। यदि मृत्यु की इन अनिवार्य विशिष्टताओं की अनुभूति हो जाय, तो अस्तित्व की समझ आ जाये, जीवन प्रामाणिक हो जाये।

"सार्त्र ने मृत्यु को जीवन की तथ्यात्मकता के रूप में चित्रित किया है। वे कहते हैं- मृत्यु, गलत या सही ढंग से, हमारे जीवन की वह सीमा है जिसे हम निर्धारित नहीं कर सकते। अपनी आंतरिकता के कारण इसमें वैयक्तिकता है। यह अब मानव की सीमा निर्धारित करने वाली अज्ञात तत्व नहीं, अपितु मेरे व्यक्तिगत जीवन का एक तथ्य है, जो मेरे जीवन को एक विशिष्ट (Unique) जीवन बनाती है और वह यह है कि यह जीवन दुबारा शुरू नहीं होगा, एक ऐसा जीवन, जो उसकी चोट को भर नहीं सकेगा। अतः मैं अपने जीवन के समान ही अपनी मृत्यु के प्रति भी उत्तरदायी हो जाता हूँ।"[64]

वस्तुत मृत्यु का विवेचन समूचे अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख विषय है। हाइडेगर तथा सार्त्र के विश्लेषण काफी समानता रखते हैं। लेकिन एक अन्तर ध्यान देने लायक है- मृत्यु में निहित त्रास, हाइडेगर के अनुसार, इस नाते उत्पन्न होता है कि मृत्यु मनुष्य की जगत मे स्थित सत्ता का अपहरण करती हुई प्रतीत होती है, जबकि सार्त्र मृत्यु को इसलिए त्रासद मानते हैं क्योंकि वह हमारी स्वतंत्रता और विषयिता हमसे छीन लेती है। लेकिन दोनों ही इस मुख्य बिन्दु पर सहमत हैं कि मृत्यु मनुष्य की अतिक्रमणशीलता के आगे एक विराम है।[65]

जीवन के प्रति आशंका और मृत्यु के प्रति भय अस्तित्ववाद को एक निराशावादी पथ पर अग्रसरित करता हुआ प्रतीत होता है। कीर्केगार्ड जैसे विचारक मानव को एक सतत् कम्पन कहते हैं, और अन्तत धर्म का आश्रय लेने का प्रयास करते हैं। वे ईसाक और अब्राहम की कथा के माध्यम से एक ट्रैजिक हीरो की परिकल्पना तक पहुंचते हैं। वे मानते हैं कि ट्रैजिक हीरो का सम्पूर्ण उत्सर्ग उसके जीवन की त्रासदी में मूर्तमान

होता है। पर इसी के साथ उसे संपूर्ण मानवता का समर्थन प्राप्त होता है, जो उसे साहस और शक्ति प्रदान करता है।[66] यास्पर्स, मार्सल, पाल टिलिक, निकोलस बर्डियेव आदि भी किसी न किसी रूप में आस्थापरक जीवन दृष्टि का सहारा लेते हैं। किन्तु कामू का मन इससे विद्रोह कर उठता है। वे इस दृष्टि को 'दार्शनिक आत्महत्या' की संज्ञा देते हैं। सार्त्र और हाइडेगर प्रामाणिक व्यक्तित्व की पहचान जीवन के निर्मम तथ्यो का सामना करने में दिखाते हैं।

इन विचारकों को अन्ततः जीवन और जगत दोनों की अयुक्तता और अर्थहीनता के दौर से गुजरना पड़ता है। सार्त्र कहते हैं- "यह अर्थहीन है कि हम पैदा हुए थे, यह भी अर्थहीन है कि हम मरते हैं।[67] पॉल रुबिचेक कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सार्त्र अपने को पूर्ण शून्यवाद में डाल देता है। वह यह कहने को बाध्य हो जाता है- सभी वर्तमान प्राणियो का जन्म अकारण हुआ है। मानव निर्वल बनकर रहता है और अकस्मात् उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य एक निरर्थक भावावेश हैं।[68]

कामू भी जगत की अयुक्तता की ऐसी ही अभिव्यक्ति देते हैं। वे कहते हैं- "मैं कहता हूं यह जगत अयुक्त है... यह अयुक्तता अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य पर भी उतनी ही निर्भर है, जितनी विश्व पर। यदि मैं वृक्षों के मध्य एक वृक्ष होता था। पशुओं के मध्य एक बिल्ली होता, तो यह जीवन एक अर्थ रखता अथवा यह समस्या ही अर्थहीन होती, क्योंकि मैं जगत का हिस्सा होता।"[69]

यहां हम देख सकते हैं कि निराशावाद अस्तित्ववाद में एक प्रमुख दृष्टि वन जाता है। यद्यपि सार्त्र, कामू, हाइडेगर आदि सभी किसी न किसी रूप में अपने दर्शन को निराशावादी मानने से इनकार करते हैं, किन्तु इससे बचना अत्यन्त कठिन और अतार्किक हो जाता है। सार्त्र 'अस्तित्ववाद और मानववाद' में इसका स्पष्टीकरण देते हैं- "सबसे पहले यह सोचें कि मनोव्यथा से हमारा अभिप्राय क्या है? अस्तित्ववादी बेझिझक कहते हैं कि मनुष्य मनोव्यथा से पीड़ित है। इससे उसका तात्पर्य यह है कि जब एक व्यक्ति यह अनुभव करते हुए कि वह केवल उसका ही चुनाव नहीं कर रहा है, जो वह होगा, अपितु इसके साथ ही एक विधायक के रूप में सम्पूर्ण मानव जाति के लिए निर्णय

ले रहा है तो अपने को किसी के प्रति प्रतिवद्ध करता है। ऐसे क्षणों में वह मनुष्य गहन और पूर्ण दायित्व बोध से भाग नहीं सकता।[70] किन्तु 'व्यवहार स्वच्छन्दता'' (Abandonement) के साथ ही मनोव्यथा खत्म हो जाती है। व्यवहार स्वच्छदता का यही अर्थ है कि हम खुद अपने निर्माता है।''[71] वे आगे कहते हैं कि ''जिस वात के लिए लोग हमें कोसते हैं, वह हमारा निराशावाद नहीं, बल्कि हमारे आशावाद की कठोरता है।''[72]

कामू इसे दूसरे अर्थ में अभिव्यक्त करते हैं वे Lyrical में कहते हैं- ''जब किसी खास बिन्दु पर हम पूरी तरह अनावृत होते हैं, तब हमें कुछ भी कहीं नहीं ले जाता, आशा और निराशा दोनो आधारहीन है और समूचे जीवन को मात्र एक प्रतिबिम्ब की तरह रखा जा सकता है।[73]

किन्तु जब पाल टिलिक कामू की निराशा को धार्मिकता की संज्ञा दे देते हैं, तो एक प्रकार की विचित्र अयुक्तता आ जाती है। पॉल टिलिक स्वय एक आस्तिक अस्तित्ववादी है और वे निराशा को भी धर्म का आधारभूत तत्व स्वीकार कर लेते हैं क्या इसमें कोई विसंगति नहीं है?

ओशो ने इस सबंध में अच्छा स्पष्टीकरण दिया है- ''विषाद यदि विषाद में ही तृप्त हो जाये और बन्द हो जाये तो अधार्मिक है और अगर विषाद यात्रा बन जाये, गंगोत्री बने और विषाद से गंगा निकले और आनन्द के सागर तक पहुंच जाये तो धार्मिक है। विषाद अपने में न तो अधार्मिक होता है न धार्मिक। अगर विषाद बन्द करता है व्यक्तित्व को तो आत्मघाती हो जायेगा और अगर विषाद व्यक्तित्व को वहाव देता है तो आत्म परिवर्तन कारी हो जायेगा। पाल टिलिक जो कहते हैं कि Despair in itself is Religous वह जो विषाद है, दुःख है वह अपने आप में धार्मिक है- यह अधूरा सत्य है। पॉल टिलिक पूरा सत्य नहीं बोल रहे हैं। विषाद धार्मिक बन सकता है, उसकी संभावना है धार्मिक बनने की, अगर विषाद बहाव बन जाये। लेकिन अगर विषाद वर्तुल बनजाये, सर्कुलर हो जाये, अपने में ही घूमने लगे, तो सिर्फ आत्मघाती हो सकता है। यह बड़े मजे की बात है कि आत्मघाती व्यक्तित्व उस जगह पहुंच जाता है, जहां से या तो उसे आत्म-परिवर्तन करना पड़ेगा या आत्मघात करना पड़ेगा।[74]

कामू भी इसी कारण विद्रोह पर उतर आते हैं। वे केवल आमूल परिवर्तन की बात नहीं करते, अपितु सृजनात्मक विद्रोह की बात करते हैं। यहां उनका विद्रोह एक कला का रूप ले लेता है, तब वे आशा-निराशा से आगे वढ जाने का यत्न करते हैं। स्ट्रेंजर में वे लिखते हैं- "शरीर आशा और निराशा की भाषा नहीं समझता। वह केवल अपने हृदय की धड़कन को पहचानता है।"[75]

किन्तु क्या हम इसे स्थितप्रज्ञ की अवस्था कह सकते हैं, जिसमे व्यक्ति आशा-निराशा से परे चला जाता है। क्या हम उससे "निराशी निर्ममों भूत्वा" क्रियाशील होने की उम्मीद रख सकते हैं। कहीं यह तो नहीं कि "निराशा ही इतनी वढ गयी कि वह निराश नहीं रहा।[76] कहीं उसका आशावाद सार्त्र की आत्मप्रवंचना तो नहीं? कहीं वह हाइडेगर की शब्दावली में अप्रामाणिक व्यक्तित्व तो नहीं।

वस्तुत. हम अस्तित्ववाद में सर्वत्र शापेनहावर के निराशावाद की छाया देख सकते हैं। शापेनहावर के अनुसार "निराशावाद अस्तित्व का अनिवार्य अंगहै, अस्तित्व के स्परूप में निहित एक अनिवार्य लक्षण है।" उनका विश्वास है- "दुःख सार्वभौम है। दु.ख एवं कष्ट का ही दूसरा नाम अस्तित्व है। हम जिन्हें सुख समझते हैं, वे भी वास्तव में दुःख ही हैं। सुख की खोज में हम हजार दुःख पाल लेते हैं, फिर भी सुख कहीं प्राप्त नहीं होता। अत. जगत जीवन दु खमय ही है।"[77] सैबाइन ने कहा है कि शापेनहावर के नैराश्यवाद का आधार यह था कि संसार मे मनुष्य की समस्त अभिलाषाएं निष्फल होती हैं। मनुष्य के प्रयत्नो का कोई महत्व नहीं है और मानव जीवन निराशा की निविड़ भावना से आक्रांत है।[78]

किन्तु हम अस्तित्ववाद को इतना भी निराशावादी नहीं मान सकते। वह ***शापेनहावर*** की तरह ऐसा तो कह ही नहीं सकता कि "मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकता है, किन्तु यह इच्छा वह स्वयं अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता।" इसके विपरीत उसमें सदैव आत्मनिर्धायता की चेतना है। सार्त्र कहते हैं "मनुष्य कुछ नहीं है, सिवाय उसके जो वह संकल्प करता है।[79] मनुष्य अपने अस्तित्व को तभी पायेगा जब वह जैसा उसने संकल्प किया था, वैसा हो जाता है न कि वैसा जैसी वह इच्छा करता है।"[80]

वस्तुतः, अस्तित्ववाद में आशा और निराशा दोनों का द्वन्द्व है, ठीक वैसे ही जैसे

वह जन्म-मृत्यु के द्वन्द्व से जूझता है। उसका आरंभ और अत निराशापरक हे, किन्तु मध्य आशापरक। अस्तित्ववादी अपने दर्शन को आशावादी तो कहते हैं किन्तु सर्वत्र निराशा की स्वीकृति दिये चले जाते हैं। अचेतन जगत को वे अर्थहीन (Absurd) तथा अरुचिकर (Detrop) कहने के साथ ही मानव जीवन को भी निरर्थक कहने लगते हैं। जैसा कि सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में कोई प्रयोजन नहीं खोजा जा सकता, उसका जन्म केवल मरने के लिए हुआ है।

ओशो कहते हैं- "जो अराजकता पश्चिम के सामने दो महायुद्धों ने प्रकट कर दी है, वह जो नीचे से एक बवंडर प्रकट हुआ है और भूमि फट गयी है और एक ज्वालामुखी ने मुँह बा दिया है पश्चिम के सामने, उस ज्वालामुखी को झुठलाने की कोशिश चल रही है।"

"है ही नहीं, जीवन में कोई अर्थ, इसलिए अनर्थ से डरने की जरूरत क्या है। है ही नहीं कोई मूल्य इसलिए मूल्य की खोज की चिंता भी क्या करनी है। है ही नहीं कोई परमात्मा, तो प्रार्थना करने से क्या फायदा है? होने की कोई जरूरत नहीं है।"

"निराशा में भी निश्चितता खोजने की चेष्टा सिर्फ इस बात की सूचक है कि हृदय बहुत कमजोर है और साहस कम है। असल में आशा जब तीव्र निराशा मे पड़ती है, तभी पता चलता है कि है या नहीं। और जब गहन अंधकार में ज्योति को खोजने कीी चेष्टा चलती है, तभी पता चलता है कि प्रकाश की कोई आकांक्षा, गहरा साहस, गहरी लगन और गहरे संकल्प से जुड़ी है या नहीं जुड़ी है।"

"पश्चिम की सार्त्रवादी चिंतना निराशा को स्वीकार कर लेने की है। निराशा है। इससे पश्चिम उबरेगा नहीं। इसलिए एक्झिस्टेंशियलिज्म और उस तरह के विचारक सिर्फ एक फैशन से ज्यादा नहीं है और फैशन मरना शुरू हो गया है, फैशन मर रहा है। अब अस्तित्ववाद कोई बहुत जीवित धारणा नहीं है। बच्चे पश्चिम के उसको भी इनकार कर रहे हैं, वह भी ओल्ड फैशन हो गया है। छोड़ो यह बकवास भी।"

"लेकिन सार्त्र की पीढ़ी ने जो निराशा दी है, उसका दुष्परिणाम आने वाली पीढ़ी पर दिखाई पड़ रहा है। वह पीढ़ी कहती है कि ठीक है हम सड़क पर नंगे नाचेंगे, क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा कि कोई अर्थ नहीं है, तो फिर कपड़े पहनने में ही कौन सा

अर्थ है। तो हम फिर किसी भी तरह के काम-संबंध निर्मित करेंगे, क्योंकि तुम्ही ने तो कहा है कि कोई अर्थ नहीं है, तो परिवार का भी क्या अर्थ है। फिर हम किसी को आदर नहीं देंगे, क्योकि तुम्हीं ने तो कहा है कि जब ईश्वर ही नहीं है, तो आदर का क्या अर्थ है। और हम कल की चिंता नहीं करेंगे।''[81]

किन्तु अस्तित्ववाद की ऐसी अर्थहीन व्याख्या भी एक अनर्थ है। यदि उन्होने जीवन को व्यर्थ देखकर भी उसमें अर्थवत्ता प्राप्त करने की कोशिश की है तो वे इसके लिए श्लाघ्य हैं। युद्ध के संकट से जूझकर उन्होंने जिस 'अस्तित्व भाव' को प्राप्त किया है, वह दर्शन जगत् की एक उपलब्धि है। समस्त द्वन्द्व की अग्नि में तपकर उन्होंने अस्मिता की तलाश की है। इस तलाश में वे स्वयं दुविधाग्रस्त दिखते हैं, अस्पष्ट भाषा प्रयुक्त करते हैं, किन्तु अन्तत. एक निष्ठापूर्ण अन्वेषण मे तत्पर दिखते हैं। जीवन के कटु सत्यों की खोज वे गहरी ईमानदारी तथा साहस के साथ करते हैं, यह दर्शन जगत को एक महत्वपूर्ण देन है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी, भाग 1, पृ0 7

2 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'कक्लूडिंग अनसांइटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट', पृ0 182

3 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'ट्रेनिंग इन क्रिश्चियनिटी', पृ0 47

4. ओशो, 'गीता दर्शन', भाग-एक, रिवेल पब्लिशिग प्रा0 लि0, पृ0 433

5. पारख, जवरीमल्ल, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद की भूमिका', पृ0 5

6 ओशो, 'गीता दर्शन', भाग-1, पृ0 26

7 अज्ञेय, 'शेखर . एक जीवनी', भाग - 1, पृ0 43.

8 उद्‌धृत-खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू वह पहला आदमी', पृ0 87

9 वही, पृ0 86

10 वही, पृ0 88

11 कामू, अलबर्ट, 'द स्ट्रेंजर', पृ0 98

12. नीत्शे, फ्रेडरिक, 'ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन', भाग - 1, पृ0 447

13. नीत्शे, फ्रेडिरिक, 'गोटर्जेडेमरंग मोरल आल्स वाइडरनेटर, भाग - 3, उद्‌धृत - रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष

14. नीत्शे, फ्रेडरिक, 'द जेनेलॉजी ऑफ मॉरल्स', पृ0 1,9,11.

15. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 59.

16. वही, पृ0 595.

17 हीगेल, 'डाइ वरफासंग ड्यूट्सेक लैंड्स (1802)' लासेन द्वारा संपादित, खंड 7, पृ0 17.

18. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 594

19 हीगेल, 'डाइ वरफासंग ड्यूट्स्क लैंड्स (1802)' लासेन द्वारा संपादित, खंड 7, पृ0 17.

20 हीगेल, 'फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री' बोन लाइब्रेरी, पृ0 551

21 वही पृ0 247

22 सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 592

23 उद्घृत, जैन एच0 सी0 और माथुर, के0 सी0, 'विश्व का इतिहास', पृ0 578

24 हीगेल, 'फिलॉसोफी ऑफ हिस्ट्री', पृ0 34.

25 आशीर्वादम एड्डी, 'राजनीतिक सिद्धांत', पृ0 826

26. वही, पृ0 705

27 फे, एस0 बी0, 'द ओरिजिन्स ऑफ द वर्ल्ड वार', 1975, पृ0 44

28. आशीर्वादम एड्डी, 'राजनीतिक सिद्धांत', पृ0 550

29 वही, पृ0 551

30 लैंगसम, 'द वर्ल्ड सिन्स 1914', न्यूयॉर्क 1959, पृ0 12

31 आशीर्वादम एड्डी, 'राजनीतिक सिद्धांत', पृ0 551

32. जैन और माथुर, 'विश्व का इतिहास', पृ0 578.

33 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद · पक्ष और विपक्ष', पृ0 23.

34 जैन और माथुर, 'विश्व का इतिहास', पृ0 578.

35 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 23

36. बोटोमोर, टी0 बी0, 'सोशियोलॉजी', पृ0 219.

37 स्पेंसर हर्बर्ट, 'प्रिंसिपल ऑफ सोशियोलॉजी', खंड-2, टी0 वी0 बोटोमोर द्वारा उद्घृत, पृ0 219.

38 उद्घृत, रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 33.

39. फे, एस0 सी0, 'द ओरिजिन्स ऑफ द वर्ल्ड वार', (1975), पृ0 34.

40. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 802.

41. उद्घृत, फ्रेंज न्यूमन, 'बेहमथ' द्वितीय संस्करण, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1944, पृ0 462.

42 हिट्लर, 'मेन कैम्फ' न्यूयॉर्क, 1939, पृ0 686

43 उदधृत, एडगर ए0 मोरर, 'जर्मनी पुट्स द क्लॉक वैक', पृ0 149

44. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 804

45. सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 45

46 कामू, अल्बर्ट, 'द रिबेल', न्यूयॉर्क, 1954, पृ0 5

47. उद्घृत, रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 13.

48 लेनिन, वी0 आई0, 'द थ्री सोरसेज एण्ड थ्री कम्पोनेन्ट पार्टस ऑफ मार्क्सिज्म', कलेक्टेड वर्क्स, खंड 19, पृ0 28

49 सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 814

50 वही, पृ0 804

51 वही, पृ0 816

52. संपादक - दयाकृष्ण, 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास', भाग-2, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ0 388.

53 जैन और माथुर, 'विश्व का इतिहास', पृ0 577.

54 उद्धृत, लैंगसम, 'द वर्ल्ड सिन्स 1914', न्यूयॉर्क 1959, पृ0 796

55. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 'यूरोप का आधुनिक इतिहास', पृ0 649-50, 900.

56. बोउवार, सीमोन द, 'स्त्रीः उपेक्षिता', अनुवादिका- प्रभा खेतान, पृ0 42.

57. विद्यालंकार, सत्यकेतु, 'यूरोप का आधुनिक इतिहास', 1964, पृ0 650.

58 सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 173

59. खेतान, प्रभा, 'अल्वेयर कामू : वह पहला आदमी', पृ0 92

60 खेतान, प्रभा द्वारा उदधृत, 'अल्बेयर कामू : वह पहला आदमी', पृ0 94

61 भद्र, एम0 के, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 318

62 हाइडेगर, 'बीइग एण्ड टाइम', पृ0 311

63. भद्र, एम0 के, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 320

64 सार्त्र, जे0 पी0, 'वीइंग एण्ड नथिंगनेस', हजेल ई0 वर्नेस द्वारा अनूदित, पृ0 532

65 सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 178

66. वही, पृ0 14

67. सार्त्र, जे0 पी0, 'बीइग एण्ड नथिंगनेस', पृ0 631

68 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद· पक्ष और विपक्ष', पृ0 123.

69 भद्र, एम0 के द्वारा उद्धृत, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 494-95

70 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 37

71 वही, पृ0 44

72 वही, पृ0 47

73. कामू, अल्बर्ट, 'लाइरिकल', पृ0 37

74 ओशो, गीता दर्शन, भाग-1, पृ0 39

75. कामू, अल्बर्ट, 'स्ट्रेन्जर', पृ0 127.

76. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', भाग 1, पृ0 126.

77. संपादक - दयाकृष्ण, 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास', भाग-2, पृ0 392

78. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीति दर्शन का इतिहास', पृ0 816.

79 सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 46.

80. वही, पृ0 35

81. ओशो, गीता दर्शन, भाग-1, पृ0 27.

अध्याय : 4

समकालीन राजनीतिक विचारधारा के संदर्भ में अस्तित्ववाद में स्वातंत्र्यबोध, दायित्वबोध और व्यक्तित्वबोध

मनुष्य अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी है और इस कारण उसे अनिवार्यत राजनीतिक प्राणी बनने को भी विवश होना पड़ता है, क्योंकि आज कोई भी समाज राज्य से पृथक नहीं है। मनुष्य की प्रवृत्तिया राजनैतिक हों या न हों, उसकी प्रतिवद्धताएं उसे अवश्य राज्यतंत्र से आबद्ध कर देती हैं। राज्य अपनी व्यापकता में व्यक्ति और समाज दोनों को इतना प्रभावित करता है कि प्रत्येक विचारक को, यदि वह अपने विचारों की व्यावहारिक परिणति देखना चाहता है, तो राजनीति के संबंध में अपने विचारों को अवश्य स्पष्ट करना पड़ता है। यास्पर्स राजनीति को दर्शन का अभिन्न अग मानता था। उसके अनुसार कोई भी महान दर्शन राजनीति के विना पूर्ण नहीं होता। प्लेटो, काट, हीगल, कीर्केगार्ड, नीत्शे आदि सभी राजनीति पर विचार करते रहे हैं। दार्शनिकों की राजनीति उच्च कोटि की होती है। दर्शन का व्यावहारिक रूप राजनीति मे देखने को मिलता था।[1] यास्पर्स की Man in the Modern Age पुस्तक व्यक्ति को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास ही थी। कामू और सार्त्र ने अनेक वर्षों तक साम्यवादी दल में साम्यवादी दल में प्रतिबद्धतापूर्ण सहभागिता की यह अलग बात है कि दोनों को भिन्न-भिन्न कारणों से इससे पृथक होना पड़ा। हाइडेगर ने भी आरंभ में नाजीवाद का समर्थन किया था। तात्पर्य यह कि किसी विचारक को अपनी सामाजिक प्रतिवद्धता कायम रखने हेतु किसी न किसी रूप में राजनीतिक तथ्यों को ध्यान में रखना पडता है।

इस प्रकार अस्तित्ववाद को राजनीति और तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि से पृथक करके देखना समीचीन नहीं होगा। अस्तित्ववाद को मात्र व्यक्तिवादी और आत्मकेन्द्रित दर्शन कहने से यह भ्रान्ति उपजी है। क्या हम अमेरिकी क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति और स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से मुखरित हुई स्वातंत्र्यभावना का अस्तित्ववादी स्वातंत्र्यबोध भाषा का अस्तित्ववादी स्वातंत्र्यबोध में स्पष्ट योगदान नहीं देखते। क्या अस्तित्ववाद के वरण-स्वातंत्र्य और दायित्व बोध के पीछे लोकतंत्र के साथ आये चुनाव और सामूहिक-दायित्व के भाव का कोई स्थान न होगा? फ्रांसीसी क्रान्ति के समय "स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व" का जो नारा दिया गया था, उसकी अनुगूंज संपूर्ण विश्व में सुनायी दी थी। प्रसिद्ध इतिहासकार जॉन हॉल स्टेवार्ट ने कहा है कि फ्रांस की क्रांति के परिणाम इतने दूरगामी रहे कि इसने संपूर्ण विश्व के इतिहास को सदियों

तक दिशा दी।'' यदि उन्नीसवी सदी का अर्थव्यवस्था ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति द्वारा निर्धारित हुई तो इसकी राजनीति और विचारधारा का निर्माण फ्रांस द्वारा हुआ।[2] इस क्रान्ति ने जनसामान्य से लेकर प्रबुद्ध वर्ग तक को आंदोलित किया। जर्मन दार्शनिक कांट ने इसे विवेक की विजय कहा। हीगल जैसे विचारक ने क्राति की स्मृति में पौधे लगाये। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने अभिभूत होकर अपने युवा एवं फ्रांसीसी न होने पर खेद प्रकट किया।[3] इतिहास में किसी दूसरे काल पर शायद कभी इतना लिखा नहीं गया, जितना फ्रांस की इस राज्य क्राति पर। इतनी खुशी या इतना आक्रोश शायद विश्व की दूसरी घटना पर व्यक्त नहीं किया गया है। क्रांन्ति के समय जिस ''मानवाधिकार घोषण पत्र'' की स्वीकृति की गयी, वह पूरी उन्नीसवीं सदी में उदारता का चार्टर समझा जाता रहा। फ्रांस ही नहीं सारी दुनिया के लोगां को इस घोषणा पत्र ने प्रेरित किया। इस घोषणा ने जनता के अधिकारों के क्रमिक विकास का सूत्रपात किया तथा क्रान्ति को व्यापकता प्रदान की। नागरिकों के इन मूलभूत अधिकारो की घोषणा का फ्रास के इतिहास मे वही स्थान है, जो इंग्लैण्ड में मैग्नाकार्टा तथा अमेरिका में स्वतंत्रता की घोषणा का है।'' यह कागज का टुकड़ा नेपोलियन की सेना से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ।[4] वस्तुत. फ्रास की क्रान्ति जितनी शस्त्रो का संघर्ष थी, उतनी ही विचारो की। स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व की भावना फ्रांसीसी क्रान्ति की देन है और नेपोलियन इसकी उपज। यही भावना परवर्ती काल में लोकतन्त्र का प्राण बनी।

इसी प्रकार लोकतन्त्र को विश्व में लोकप्रिय बनाने का श्रेय अमेरिका के महान स्वतंत्रता संग्राम (1775-1783) को है। इसे इतिहास में 'नव-युग का प्रभात' तथा 'नवयुग का संदेश'' आदि नामों से अभिहित किया गया। क्रान्ति के पश्चात् जन्में नये अमेरिका ने गण्तंत्रवाद, जनतंत्र, संघवाद तथा संविधानवाद- इन चार राजनीतिक आदर्शों को दुनिया के समक्ष रखा। ऐसा नहीं था कि दुनिया इन शब्दों से पहले परिचित नहीं थी, परन्तु अमेरिका ने एक सशक्त उदाहरण प्रस्तुत किया। गणतंत्र जैसी राजनीतिक शब्दावली केवल स्मृतियों में रह गयी थी, किन्तु अमेरिका ने ऐसी शब्दावली को जीवन्तता प्रदान की। उसने प्रतिनिध्यात्मक सरकार की एक सशक्त एव विकसित प्रणाली दुनिया के सामने रखी। नये संविधान और गणतन्त्र की स्थापना ने यह विश्वास दिला दिया कि अब राजाओं के दिन लद चुके हैं और जनता स्वयं उत्तरदायित्व वहन करने में सक्षम

हो चुकी है। थामस जैफरसन, जिसने 'स्वतंत्रता की घोषणा' तैयार करने मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, ने उद्घोषणा की- "प्रत्येक मनुष्य और जन समूह को इस पृथ्वी पर स्वशासन का अधिकार है।" यही 'स्वतत्रता' और 'स्वशासन' भविष्य की राजनीतिक प्रणालियों के लिए आधार वाक्य बने। अमेरिकी क्रान्ति का यह सबसे बड़ा प्रदेय था।

यहां हम इन क्रान्तियों के आलोक में सर्वप्रथम कीर्केगार्ड के विचारो की भावभूमि देख सकते हैं। कीर्केगार्ड को 1848 की क्रान्ति से गहरी निराशा हुई थी। स्वतंत्रता समानता और बन्धुत्व के नारे मे उन्हें एक विरोधाभास, एक विसंगति स्पष्ट नजर आयी। वे क्रान्ति ही नहीं ईसाई धर्म में भी समानता की भावना के ऊपर आधारभूत प्रश्न उठाते हुए कहते हैं- "क्या जीवन में भेद दूर किये जा सकते हैं? शायद ही ईसाई भौतिक शरीर के बिना रहता है या रह सकता है, और उसी प्रकार वह शायद ही उस पार्थिव जीवन के भेदों के बाहर रह सकता है जिसका प्रत्येक व्यक्ति जन्म से अवस्था से परिस्थिति से, शिक्षा से भिन्न है।... जब तक वह इस क्षणभंगुर पार्थिव शरीर का धारण किये हुए है, ये भेद रहेंगे ही और जो व्यक्ति इस संसार में आता है, उसे ये प्रलोभन देते रहेंगे।"[5]

कीर्केगार्ड को अपने अनुभव से ज्ञात हुआ कि उन सभी क्रान्तियो से समानता नष्ट हुई, जिनका उद्देश्य स्वतंत्रता था, जबकि समानता के लिए सघर्ष करने से, जैसा कि उसने अनुमान लगाया (और जैसा कि हम अनुमान से जानते हैं), स्वतंत्रता नष्ट होगी। अतः सही आरम्भ विन्दु 'भ्रातृत्व' होगा।[6]

कीर्केगार्ड यद्यपि इस प्रस्थान बिन्दु से ईसाई धर्म की ओर यात्रा शुरू कर देते हैं और 'पड़ोसी से प्रेम' की उसकी देशना को नवीन भाव प्रदान करते हैं, किन्तु इस पर हम स्पष्टत· राजनीतिक विचारों की छाप देख सकते हैं।

वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन पर सामाजिक राजनीतिक चेतना का प्रभाव कभी एक पक्षीय नहीं होता, अपितु पारस्परिक और अन्त·क्रियात्मक होता है। उदाहरणार्थ शापेन हावर और नीत्शे के दार्शनिक विचारों का राजनीतिक प्रभाव इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फांसीवाद और जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद के रूप में सामने आया। जगत की अयुक्तता का प्रतिपादन अयुक्त व्यक्तियों के हाथ में पड़कर किस प्रकार

विनाशक शक्ति में संयुक्त हो सकता है, इसे हम स्पष्ट रूप से इनमें देख सकते हैं। विश्व का रहस्यात्मक प्रतिपादन विश्व को किन समस्यात्मक स्थितियो में डाल सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। पॉल रुविचेक ने कहा है– "वस्तुओं को रहस्यात्मक गुणो से सम्पन्न करने से अधिक खतरनाक वात शायद ही और कोई हो, क्योकि इससे उन्हें अतिरंजित महत्व मिल जाता है, जो स्वयं मनुष्य को ही उसे समाप्त करने के लिए तत्पर करता है, जव नीत्शे अतिमानव की सृष्टि कर रहा था तो इस अयथार्थ रहस्यात्मक स्तर पर जाति और पृथ्वी जैसे संप्रत्ययो या सम्प्रत्ययो का निर्माण किया गया। नाजियोने 'रक्त', 'नार्डिक' और इस प्रकार के अन्य संप्रत्ययों मे इसका विस्तार किया। चूंकि हाइडेगर ऐसा करने के लिए उन्मुख था, अत. उसने नाजीवाद के सामने सिर झुकाया।"[7]

इसी प्रकार हम मिल, लॉड, ग्रीन आदि विचारकों के वैचारिक प्रभाव को लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली के रूप में देख सकते हैं। मार्क्स का प्रभाव अस्तित्ववादियों के लिए भी एक आकर्षण और चुनौती बना रहा। व्यष्टिवाद वनाम समष्टिवाद का वैचारिक संघर्ष लोक तंत्र बनाम समाजवाद के संघर्ष मे प्रतिफलित हुआ। सर्वाधिक प्रखर अस्तित्ववादी सार्त्र को भी अपनी तमाम व्यष्टिवादी मान्यताओं के वावजूद यह प्रतीत हुआ कि अस्तित्ववाद अधिक से अधिक एक वैयक्तिक दृष्टि ही हो सकता है, पूर्ण दृष्टि नहीं और वे पूर्ण दृष्टि की तलाश में समाजवाद की ओर समग्रतापूर्वक अग्रसरित भी होते हैं। यद्यपि अन्ततः वे दोनो के विरोधो में समन्वय न पाकर इससे विमुक्त भी हो जाते हैं। स्पष्टतः यहां हम अस्तित्ववाद के समाजवादी मार्क्सवाद के प्रभाव को स्पष्टतः देख सकते हैं। संभवतः एंजिल्स ने मार्क्स की मृत्यु के समय ठीक ही कहा था कि मार्क्स को जो भी पढ़ेगा उसे अवश्य ही उसके पक्ष या विपक्ष में खड़ा होना होगा। वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे मार्क्स का समर्थन या विरोध– कोई चुनाव करना ही होगा, बिना चुनाव के वह नहीं रह सकता।

पुनः आधुनिक काल में जिस मानववादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ है, वह दर्शन ही नहीं राजनीति का भी आधार बनी। विभिन्न विषयों की तरफ से इसके पक्ष में समर्थन प्राप्त हुए। एरिक फ्राम ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, आगस्ट काम्टे ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से, होलियोक ने इहलौकिकतावादी दृष्टि से, कार्लोस लैमोंट ने दार्शनिक दृष्टि से,

मार्क्स ने अर्थशास्त्रीय सामाजिक दृष्टि से, डीवी और शिलर ने अर्थक्रियावादी दृष्टि से जिस मानववाद का जोरदार प्रतिपाद किया, वह अस्तित्ववादी मानववाद की पृष्ठभूमि तो बना ही, साथ ही सभी मानवों की समानता के आधुनिक राजनीतिक दृष्टिकोण का भी प्रवर्तक बना।

इसके साथ ही राजनीतिक उत्थान-पतन का मानव मन पर आशापरक और निराशापरक प्रभाव पड़ता रहा। इतिहास में विचारधाराओ के परिवर्तन को राजनीतिक तंत्र के परिवर्तन के संदर्भ को हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। जहां तक अस्तित्ववाद का संबंध है, इसके जर्मनी और फ्रांस में प्रभुत्व को हम एक सीमा तक राजनीतिक स्थितियो के आलोक में देख सकते हैं। सार्त्र की पुस्तक Existantialism & Humanism के अंग्रेजी अनुवादक फिलीप मैरे कहते हैं- "इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 1920 के पराजित जर्मनी और वास्तव मे आम तौर पर मध्य यूरोप की तत्कालीन मनोवृत्तियो और सामाजिक परिस्थितियों ने आत्मपरक पूर्णवाद को पनपने के लिए उर्वर जमीन का काम किया। जिन राजनीतिक और सामाजिक पद्धतियों पर मनुष्य पहले आस्था रखता था, उनके प्रति उसका पूरा मोहभंग हो चुका था, और उसका विश्वास ऐसी सभी वस्तुपरक विचारधाराओ के सभी सम्प्रदायों और पद्धतियों तक फैल चुका था, जिनसे वह पहले जुड़ा हुआ था। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य सुरक्षित जीवन के आधार की तलाश में अपने ज्ञान के उद्‌गम तक पुनः जाना चाहता है। इसके लिए वह अपने आस-पास मौजूद सभी विश्वासों, सिद्धान्तों और संस्थाओं की सच्चाई पर सवालिया निशान लगाने को भी तैयार हो जाता है, और अच्छे समय की तुलना में ऐसे संकटकालीन दौर में मनुष्य मनोवैज्ञानिक और आत्मपरक विधि में सत्य की खोज के लिए अधिक इच्छुक होता है।[8]

अस्तित्ववाद के संदर्भ में राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्रता समानता और संप्रभुता की अवधारणा से तो समीचीन हैं ही साथ ही व्यक्तिवाद और लोकतांत्रिक उदारवाद का भी महत्व है। व्यक्तिवादी विचारधारा अत्यन्त प्राचीन काल से ही आदर्शवाद के समानान्तर और उसके प्रतिपक्ष के रूप में विद्यमान रही है। ग्रीक काल में प्लेटो तथा अरस्तू के आदर्शवाद के विपरीत सोफिस्ट विचारक व्यक्तिवाद का समर्थन करते थे। किन्तु तब की परिस्थितियों में यह विचारधारा अधिक महत्व न पा सकी। परवर्ती काल में जब

सामाजिक समझौतावादियों ने राज्य को एक कृत्रिम और मानव निर्मित संस्था सिद्ध किया, तब व्यक्तिवाद के स्वर मुखर होने लगे। इनमे Locke ने स्पष्ट रूप से व्यक्तिवाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। व्यक्तिवाद का सर्वाधिक प्रसार अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुआ, क्योकि तब तक आदर्शवाद की अयथार्थता और अतिशासन के दुष्परिणाम स्पष्टत सामने आ चुके थे। और आर्थिक अहस्तक्षेप पर आधारित आर्थिक प्रणाली ने औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा इगलैण्ड का कायापलट कर दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य जीव-विज्ञान के विकासवादी सिद्धांत ने जीवन संघर्ष के आधार पर विकास के लिए अनियंत्रित प्रतियोगिता का समर्थन किया। बेंथम और मिल जैसे- उपयोगितावादियों ने तो इसे तार्किक भावभूमि भी प्रदान कर दी। परवर्ती काल मे अराजकतावादियो ने तो व्यक्तिवाद को चरम रूप दे दिया, जिसके अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई था। इस प्रकार समय के साथ व्यक्तिवादी विचारधारा क्रमश· अधिक मुखर होती गयी। संक्षेप मे व्यक्तिवाद के निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष थे –

1 व्यक्ति साध्य है, राज्य साधन मात्र। अत· व्यक्ति प्रधान है, राज्य गौण।

2 राज्य एक बुराई है, किन्तु समाज के लिए अपरिहार्य है।

3 राज्य एक कृत्रिम संस्था है, जिसकी उत्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप हुई है।

4 राज्य के कार्य मुख्यतः निषेधात्मक है।

5 व्यक्तिगत स्वतंत्रता का राज्य हनन नहीं कर सकता।

व्यक्तिवाद व्यक्ति को अपनी विचारधारा का केन्द्र बनाता है और राजनीतिक आदर्शों में मानव व्यक्तित्व की महत्ता को प्रतिष्ठित करता है। मानवीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसकी स्वतंत्रता पर आधृत होती है और यह स्वतंत्रता राज्य के अन्तर्गत उपलब्ध उसके अधिकार पर निर्भर करती है। इस प्रकार वैयक्तिक स्वतंत्रता सर्वोच्च मूल्य बन जाती है। किन्तु राज्य अपनी निरंकुश शक्तियों से उसकी स्वतंत्रता बाधित करता है। अत व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य इसी अर्थ में बुरा है कि व्यक्ति के संकल्प स्वातंत्र्य, वरण स्वातंत्र्य, स्वतंत्र नैतिक आचरण, स्वतंत्र विकास एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति में बाधा डालता है। किन्तु राज्य अनिवार्य भी है, क्योंकि व्यक्ति की असीमित और

अनियन्त्रित स्वतंत्रता उसे उच्छृंखल बना देती है। ऐसे में वह सामान्य मानवीय दुर्वलताओ के वशीभूत होकर अवांछनीय कार्य कर सकता है, स्वार्थवश अन्य व्यक्तियों को क्षति पहुंचा सकता है, शक्तिशाली वर्ग निर्बल वर्ग की स्वतंत्रता का हनन कर सकता है। समाज में राज्य के अभाव में कदाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि अनैतिकताए फैल सकती है और सर्वत्र एक अराजक अव्यवस्था छा सकती है। अत व्यवस्था नियमन तथा मूल्य संरक्षण के लिए राज्य का अस्तित्व अनिवार्य हो जाता है।

व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति और राज्य का सह-अस्तित्व तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उनका समान सह-स्वातत्र्य वांछनीय नहीं है। राज्य के अधिकार और कार्यक्षेत्र जिस सीमा तक विस्तृत होते हैं, उस सीमा तक व्यक्तियो की स्वतत्रता कम होती जाती है। अत व्यक्ति के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक है कि यथासंभव राज्य की स्वतंत्रता न्यूनतम और व्यक्ति की स्वतंत्रता अधिकतम रहे। राज्य द्वारा व्यक्तियों का परिसीमन वहीं तक समुचित है, जहा तक उसकी उच्छृखल वृत्तियो और असामाजिक गतिविधियों पर अंकुश लगाना अपरिहार्य हो। मिल के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता वहां तक असीमित है, जहां तक उसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों की स्वतत्रता में हस्तक्षेप न हो। व्यक्ति को ऐसे कार्यो को करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, जिनका संबंध उसके व्यक्तिगत जीवन से है। "जो कार्य केवल एक व्यक्ति से संबध रखताहै, उसके बारे मे व्यक्ति को ही उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है। जब उसे उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है तो निर्णय का अन्तिम अधिकार भी उसे ही होना चाहिए।" किन्तु मिल के तर्क की मूलभूत कठिनाई यह थी कि उसने स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व के संबंध की कभी वास्तविक व्याख्या नहीं की।[9] उसके समक्ष सबसे प्रमुख दुविधा यह थी कि वह उपयोगितावादी होने के कारण न तो स्वतंत्रता को प्राकृतिक अधिकार मान पाते थे और न व्यक्तिवादी होने के कारण वैधानिक अधिकार।[10]

यदि हम यहां अस्तित्ववाद की दृष्टि से देखें तो स्वतंत्रता व्यक्ति का अधिकार नहीं, अपितु स्वरूप ही बना हुआ है। यास्पर्स ने कहा है- स्वतंत्रता और अस्तित्व पर्यायवाची शब्द हैं, स्वतंत्रता के बिना अस्तित्व की अवधारणा निरर्थक है। मिल जहां यह कहते हैं कि व्यक्ति पर स्वतंत्र होने के लिए दबाव भी डाला जा सकता है, वहीं सार्त्र कहते हैं कि "मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।" यह उसके अस्तित्व का अनिवार्य

लक्षण है। जिस सरलता से सार्त्र स्वतंत्रता को उत्तरदायित्व से जोड देते हैं और उस उत्तरदायित्व को समस्त के प्रति उत्तरदायित्व का रूप दे देते हैं, वह अस्तित्ववाद की महती विशिष्टता है।

सार्त्र कहते हैं- "जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वय के प्रति ही उत्तरदायी है तब हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य स्वयं अपने प्रति ही उत्तरदायी है। बल्कि वह सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति उत्तरदायी है। एक व्यक्तिगत उदाहरण ले- यदि मैं शादी करने और घर बसाने का निर्णय करता हूं तो हालांकि मैं यह फैसला अपनी परिस्थिति, मनोवेग और इच्छा के कारण लेता हूं, फिर भी ऐसा न करके सिर्फ अपने आपको बल्कि सपूर्ण मानव समाज को एक पत्नी व्रत की प्रथा से प्रतिवद्ध करता हूं। इस प्रकार मैं अपने और सम्पूर्ण मानव जातियों के प्रति उत्तरदायी होता हू।"[11]

अस्तित्ववाद व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ता तो है, किन्तु बल व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर है। वह प्रत्येक को स्वयं और अन्य के प्रति उत्तरदायी घोषित करता है। यदि हम स्पेंसर और मिल को भी देखें, तो वे भी ऐसा ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। वेपर मिल के विषय मे कहते हैं कि उनकी स्वतंत्रता की अवधारणा तब और सशक्त हो जाती है जब हम देखते हैंकि वह अलग-अलग पुरुषों और स्त्रियो की उन्नति चाहता है, क्योंकि उसका विचार है कि सभी आदर्श और तर्कसंगत वस्तुएं व्यक्तियो से ही आती हैं और व्यक्तियों से ही आनी भी चाहिए।[12]

व्यक्तिवाद की लगभग ऐसी ही अवधारणा स्पेंसर के दर्शन में मिलती है। बल्कि उसका व्यक्तिवाद अधिक प्रखर होते हुए अन्ततः अराजकतावाद की ओर अग्रसरित हो जाता है। वे कहते हैं कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति की स्वार्थी प्रवृत्ति से उपजी आपराधिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए हुयी है और उसके कार्य भी इन्हीं के नियमन तक सीमित होने चाहिए। वे राज्य की सीमाओंके प्रति इतने आग्रहपूर्ण हैं कि वह राज्य को लोककल्याणकारी गतिविधियों की भी इजाजत नही देते क्योकि उनके अनुसार वे अन्ततः व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधक ही बनते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य रक्षक होने की अपेक्षा आक्रान्ता अधिक है। वे यहां तक कहते हैं- "चाहे यह सत्य हो या नहीं कि मनुष्य का पोषण असमानता में होता है और वह पाप के कारण जन्म लेता है, लेकिन यह निश्चित रूप से सत्य है कि शासन का जन्म अत्याचार से

होता है और अत्याचार मे ही वह पनपता है। राज्य का निर्माण लोगों की कुप्रवृत्तियो का दमन करने और अन्य लोगों के अत्याचारों तथा धोखेवाजी से व्यक्ति की रक्षा करने केलिए किया जाता है। नैतिकरूप से पूर्ण समाज में राज्य के अस्तित्व के लिए कोई ठोस तर्क नहीं रहता।[13] पुनश्च वे यह भी प्रतिपादित करते हैं कि राज्य का जन्म अनैतिकता नियमन हेतु होता है और यह नियमन होते ही अर्थात् नैतिक विकास की एक अवस्था में यह स्वत· समाप्त भी हो जायेगा।

यहा हम स्पेंसर में अराजकतावाद की प्रवृत्ति देख सकते हैं। यह अराजकतावाद यद्यपि गाडविन, प्रूधो, वाकुनिन, क्रोपाटकिन, थोरो, टालस्टॉय आदि के अराजकतावाद से भिन्न है, जिसका कि हम पूर्व अध्याय में वर्णन कर चुके हैं, किन्तु यह उससे एक अर्थ में साम्य अवश्य रखता है। यह अराजकतावादी प्रवृत्ति सामान्यत आदर्शवाद की प्रतिक्रिया में विकसित हुई है। अराजकतावाद तो आदर्शवाद की सर्वथा दूसरी अति पर है, किन्तु स्पेंसर में मध्यममार्गी प्रवृत्ति है। लेकिन जब वे इस व्यक्तिवाद का समाज या राज्य की आंगिक एकता में समाहित कर देते हैं तो वह एक विचित्र विरोधाभास हो जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्र अस्मिता स्थापित करना, पुन· उसे राज्य की अस्मिता का अंग बना देना कुछ ऐसा ही है कि व्यक्ति को एक हाथ से स्वतंत्रता दी जाय और दूसरे हाथ से ले ली जाय। इसी कारण सैबाइन ने कहा है– ''स्पेंसर का राजनीतिक दर्शन केवल प्रतिक्रियावादी था। वह उस समय भी दार्शनिक उग्रवादी रहा जवकि दार्शनिक उग्रवाद एक पीढ़ी पुराना पड़ गया था। विकास के सिद्धान्त ने उसे प्राकृतिक समाज की परिकल्पना प्रदान की। यह संकल्पना प्राकृतिक स्वतंत्रता की पुरानी पद्धति का रूपान्तर मात्र थी।''[14]

यहां हमें मार्क्सवादी दृष्टि से भी व्यक्ति राज्य संवधों को देख लेना समीचीन होगा क्योंकि इस विचारधारा का व्यापक प्रभाव क्षेत्र रहा है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित तथा ऐंगिल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ अदि द्वारा परिवर्द्धित यह विचारधारा शीघ्र ही एक दार्शनिक सिद्धांत से बढ़कर एक सामाजिक राजनीतिक प्रणाली ही नहीं, अपितु एक जीवन प्रणाली भी बन गयी।

समाजवाद राज्य को एक अनिवार्य बुराई मानता है और इस रूप में वह व्यक्तिवाद से सहमत है, किन्तु इसका लक्ष्य अराजकतावाद है। मार्क्सवादियों के अनुसार

समाज की अन्तिम परिपक्व अवस्था में राज्य विलुप्त हो जायेगा और समतामूलक सहयोगपूर्ण समाज ही व्यक्ति के जीवन का आधार होगा।

समाजवाद राज्य को एक बुराई मानता है, क्योंकि उसके अनुसार यह शोपण का एक यन्त्र है। राज्य वर्ग-विभेद की भूमि से उत्पन्न होता है, वर्ग-संघर्प से पुप्ट होता है और वर्ग-शोषण का कारक बनता है। मार्क्स के अनुसार चाहे कोई भी काल रहा हो, राज्य सदैव ही वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि रहा है और समाज में उस वर्ग का प्रभुत्व रहा है। उसके अनुसार राज्य में यह प्रभुता साधन संपन्न वर्ग (पूजीपति या बुर्जुआ वर्ग) के पास होती है और वह साधन विहीन सर्वहारा वर्ग का शोषण करता रहता है। पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपति प्रमुख शोषक होता है तथा राज्य और धर्म इसमें उसका सहयोग करते हैं। एंजिल्स ने कहा है- "राज्य की उत्पत्ति वर्ग-विभाजन से उत्पन्न संघर्षों को नियन्त्रित करने के लिए हुई है, किन्तु इसका उद्देश्य सपत्तिशाली वर्ग की वर्ग-सघर्ष से सुरक्षा करना और उसके शोषण तंत्र को सरक्षित करना रहा है।" मार्क्स ने भी सरकार को "राज्य के शोषक वर्ग की कार्यकारिणी समिति" की संज्ञा दी है।

वस्तुतः वर्ग विभेद के कारण ही वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है, अत इसका निदान भी वर्गों का उन्मूलन ही होगा किन्तु राज्य वर्गों का उन्मूलन न कर उसे सुरक्षित पोषण देता है। लेनिन ने अपनी पुस्तक State & Revolution में कहा है- "राज्य का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि वर्ग-विरोधों का समाधान नहीं हो सकता। यदि वर्गों में सामजस्य सभव होता तो राज्य के अस्तित्व की न तो आवश्यकता होता और न उसकी उत्पत्ति होती। राज्य की उत्पत्ति शासन के एक ऐसे अंग के रूप में हुई थी, जिससे एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण कर सके। यह एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना थी जो वर्गों के सघर्ष को संतुलित करने का दावा करके शोषण को वैध तथा स्थायी बना सके।" यह तो सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर शासन करता है और उनका शोषण करता है।[15]

स्पष्टत. मार्क्सवाद की दृष्टि में राज्य एक बुराई है, किन्तु यह बुराई एक समय तक अनिवार्य भी है। यहां उसका यह कथन व्यक्तिवाद के ऐसा कहने से भिन्न है। व्यक्तिवाद की दृष्टि में राज्य की अनिवार्यता आत्यन्तिक और शाश्वत है, क्योंकि मानवी

दुवृत्तियाँ और दुर्बलताए शाश्वत हैं। मार्क्सवाद के अनुसार राज्य को अनिवार्य कहनेका तात्पर्य मात्र इतना है कि पूंजीवाद से समाजवाद की ओर गमन हेतु राज्य एक अनिवार्य साधन है। साम्यवाद की प्राप्ति होने तक राज्य की सहायता लेना अनिवार्य है, अर्थात् राज्य मात्र संक्रमणकालीन अनिवार्यता है। राज्य का यह स्वरूप अपने पूर्ववर्ती स्वरूप से इस अर्थ मे भिन्न होगा कि इसमें बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व नहीं, अपितु सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होगा, जिसे "श्रमिक वर्ग की तानाशाही' की संज्ञा दी गयी है। पुराने शोषण तंत्र की समाप्ति और शोषक वर्ग के उन्मूलन के लिए यह तानाशाही अनिवार्य भी है। उसका कार्य होता है कि वह विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नप्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में वदले और यदि पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रान्ति का कोई प्रयत्न करे तो उसे दवा दे। जव यह कार्य हो चुके होंगे, तभी संभवत राज्य के तिरोहित होने की प्रक्रिया आरंभ होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कितने दिनो कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गयी है। मार्क्स तथा एंगिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का अपनेसामाजिक सिद्धांत के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप मे विकास नहीं किया।"[16]

निष्कर्ष यह है कि राज्य कोई स्थायी सस्था नहीं है। वर्ग-विभेद से व्युत्पन्न यह संस्था वर्ग-उन्मूलन के साथ ही विलुप्त भी हो जाती है। पूंजीवादी शासन मे जो राज्य शोषण का यन्त्र था, वही सर्वहारा शासन में साम्य का यन्त्र बन जाता है। शोषकतन्त्र की समाप्ति के साथ ही यह तन्त्र भी समाप्त हो जाता है।

हम यह देख सकते हैं कि मार्क्स की संपूर्ण व्याख्या वर्ग-विभेद पर आधारित है,जो वर्ग-संषर्घ के आधार पर वर्ग-उन्मूलन की साम्यवादी व्यवस्था का लक्ष्य रखता है। कम्यूनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंजिल्स की स्पष्ट घोषणा है- "अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।"[17] यहां मार्क्स के साथ हम डार्विन के 'प्राकृतिक संघर्ष' का एक सीमा तक संवंध देख सकते हैं।

मार्क्सवादियों ने वर्ग-विभेद की यह अवधारणा आर्थिक आधारों पर प्रस्तुत की है। मैक्स वेबर, जो यास्पर्स के निकटतम सहयोगी तथा गुरु भी रहे हैं, ने भी आर्थिक आधार पर ही वर्गों की कल्पना की थी। उन्होंने वर्गों की तीन विशेषताएं बतलायी हैं- 1. एक वर्ग के प्रायः सभी सदस्यों को बहुत कुछ एक सी आर्थिक सुविधाएं या अवसर

प्राप्त होते हैं। 2 वर्ग पूर्णतया आर्थिक हितों पर आधारित होते है और इसके सदस्यों को वस्तुओं पर अधिकार तथा आमदनी के सवंध में कुछ निश्चित अवसर प्राप्त होते हैं। 3 ये अवसर या सुविधाएं वस्तुओं तथा श्रमिकों के बाजार भाव के अनुसार बदलती रहती हैं। उनके अपने शब्दों मे– "हम एक समूह को तब वर्ग कह सकते हैं, जबकि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर समान रूप से प्राप्त हो, यहा तक कि यह समूह वस्तुओ पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओ से सबधित आर्थिक हितो द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओ या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।"[18]

किन्तु अस्तित्ववादियों की रुचि मानव के इस सामान्यीकरण या वर्ग–विभाजन में नहीं है। वे व्यक्ति विभेद पर बल देते हैं। व्यक्ति का वैशिष्ट्य ही उनकी स्थापना का केन्द्र बिन्दु है और इसी कारण मार्क्सवादी उसे बुर्जुआ दर्शन कहकर आलोचना भी करते हैं।[19] कामू ने तो ऐसी आलोचनाओ से उबकर यह स्पष्ट घोषणा ही कर दी कि "हां, मैं बुर्जुआ हूं।"[20] आगे तो आरोपों प्रत्यारोपों की एक सुदीर्घ श्रृंखला ही है। वस्तुत दोनो ही विचारधाराएं इतनी सशक्त और व्यापक ही नहीं विभिन्न भी थीं कि उनका कहीं न कहीं आपस में टकराना स्वाभाविक ही था।

कामू कहते हैं– "मार्क्स का भौतिकवाद वास्तव में अपने आप में एक बुर्जुवा घटना है। निरन्तर वैज्ञानिक प्रगति की भविष्यवाणी और तकनीक व उत्पादन का कल्ट वास्तव में बुर्जुवा मिथक हैं, जो दसवीं शताब्दी के अन्त तक दुराग्रह (Dogma) का रूप ले चुके थे।"[21] बुर्जुवा विचारो के साथ मार्क्स के विचारों के इस तुलनात्मक दृष्टिकोण के पीछे कामू का उद्देश्य मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विसगतियो का निदर्शन करना था। वे दिखाते हैं कि "मार्क्सवाद में व्यक्तिगत आतंकवाद की जगह राज्य आतंकवाद का आगमन हो जाता है। हत्या को अब वैधानिक स्वीकृति मिल जाती है। और ऐतिहासिक स्थितियां नैतिकता की निर्धारक हो जाती हैं। तकनीक को शक्ति पर वैध पकड़ के लिए अधिक पूर्ण बना दिया जाता है और राज्य एक पूजा का विषय बन जाता है।"[22]

कामू मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता पर ही प्रश्नचिन्ह लगाते हुए कहते हैं कि यह दावा नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। यह नियतत्ववाद और भविष्यवाणी का, व्यावहारिक विश्लेषण

और स्वप्न का विरोधाभासपूर्ण व्यामिश्र है। उनकी तत्कालीन समाज की आलोचना तो वैज्ञानिक आधार पर खडी है किन्तु भविष्यकालीन समाज की गणना केवल पूर्व मान्यता है। उनकी द्वन्द्वात्मकता और भौतिकवाद विरोधाभसपूर्ण है और वह भौतिक तत्वों पर विचारो की निर्भरता को स्थापित करने में अक्षम है। मार्क्स द्वन्द्ववाद को एक द्विविधा में डाल देते हैं क्योकि इससे भिन्न-भिन्न निष्कर्प निकाले जा सकते हैं।[23] वे कटु होते हुए कहते हैं- मार्क्सवादी भविष्यवक्ता होने का दुराग्रह छोड दें तो अच्छा है। मार्क्सवाद में कभी वैज्ञानिक अवधारणा नहीं रही, अधिक से अधिक इसके अपने वैज्ञानिक दुराग्रह रहे हैं।[24] सार्त्र ने भी The Critiqie of Dialectical Reason के Theorie des ensembles Pratianes भाग में द्वन्द्ववाद की सीमाएं दिखायी हैं। वे कहते हैं द्वन्द्ववाद विश्व में स्थित हो सकता है, किन्तु यह मनुष्य की अनुभूतियों की संपूर्णता की प्रक्रिया में उसके द्वारा सर्जित होता है। प्रकृति का ज्ञान एक मानवीय संरचना है और यह कभी प्रकृति को वैसे स्वरूप में उद्घाटित नहीं कर सकता जैसे वह अपनी वास्तविकता को करता है। वैज्ञानिक प्रमाण केवल इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मानवीय प्रज्ञा की प्रकृति द्वन्द्वात्मक है, न कि स्वय प्रकृति। यह सही है कि मनुष्य प्रकृति के अन्तर्गत है और प्रकृतिकी प्रक्रियाएं मानव जीवन का आधार हैं, किन्तु यह सही नहीं है कि मानव ज्ञान अपने को प्रकृति के प्रतिदर्श (Model) के अनुरूप अपघटित करता है। मानवीय वास्तविकता भौतिक रासायनिक प्रक्रियाओं से भिन्न है। मार्क्सवादी सर्वप्रथम मानवीय विचारों को प्रकृति पर आरोपित करते हैं, पुनः वे हमारे ज्ञान को इस विश्वास के साथ मानव सत्ता पर पुनः आरोपित कर देते हैं कि यह मूलतः प्रकृति से व्युत्पन्न है।[25] सार्त्र कहते हे मार्क्सवादी स्वयं को भौतिकवादी कहते हैं, किन्तु वे स्वयं प्रत्ययवादी हैं। क्योंकि वे प्रकृति संबंधी अपने विचारों को अतिमानवीय अस्तित्व दे देते हैं।'' उनके अनुसार ''मार्क्स की गलती यह थी कि उसने कांट द्वारा बतायी सभी सीमाओं की उपेक्षा की।'' अतः मार्क्स का यह कथन- ''विचार की प्रक्रिया भौतिक प्रक्रिया है, गलत है। भौतिक प्रक्रिया का मन में प्रतिस्थापन अनुचित है। अस्तित्ववादियों ने मार्क्सवाद पर अतिवस्तुपरकता का दोष लगाया। उनके अनुसार मार्क्सवाद में वस्तुएं व्यक्तियों की अपेक्षा महान हो जाती हैं। एंगिल्स ने साम्यवादी प्रशासन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा भी है कि इसमें व्यक्तियों के शासन के स्थान पर वस्तुओं का प्रशासन और उत्पादन की प्रक्रिया का निर्देशन स्थापित हो जायेगा।''[26] यद्यपि इसका वास्तविक निहितार्थ कुछ और हो सकता

है, किन्तु यह वस्तुपरकता मनुष्य के लिए एक चुनौती के रूप में उभरती है। यदि यह वस्तुपरकता मात्र हुसर्ल के फेनोमेनोलॉजिकल उद्घोष "वस्तुओ की ओर लौटो" की भांति रहती, तो शायद अस्तित्ववादियों को इससे इतना विरोध न होता, जैसा कि यास्पर्स कहते हैं- "वस्तुपरकता का रोग अस्तित्व का विनाश है।"[27] संभवत. अस्तित्ववादियों का विरोध मानव जीवन को वस्तुओं के द्वारा परिभाषित और निर्धारित करने से है।

मार्क्सवाद की समष्टिवादिता, समानता, आर्थिक नियतत्ववादिता, ऐतिहासिक निर्धार्यता- आदि अनेक ऐसे पहलू हैं, जिनसे अस्तित्ववाद का सहमत हो पाना कठिन है। ध्यातव्य है कि मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दोनो हीगेल के विरोध मे हैं, किन्तु दोनो के विरोध के आयाम बदल जाते हैं। मार्क्स हीगल का विरोध करते हुए कहते हैं- "मनुष्य की बुद्धि मे जिन भ्रान्तियों का निर्माण होता है, वे अनिवार्य रूप से भौतिक जीवन की प्रक्रियाओ की परिणाम होती हैं। इन्हें व्यावहारिक आधार पर परखा जा सकता है और वे भौतिक धारणाओं से बंधी होती हैं। नैतिकता धर्म, तत्वमीमांसा, शेष विचारधारा तथा चेतना के तत्स्थानी रूप अपनी स्वतन्त्रता के भाव को कायम नहीं रख पाते। उनका न तो कोई इतिहास होता है और न कोई विकास। जब मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन और भौतिक संपर्क का विकास करते हैं, तब वे अपने वास्तविक जीवन के साथ-साथ अपने चिन्तन को और अपने चिन्तन से सम्बद्ध अन्य बातों को भी बदल देते हैं। जीवन चेतना के द्वारा निर्धारित नहीं होता, प्रत्युत चेतना जीवन के द्वारा निर्धारित होती है।"[28]

यहां हम यदि अन्तिम पंक्ति को ध्यान से देखें तो यह कथन कारणतावाद से निर्धारणवाद की ओर अग्रसरित करता है। चेतना जीवन के द्वारा निर्धारित होती है।" का रूपान्तरण जब इस अर्थमें हो जाता है कि "चेतना जीवन की परिस्थितियों मात्र से निर्धारित होती है, तो यह स्वयं मानवीय चेतना की स्वतंत्रता और उसकी सामर्थ्य के लिए एक प्रश्नचिन्ह बन जाता है। जब मार्क्सवादी भौतिक परिस्थितियों से मानव चेतना को निर्धारित करने लगते हैं अथवा इसके विभिन्न भौतिक कारकों को अनिवार्य परिस्थितियों में रखते हुए उन पर चेतना को निर्भर मान लेते हैं, तो यह मानव अस्तित्व की मौलिकता का निषेध वन जाता है। सार्त्र इसी कारण मार्क्सवाद की कारणता को छद्म हीगलवादी कारणता की संज्ञा देते हैं। जब नेबिली जैसे साम्यवादी विचारक ने

कारणता का प्रश्न उठाते हुए मार्क्सवादी कारणता को परिस्थितियों की समग्रता का प्रतिरूप बताया तो सार्त्र ने उत्तेजित होते हुए कहा- "क्या आप मुझे साफ-साफ वतायेंगे कि आप कारणता से क्या समझते हैं? मैं उसी दिन से मार्क्सवादी कारणता पर विश्वास कर लूंगा, जिस दिन से कोई मार्क्सवादी मुझे इसके वारे में समझा देगा। जव भी कोई स्वतंत्रता के बारे में आपसे बात करने लगता है, तो आप कहने लगते हैं- "माफ करना, लेकिन कारणता भी होती है।" लेकिन इस गुप्त कारणता का, जिसका हीगल केअलावा कहीं कोई अर्थ नहीं है, आप कोई ब्यौरा नहीं देते। मार्क्सवादी कारणता के बारे मे आपका विचार महज दिवास्वप्न है।[29]

कामू कहते हैं- "अर्थ की भूमिका को हम नकार नहीं सकते, लेकिन क्या नेपोलियन के खिलाफ जर्मन विद्रोह केवल कॉफी और चीनी नहीं मिलने के कारण ही हुआ था? इस प्रकार का शुद्ध नियतत्ववाद अपने आप में वड़ा बचकाना है, क्योंकि अकेले सकारात्मक तर्क से हम परिणामों की पूरी श्रृंखला को स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं।"[30] वे कहते हैं कि मार्क्स के लिए आदमी इतिहास है और इतिहास कुछ नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों का लेखा-जोखा है। इतिहास में एक बाह्य मूल्य के प्रस्थापन की चेष्टा की जाती है। चूंकि यह मूल्य नैतिक मूल्यों से अलग है, अतः बिना किसी आधार के यह एक दुराग्रह है।[31] "ऐसा कोई कारण नहीं है कि इतिहास केअन्त की कल्पना की जाय या फिर बार-बार वर्गहीन समाज का हवाला देकर मार्क्सवाद मानवता की होली जलाता रहे। मार्क्सवाद के इस कथन पर कि एक व्यक्ति के मरने से क्या फर्क पड़ता है, यदि इससे पूरी मानवता की मुक्ति को सहयोग मिले, कामू पूछते हैं- "क्या यहां प्रगति उस भयंकर 'पेगन' देवता की तरह नहीं लगती, जिसकी एकमात्र इच्छा थी कि वह दुश्मनों की खोपड़ी में अमृत रखकर पिये?" शायद मार्क्सवाद का उत्तर यही होगा कि सर्वहारा की विजय के उपरान्त व्यक्ति की यन्त्रणा खत्म हो जायेगी, किन्तु यदि सर्वहारा औद्योगिक क्रान्ति की उपेक्षा नहीं कर सकता और न ही उत्पादन के सारे साधनों को अपने हाथ में रख सकता है, तब वह इसका उपयोग सबके हित में कर पायेगा इसकी क्या गारंटी है?"[32]

अन्ततः मार्क्सवाद से विरति उन्हें यथार्थपरक ही लगती है। वे इसकी असत्यता दिखाते हुए कहते हैं- पिछले सत्तर वर्षों में अभी तक तो मार्क्सवादी भविष्यवाणियां सत्य

साबित नहीं हुई।" इस पर मार्क्सवादी यह कह सकते हैं कि ऐसे वर्गहीन समाज को स्थापित होने में देरी भले हो, पर एक न एक दिन ऐसा घटेगा जरूर। कामू पूछते हैं- क्या पीढियों की आहुतियां भी काफी नहीं? तव क्या इन वैश्विक संघर्पो को और एक हजार बार दुहराने के लिए हमें अनन्त समय चाहिए? यदि ऐसा है तो यहां पर बौद्धिक युक्तियों का प्रसंग न उठाया जाय बल्कि हम उस आस्था या मतांधता की बात करे, जो हत्या और आतंक की अनिवार्यता को स्वीकार करते है। इस नयी आस्था और प्राचीन आस्था में क्या फर्क है? तर्क और विश्लेषण के सामने तो दोनो नहीं टिक पाते।[33] बार-बार श्रमिक आंदोलन का विफल होना हमारे सामने आता है और तव हमें यह मान लेना चाहिए कि इस झूठ को शान्ति से उठा फेंके। भविष्वाणियों का यह स्थगन और विलम्बन तथा अन्तिम वर्गहीन समाज की स्थापना की प्रचेप्टा धीरे-धीरे अव एक तरह की धर्मान्धता में परिणत हो गयी है जिसको वहुत कम तार्किक पुष्टि मिल सकती है। यहा पह ईसाइयों के स्वर्गलोक की तरह मार्क्सवादी भी वर्गहीन समाज की कल्पना में फंसे हैं और तथ्य को एक सामाजिक धुंध में लपेटे रहते हैं। संभवत इन्हीं कारणों से यास्पर्स ने भी कहा था, मार्क्सवाद और कुछ नहीं ईसाई चिन्तन प्रणाली और सोच का प्रतिफल है।"[34]

अन्ततः मार्क्सवादी राज्य में मानवीय स्वंत्रता का जो रूप उभरा अथवा जो व्यवस्था जन्मी उस पर कटु व्यंग्य करतेहुए कामू कहते हैं- "मार्क्स जिस स्वतंत्रता की बात उठाते हैं वह एक ऐसी विशिष्ट स्वतंत्रता है जो केवल पुलिस स्टेट में ही मिल सकती है और जहां नैतिकता श्रमिक वर्ग की वेश्यावृत्ति और व्यभिचार पर ही पनप सकता है।"[35] यदि सर्वहारा के पास कुछ नहीं न धर्म, न नैतिकता न उसका अपना होश,तब वास्तव में हमारे सामने एक बड़ी विचित्र समस्या उठ खड़ी होती है, क्योंकि यदि मार्क्स के विचारों में केवल सर्वहारा ही है, जिसके पास अपना व्यक्तित्व नहीं बचा है, तव प्रश्न उठता है, बिना चेतना के अपने आप को सम्पूर्ण रूप से स्थापित करने में सर्वहारा कैसे समर्थ होगा?"[36]

यहां हम देख सकते हैं कि अस्तित्ववादियों की चिंता व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्य की संप्रभुता के द्वन्द्व को लेकर हैं। एक ओर उन्हें मार्क्स का मानववाद आकृष्ट करता है तो दूसरी ओर उसका समष्टिवाद और नियततत्ववाद उन्हें चिन्तित कर देता है।

अस्तित्ववादियो को यह स्पष्ट अनुभूति हैकि सत्ता जिसके भी पास जायेगी, चाहे वह बुर्जुवा के पास जाये या सर्वहारा के पास, वह दमनपरक ही हो जायेगी। समाजवाद में सत्ता और सम्पत्ति का स्वामित्व समाज के पास जाने की बजाय राज्य के पास चला जाता है और वह मात्र राज्य पूंजीवाद बनकर रह जाता है। सैद्धांतिक राज्यविहीन समाज के दावे झूठे सिद्ध होते हैं। सार्त्र भी शीतयुद्ध काल में रूस की भूमिका तथा हंगरी पर उसके आक्रमण से मर्माहत होते हैं और 'Ghost of Stalın' नामक पुस्तक में लोकतंत्रीकरण पर बल देते हैं।[37] कामू कहते हैं- "इस दोहरी मार से पिछले डेढ सौ सालों में सर्वहारा अपने ऐतिहासिक मिशन में बार-बार छला गया। हम पाते हैं कि श्रमिकों ने संघर्ष किया, अपना जीवन दिया जिसके कारण उनका तो बल घटा मगर सेना की शक्ति बढी। बुद्धिजीवियों ने सेना को इस किलेबन्दी में सहायता दी, मगर इसके परिणामस्वरूप बुद्धिजीवी स्वयं भी सत्ता के गुलाम हो गये। जो संघर्ष उनकी गरिमा का परिचायक था, उसको पाने के लिए वास्तव में नये और पुराने मालिको के जत्थे के सामने स्वयं सर्वहारा को एक नयी चुनौती बनकर खड़ा होना पड़ा और जैसे ही उन्होंने स्वतंत्रता की पुकार की वैसे ही उनका गला घोंट दिया गया। एक प्रकार से यह मार्क्सवाद मे लगे ग्रहण का परिचायक है।"[38]

फिर त्राण कहां है ? हमें लोकतंत्र और समाजवाद में से एक को चुनना ही पड़ेगा। हम चुनावरहित तो नहीं रह सकते। सार्त्र भी इस द्वन्द्व सेगुजरते हैं, कामू भी यास्पर्स भी, मार्सल भी। उनके समक्ष तो स्पष्ट ध्रुव है। एक मार्क्सवादी सोवियत संघ और दूसरी तरफ लोकतांत्रिक किंतु साम्राज्यवादी अमेरिका। निर्दलीय रहना सार्त्र की दृष्टि में तो असंभव है क्योंकि उनके अनुसार "वे जो अपराधी हैं और वे जो अपराध के साक्षी भर हैं समान रूप से दोषी हैं।" अन्ततः वे मार्क्सवादी रूस को चुनते हैं। 'ला तों मोदार्न' के अक्टूबर अंक में सार्त्र लिखते हैं।" मुझे पूरी तरह पूर्व सोवियत संघ को स्वीकारना होगा, कोई इसे स्वीकारे या नहीं, मुझे मेरी वैचारिक स्थिति और प्रतिबद्धता का पूरा एहसास है।"[39] किन्तु कामू के लिए यह इतना स्पष्ट नहीं है। शुरू से आखिर तक कामू के जीवन में हम पाते हैं कि वह कभी दलीय समझौता नहीं कर पाये। शायद अल्जीरिया और फ्रांस का द्वन्द्व उनके मस्तिष्क पर छाया रहा। उन्हे स्पष्ट लगता है कि मार्क्सवाद अनुचित दिशा में अग्रसर है किंतु वे यह भी पाते हैं कि मार्क्सवाद का

विरोध अनिवार्यत· अमेरिकी राजनीतिक प्रणाली की ओर नहीं ले जाता। फ्रेंच शिक्षक यूनियन में अपने भाषण मे वे कहते हैं- दो सौ वर्षो के संघर्प के वाद आदमी को स्वतंत्रता मिली, पश्चिम हो या पूरव हर कहीं राज्य सत्ता व्यक्ति स्वातंत्र्य का दमन करने मे नहीं हिचकिचाती। स्वतत्रता कोई वुर्जुवा चुनाव नहीं है। इसका पथ सोवियत संघ से अमेरिका की ओर नहीं ले जाता, वल्कि स्वतंत्रता का चुनाव करने का अर्थ हुआ, उन सबों से लगाव जो सघर्षरत हैं, जिन्होंने पीड़ा झेली है। स्वतंत्रता का चुनाव न्याय के साथ ही संभव है।"[40]

तो क्या चुनाव इतना कठिन है? कम से कम अस्तित्ववाद के लिए तो यह अत्यन्त कठिन हो जाताहै। हाइडेगर नाजीवाद जैसी अतिवादी वर्वर व्यवस्था का समर्थन कैसे कर जाते हैं, जब वे स्वतंत्रता पर इतना वल देते हैं? सार्त्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मार्क्सवाद में कैसे अक्षुण्ण रख सकते हैं? वे अस्तित्तववादी मार्क्सवाद की परिकल्पना करते हैं। उनकी 1948 में गठित पार्टी Rassemblement Democratique Revolutionaire अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का सम्मिश्रण प्रतीत होती है किंतु वाद में यह शुद्ध रूप से एंटी-कम्यूनिस्ट हो गयी।[41] फिर वे The Communists and Peace के प्रकाशन के साथ साम्यवाद को शान्तिपरक और पूंजीवाद को युद्धपरक स्वीकार कर लेते हैं। Critique of Dialectical Reason के प्रकाशन तक वे समीक्षात्मक समाजवादी बने रहते हैं, किंतु फिर उससे भी विरत होना पड़ता है। निश्चय ही यह द्वन्द्व अस्तित्ववाद के लिए एक विकट समस्या बन जाता है। व्यक्ति और समाज का संबंध तय कर पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। व्यक्ति और राज्य के मध्य वे संतुलन स्थापित कर पाने में अक्षम सिद्ध होते हैं।

तो क्या हम ऐसा संतुलन लोकतांत्रिक समाजवाद में पा सकते हैं जिसमें प्रक्रिया तो लोकतांत्रिक हो, किन्तु उद्देश्य समाजवादी हो। समानता उद्देश्य तो हो किन्तु वह स्वतंत्रता को प्रतिहत न करे। राज्य की संप्रभुता व्यक्ति की अस्मिता को नष्ट न करे। राज्य में संप्रभुता एकल नहीं अपितु बहुल हो। समाज में शक्ति संकेन्द्रित नहीं अपितु विकेन्द्रित हो। मांटेस्क्यू, लास्की, लिंडसे, बार्कर, मैकाइवर, डिग्वी, कोल आदि विचारको ने सत्ता के संघात्मक स्वरूप का प्रतिपादन कर बहुलवादी संप्रभुता का समर्थन किया। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, सर्वाधिकारवाद राजतन्त्र आदि की शोषक और विध्वंसात्मक

प्रवृत्तियों को देखते हुए इन विचारकों ने शक्ति के सकेन्द्रण और निरपेक्ष सम्प्रभुता को मानवता के लिए घातक बताया। लार्ड एक्टन ने कहा है- "शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्तिमत्ता पूर्णतया ही भ्रष्ट कर देती है।" मैकाइबर ने भी कहा है- "शक्ति सेवक के रूप में बहुत अच्छी है किंतु स्वामी के रूप में बहुत बुरी।" इसी कारण मांटेस्क्यू ने बहुत पहले ही शक्ति-पृथक्करण का सिद्धात प्रस्तुत किया था।

कितु निरपेक्ष शक्ति के प्रति यह विद्रोह भाव सर्वत्र नहीं है। कामू और सार्त्र जहा ऐसी शक्तिमत्ता के विरोध मे हैं वहीं नीत्शे ने शक्ति की आकाक्षा को ही मूल आकाक्षा तथा उसे नैतिकता का मूल आधार बना दिया है। उनके अनुसार- "यह संसार शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आप स्वय भी शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।"[42] नीत्शे के अनुसार प्रत्येक प्राणी की समस्त प्रवृत्तियों तथा क्रियाओं का मूल स्रोत यह शक्ति की इच्छा ही है। नीत्शे इस शक्ति की इच्छा को जीवित रहने की इच्छा की अपेक्षा भी कहीं अधिक महत्व देते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक प्राणी में पायी जाने वाली आत्मरक्षा की प्रवृत्ति वस्तुतः इसी शक्ति की इच्छा का परिणाममात्र है। जीवन स्वयं ही शक्ति की इच्छा है, अत. प्रत्येक प्राणी के जीवन में इसी का स्थान सर्वोपरि है।[43] नीत्शे शक्ति को स्वामी, नैतिकता और दया, प्रेम, करुणा को दास नैतिकता की संज्ञा देते हैं। यह दास नैतिकता उसकी दृष्टि मे समूह नैतिकता भी है। नीत्शे के ये शब्द हमे हाइडेगर के 'डास मैन' (Das Man), यास्पर्स के समूह (Masses) तथा कीर्केगार्ड के 'निर्विशेष भीड़' (Featureless Crowd) की स्मृति दिलाते हैं।

यदि नीत्शे के कथन को हम आदर्शात्मक स्थिति की बजाय यथार्थपरक स्थिति की दृष्टि से लें तो हमें उसके कथन में सत्य की झलक मिलती है। इसी कारणा पॉल रुबिचेक कहते हैं- "नीत्शे एक सच्चा दार्शनिक है, अत वह जानता है कि उसके समय के यूरोपियनों का व्यवहार मौलिक रूप से कपटपूर्णहै। क्योंकि उस समय नेपोलियन की हर जगह पूजा हो रही थी- "जर्मनी में, इटली में, और रूस में, फ्रांस में भी उसी तरह पूजा हो रही थी जहां नेपोलियन को गद्दी पर बिठाने के लिए पूजा की जा रही थी। युद्ध को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। डार्विन के "जीवित रहने के लिए निर्मम 'जीवन-मरण संघर्ष' का जैसा कि हमने देखा है, यूरोपीय नैतिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा है जो निर्मम प्रतियोगिता, निर्मम संघर्ष और निर्मम राष्ट्रवाद को

न्यायसंगत बनाता है।"[44]

यह संघर्ष वृहद् युद्धो का जनक होता है। यहां हम नीत्शे और हीगेल में आश्चर्यजनक साम्य पाते हैं। नीत्शे के अनुसार आने वाला युग महान युद्ध, सैनिक संगठन, राष्ट्रवाद, उद्योग, विज्ञान और सुख की प्रतियोगिता पर आधारित होगा और आक्रमण करने के अधिकार और बुभुक्षा, दासता, प्रतिशोध की शक्ति से इसका विकास होगा। नीत्शे इसे "युद्ध के क्लासिकी युग" की संज्ञा देता है।[45]

हीगेल का भी मत है कि युद्ध को एक पूर्ण बुराई नहीं मानना चाहिए। 'मानव जाति का विश्वव्यापी प्रेम' तो एक मूर्खतापूर्ण आविष्कार है। युद्ध स्वयं एक गुणात्मक कार्य है। युद्ध व्यक्ति के अहम् का नाश करता है और मानव जाति की पतन से रक्षा कर उसमे क्रियाशीलता का सचार करता है। आगे वह कहता है- "एक समय में केवल एक ही जाति में परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है, इसलिए युद्ध में किसी राज्य की सफलता दैवी योजना के व्यंग को व्यक्त करती है। इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है।[46]

निश्चय ही इस बिन्दु पर नीत्शे और हीगल पूर्णतया सहमत हैं, किन्तु दोनों के साध्य और निष्कर्ष भिन्न हैं। नीत्शे व्यष्टिवादी और यथार्थवादी हैं जबकि हीगल समष्टिवादी और आदर्शवादी। नीत्शे धर्म, ईश्वर, नैतिकता सभी को आधारहीन बनाने का प्रयत्न करते हैं, जबकि हीगल इन सभी को वैयक्तिक ही नहीं, अपितु राजनीतिक आधार भी बना देने का प्रयत्न करते हैं। कम से कम इस एक अर्थ में नीत्शे अवश्य ही मानववादी है। यहां एक और रोचक तथ्य ध्यातव्य है कि नीत्शे स्पष्टत यह स्वीकार कर लेता है कि राष्ट्रवाद सर्वथा अनुचित है, राष्ट्रवाद से गलत मूल्यो की स्थापना होती है।[47] पॉल रुबिचेक कहते हैं कि यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे उस समय याद रखना चाहिए जब किसी प्रकार का हठधर्मी राष्ट्रवादी उसे अपना दार्शनिक बनाने का प्रयास करता है। अतः हम निरंकुश तानाशाहों को, जो राष्ट्र के नाम पर युद्ध और दमन का चक्र चलाते रहे हैं, नीत्शे की बजाय मुख्यत हीगल द्वारा समर्थित मान सकते हैं। हीगल इस दृष्टि से अत्यन्त पीछे के युग में जी रहा है। वह अतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसकी दृष्टि

मे परम्परा मात्र है, जिन्हें कोई भी प्रभुत्व सपन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का दायित्व रखना राज्य का सर्वोपरि दायित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता के आधार पर राज्य पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।[48]

जहा अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श महत्वहीन हो, राष्ट्रवाद ईश्वरीय अलौकिकता का रूप प्राप्त किये हो, वैयक्तिक अस्मिता राज्य की सत्ता के समक्ष अर्थहीन हो, युद्ध एक आदर्श नैतिकता हो, वहा स्वतंत्रता और शान्ति की अपेक्षा रखना ही अनुचित है। विवेकबुद्धि पर सर्वाधिक बल देने वाले इस दार्शनिक का इतना अविवेकपूर्ण निष्कर्ष हमें बुद्धि की सार्थकता और उपादेयता पर ही पुनर्विचार करने को विवश कर देता है। यह कुछ अतर्कसगत नहीं था कि हीगेल का निरपेक्ष प्रत्ययवाद अन्तत निरपेक्ष सर्वाधिकारवाद मे पर्यवसित हुआ, जीवन का उद्देश्य शान्ति नहीं अपितु युद्ध हो गया। वेपर ने हीगलवादी शान्ति की आलोचना मे एक्टन के कथन को परिवर्तित करते हुए ठीक ही कहा है– ''हीगल की शान्ति समाज को पथभ्रष्ट करती है तथा चिरकालिक शान्ति उसे सदा पथभ्रष्ट करती रहेगी।[49]

इस दृष्टि से हम प्लेटो को हीगल की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ मान सकते हैं जिसके अनुसार विवेक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। उसके अनुसार विवेकशील दार्शनिक को ही राज्य का शासक बनना चाहिए। वह इस यथार्थको स्वीकार करता है कि समूचा राष्ट्र दार्शनिकों का राष्ट्र नहीं हो सकता, कुछ गिने–चुने लोग ही विवेक संपन्न दार्शनिक होते हैं। प्लेटो का विवेक शुद्ध तर्कबुद्धि नहीं अपितु वह न्याय, ज्ञान, नैतिकता, प्रेम सभी की समष्टि है। विवेक व्यक्ति को न केवल ज्ञान प्रदान करता है, अपितु उसे प्रेम करना भी सिखाता है। प्लेटो के लिए शासक का विवेकशील और स्नेहशील होना अनिवार्य है।[50]

प्लेटो स्पष्टत. गणतन्त्र की जगह गुणतन्त्र को स्वीकार करते हैं। उनका लोकतन्त्र में विश्वास नहीं है, क्योंकि एथेंस के लोकतंत्र में विश्वास नहीं है, क्योंकि एथेंस के लोकतंत्र ने ही सुकरात को विष दिलवाया था। यद्यपि अनेक विचारक उन्हे फासीवाद का अग्रदूत भी मानते हैं, किंतु सही मायने में वे साम्यवाद के अग्रदूत हैं। प्लेटो की राजनीति की अनुगामिनी है जबकि फासीवादियों ने नीति को राजनीति की अनुगामिनी

बना दिया।

अस्तित्ववादियो के लिए अपने दर्शन को न्यायसगत रूप मे स्वीकार करते हुए किसी भी राजनीतिक प्रणाली से सहमत हो पाना कठिन है। समाजवाद मे व्यक्तिवाद की अस्मिता ही गौण हो जाती है तो लोकतंत्र मे निर्विशेष भीड़ का ही प्रभुत्व हो जाता है। सर्वाधिकारवाद के चयन का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यद्यपि हाइडेगर और नीत्शे प्रकारांतर से इसका समर्थन करते हैं। पुन वे अनिर्णय कि स्थिति मे स्वयं को छोड़ भी नहीं सकते। उन्हें 'इस' या 'उस' में से किसी को चुनना ही होगा। यह द्वन्द्व अस्तित्ववादियो के लिए एक व्यथा का भी रूप ले लेता है। कीर्केगार्ड ने इस पर एक पुस्तक ही लिखी है। "Either / or : A Fragment of Life"

लोकतंत्र अस्तित्ववादी दृष्टि से सर्वोत्तम विकल्प प्रतीत होता है क्योकि इसका उद्‌घोष ही है– स्वतत्रता, समानता और बन्धुत्व। प्रारभ मे यह फासीसी क्रान्ति से ग्रहण किया गया था। कीर्केगार्ड भी इससे प्रभावित हुआ था, किन्तु 1848 की क्रान्ति से उसे निराशा भी हुई। उसे यह अनुभूत हुआ कि उन सभी क्रान्तियो से समानता नष्ट हुई जिनका उद्‌देश्य स्वतंत्रता था, जबकि समानता के लिए सघर्ष करने से (जैसा कि उसने अनुमान लगाया और जैसा कि हम अपने अनुभव से भी जानते हैं) स्वतन्त्रता नष्ट हुई। अत. कीर्केगार्ड की दृष्टि में सही आरम्भ बिन्दु 'भ्रातृत्व' होगा[51] कीर्केगार्ड इस भाव को इसलिए प्रधानता देते हैं कि भ्रातृत्व मे 'अस्तित्व' और 'सह–अस्तित्व' दोनों का भाव अन्तर्निहित है। यहाँ आकर स्वतन्त्रता और समानता का विरोधभाव तिरोहित हो जाता है। व्यक्ति की अस्मिता यहाँ सामाजिक प्रतिबद्धता और प्रीतिबद्धता का रूप ले लेती है। इसे ही आध्यात्मिक रूप देते हुए वे ईसाई धर्म के 'पड़ोसी से प्रेम' के आदर्श से जोड़ देते हैं। अन्ततः यह पार्श्ववर्ती प्रेम विश्ववर्त्ती प्रेम का रूप ले लेता है।

किन्तु यह प्रेम जितना सरल दिखता है उतना ही कठिन भी है। समस्त मानवों से प्रेम एक दुष्प्राप्य सी स्थिति है। दास्तोविस्की भी कहते हैं– कार्यरूप में प्रेम करना स्वप्न में प्रेम करने की अपेक्षा कठोर और भयानक है, कष्टदायक और धैर्य की बात है।[52] दोस्तोवस्की भी ईसाई धर्म के 'पड़ोसी से प्रेम' की अवधारणा को विश्व प्रेम की अपेक्षा अधिक प्रवल कसौटी मानते हैं। अपने एक पत्र में वे कहते हैं– ''सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करना आसान है, किन्तु इस बात की आवश्यकता नहीं है। किसी को

किसी ऐसे अजनबी के साथ किसी छोटे कमरे मे रहने के लिए बाध्य करना, जिसके सामने कोई ठहर नहीं सकता कष्ट का अनुभव करता हो और फिर भी उससे प्रेम करने के लिए कहा जाय, यही महत्वपूर्ण बात है।''[53]

सार्त्र प्रेम की इसी कठिनाई को देखते हुए कहते हैं कि अपने आदर्श रूप मे प्रेम एक अयथार्थ साध्य है[54] वे प्रेम को ''अधिकृत करने की आकांक्षा'' और''स्वतत्रता अक्षुण्ण रखने की आकांक्षा'' के विरोधाभास की स्थिति के रूप मे देखते हैं। वैसे भी, जब सार्त्र ''दूसरा व्यक्ति नरक है'' की निष्पत्ति तक पहुँचते हैं, तो ऐसे मे 'पड़ोसी से प्रेम' की आदर्शपरक स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती।

इसीलिए सार्त्र समाजवाद को बेहतर विकल्प मानते हैं। लोकतंत्र में पूंजीवाद के छद्म स्वातंत्र्य का कुत्सित रूप वे देख लेते हैं। वे पाते हैं कि पूँजीवादी दमन-शोषणतंत्र में व्यक्ति के अस्तित्व की गरिमा की रक्षा कठिन है। परेटो ने भी लोकतंत्र में ''अल्पतंत्र के लौहनियम'' को स्पष्ट किया है। इस विचार को यास्पर्स के गुरू मैक्सवेबर भी स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार समाज में लोकतंत्र के नाम पर बहुमत के शासन का चाहे जितना उद्घोष किया जाय, शासन अल्पतंत्र का ही होता है। 19 वीं शताब्दी के ही एक उदारवादी लेखक बेजॉट ने कहा है- ''लोकतंत्र एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा जन साधारण के मन में सत्ता के बारे मे अधिकतम भ्रम पैदा किया जाता है, जबकि वास्तव में उन्हें सबसे कम सत्ता दी जाती है''[55] परेटो कहते हैं कि प्रारंभ में सत्ता में 'शेर' प्रकृति के लोग आते है,जो आदर्शो की प्राप्ति के लिए शक्ति का सहारा लेने में नहीं झिझकते। किन्तु शक्ति प्रयोग की प्रतिक्रिया भयंकर हो सकती है इसलिए यह तरीका असुविधाजनक होता है। इस कारण वे कूटनीति का सहारा लेते हैं और 'शेर' से अपने को 'लोमड़ियों' में बदल लेते हैं और लोमड़ी की भाँति चालाकी से काम लेते हैं। लेकिन निम्न वर्ग में भी लोमड़ियां होती हैं और वे भी सत्ता को अपने हाथ में लेने की फिराक में रहती हैं। अन्त में, एक समय ऐसा भी आता है, जबकि वास्तव में उच्चवर्ग की लोमड़ियो के हाथ से सत्ता निकलकर निम्नवर्ग की लोमड़ियों के हाथ में आ जाती है।[56] इस प्रकार परेटो दिखाते हैं कि राज्य में शक्ति और कपट का एक चक्र चलता रहता है और सदैव अल्पतंत्र ही कायम रहता है।

लेनिन ने राजसत्ता में निहित वर्गीय हित और व्यक्ति की उपेक्षा का स्पष्ट निदर्शन करते हुए कहा है-''लोग राजनीति में प्रतारणा और आत्मप्रतारणा के सदा नादान शिकार

रहे हैं और तबतक सदा रहेंगे, जब तक कि वे सारी नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक फिकरेबाजी घोषणाओ और वादों के पीछे किसी न किसी वर्ग के हितों को खोज निकालना न सीख ले।[57] कामू ने ठीक ही कहा –"पश्चिम हो या पूरब हर कही राज्यसत्ता व्यक्ति स्वातंत्र्य का दमन करने से नहीं हिचकिचाई"।[58] 'The Rebel' पुस्तक मे उनका राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त मुखरित है। वे यहाँ जनवादी क्रान्तियो के भी सर्वाधिकारवादी अवसान को स्पष्ट करते हुए क्रान्ति में निहित भ्रान्ति को दिखाते हैं। उनके अनुसार"प्रत्येक नयी क्राति अपने आप को स्थापित करने के लिए, अपनी यथास्थिति को बचाये रखने के लिए दमन एवं और अधिक दमन का सहारा लेती है।[59] फ्रांस की राज्य क्रांति का उन्होंने गहरा अध्ययन किया, उन्होंने राजहंता और देवहंता दोनों का ही गहन विश्लेषण किया और एक ही नतीजे पर पहुँचे कि रूसो से लेकर स्तालिन तक क्रांति की एक पर एक घटती हुई घटनाओ के बावजूद यूरोप ने केवल दमन पर आधारित राज्यतंत्र को ही पाया।कामू लिखते हैं- आखिर कौन तानाशाह नहीं हुआ ? क्या केवल हिटलर या नेपोलियन ही तानाशाह होकर रह गये ? आज स्तालिन के लिए की गई सामूहिक हत्याओं को क्या इतिहास आश्चर्य चकित होकर निगलने को बाध्य नहीं हो रहा है ?"[60]

अस्तित्ववादी राजनैतिक प्रश्नों को किसी बँधे-बँधाये सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं देखते और इस कारण उनकी चिन्ता में एक द्वन्द्व है, एक विद्रोह है, एक गति है। प्रत्येक अस्तित्ववादी अपने-अपने ढंग से राजनैतिक समस्याओं को समझने का प्रयास करता है तथा अलग-अलग प्रणालियो में समाधान पाने का प्रयास करता है। यद्यपि सोरेन कीर्केगार्ड, मार्टिन व्यूबर, गैब्रियल मार्सल आदि अस्तित्ववादियो में राजनीतिक प्रश्न अधिक मुखरित नहीं हैं, किन्तु यास्पर्स, हाइडेगर और विशेषतः कामू और सार्त्र में अत्यन्त प्रखर रूप में सामने आते हैं। वस्तुत. मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद-ये दोनो विचारधाराएँ दर्शन को जगत् से जोड़ने और सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ उसे क्रियान्वित करने में अत्यन्त प्रयत्नशील रही हैं अपनी तमाम अन्तर्मुखता और व्यक्ति निष्ठता के बावजूद अस्तित्ववाद व्यवहार जगत् की समस्याओं से निरन्तर जूझता रहा है। उसकी आध्यात्मिकता उसकी सामाजिकता में कथमपि बाधक नहीं होती। अपनी आन्तरिकता में भी वह जीवन और समाज के प्रति प्रतिबद्धता बनाये रखता है। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी सम्प्रभुता के सर्वाधिक प्रबल उद्घोषक के रूप में सामने

आता है। इसकी स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र के संकल्प-स्वातत्र्य की तरह मात्र वैयक्तिक नहीं है और न ही राजनीतिशास्त्र के मत-स्वातंत्र्य की भाँति मात्र सामाजिक ही है। इसकी स्वतन्त्रता सार्वजनिक है, सार्वभौगिक है, सर्वक्षेत्रीय है। यह स्वतंत्रता आत्यन्तिक होते हुए भी सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, अन्यथा वह मात्र आध्यात्मिक मुक्ति का रूप ही बन जाती। अस्तित्ववाद की स्वतन्त्रता परिस्थितियो के प्रभाव को इनकार नहीं करती अपितु उनका प्रतिकार करती है। वह नियति को अस्वीकार करती है, प्रकृति को नहीं। उसकी स्वतंत्रता किसी प्रकार की उच्छृंखलता या विश्रृंखलता या अराजकता की ओर गमन नहीं करती, अपितु दायित्वपूर्णता और प्रतिबद्धता का मार्ग प्रशस्त करती है। जब नेविली जैसे विचारक ने सार्त्र पर आरोप लगाया कि वे दर्शन की प्रतिबद्धता को मनमाने निर्णय के रूप में देखते हैं और उसकी ही व्याख्या स्वतंत्रता के रूप में कर देते हैं।[61] तो सार्त्र का उत्तर था-''वस्तुपरक ससार सभावनाओ का ससार है। हमारे लिए वास्तविक समस्या ऐसी स्थितियो को परिभाषित करना है, जिनमे कि सार्वभौमिकता संभव होती है।..हमने कभी भी न तो मानव परिस्थितियों और न ही वैयक्तिक इरादों के विश्लेषण की जरूरत पर संदेह किया है। जिसे हम परिस्थिति कहते हैं, स्पष्टतः वह सपूर्ण स्थिति है, न केवल भौतिक वरन् मनोविश्लेषणात्मक भी, जो विचाराधीन युग में उसे ठीक-ठीक संपूर्ण रूप से परिभाषित करती है।[62]

किन्तु स्वतंत्रता अपने आप में कोई लक्ष्य भी तय नहीं कर पाती। अस्तित्ववाद किसी प्रकार की सुनिश्चित लक्ष्यपरकता के विरूद्ध है। इसी कारण सार्त्र मार्क्स के साम्यवाद और काम्टे के मानववाद की आलोचना भी करते हैं। किन्तु इससे अस्तित्ववाद एक ऐसी दिशाहीनता की ओर बढ़ जाता है जहॉ औचित्य-अनौचित्य का आधार ही समाप्त हो जाता है। अस्तित्ववाद द्वारा नैतिकता का आधार समाप्त कर दिये जाने से उसकी प्रतिबद्धता का भी आधार समाप्त हो जाता है। उनकी निरपेक्ष स्वतंत्रता के आगे उत्तरदायित्व और प्रतिबद्धता जैसे शब्द बेमानी सिद्ध होने लगते हैं। पॉल रुबिचेक आलोचना करते हुए कहते हैं-'क्या पूर्ण उत्तरदायित्व संभव है? शायद ही यह विश्वसनीय हो कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण जाति-सभी के लिए निर्णय करे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बारे मे निर्णय करना होता है, जैसा कि सही अस्तित्ववाद कहता है। (ध्यातव्य है कि अस्तित्ववाद और मानववाद में सार्त्र ने व्यक्तिगत प्रतिबद्धता को तर्कतः सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ने का प्रयास किया है। उनके अनुसार हमारी स्वयं के प्रति

प्रतिबद्धता अन्तत· हमे अन्य के प्रति भी प्रतिबद्ध करती है।[63] हमारे कार्य इतने गलत या उग्र हो सकते हैं कि उनसे कई लोगों के लिए या किसी सपूर्ण समाज के लिए भी विश्व का अर्थ और विश्व मे मनुष्य का स्थान खतरे मे पड़ सकता है।''[64] पुन· वे कहते हैं–''चूँकि न तो शुभ का अस्तित्व है, न अशुभ का। अत नाजियो द्वारा की गयी किसी भी हत्या का समर्थन करने के लिए इसका समान रूप से प्रयोग किया जा सकता है। अस्तित्व की यथार्थता विभिन्न कार्यों के मूल्यों के बीच सभी भेदों को नष्ट करके प्राप्त की जाती है।''[65]

वास्तव में अस्तित्ववाद राजनीतिक दृष्टि से हमें तर्कत एक फासीवादी स्थिति में ही ले आता है। फासीवाद किसी पूर्वनिश्चित सिद्धान्त या लक्ष्य पर आधारित दर्शन नहीं है। इसके अनुसार लक्ष्य, सिद्धान्त और साधन अवसरानुकूल होते है और अवसर ही इनके प्रयोग का औचित्य बताता है। अत· असका कोई निश्चित दर्शन नही है यह एक प्रकार का अवसरवाद है। मुसोलिनी ने कहा भी है कि फासीवाद का सवंध किसी ऐसी नीति के पोषण से नहीं है, जिस पर विवरण सहित पहले से विचार किया गया हो। इसका जन्म क्रियात्मक आवश्यकता के कारण हुआ तथा प्रारंभ से ही यह सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक रहा।

ध्यातव्य है कि फासीवाद को ''हीगल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु'' कहा जाता है। किन्तु हीगल के सर्वथा प्रतिपक्षी अस्तित्ववाद से भी फासीवाद का एक अर्थ में आश्चर्यजनक साम्य है और वह साम्य है– दोनों का किसी निरपेक्ष सिद्धान्त या साध्य में अविश्वास तथा अबुद्धिवाद। व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और राज्य की संप्रभुता के मुद्दे पर चाहे दोनों में प्रबल विराध हो, किन्तु उक्त दोनों मुद्दों पर उनमें कोई विरोध नहीं है।

अस्तित्ववाद इस अधोगति से तर्कतः बच नहीं सकता। उसे मूल्य स्वीकारने होंगे, मूल्य स्थापित करने होंगे। उसे दिशाएँ तय करनी होगी, मार्ग निर्धारित करने होगे। वरण–स्वातंत्र केवल विकल्पो की उपलब्धता से मूल्यवान् नहीं होता अपितु वह सर्वश्रेष्ठ विकल्प के चयन से मूल्यवान् होता है। यदि अस्तित्ववाद को एक वैयक्तिक दर्शन से बढ़कर सामाजिक दर्शन का रूप लेना है तो उसे इस· दिशा में भी प्रयास करने होंगे। यदि यास्पर्स कहते हैं कि बिना राजनीति के दर्शन पूर्ण नहीं होता, तो हम कह सकते हैं कि केवल स्वतंत्र प्रतिबद्धता से राजनीति पूर्ण नहीं होती, अपितु सुनियोजित प्रतिबद्धता

से वह पूर्ण होती है।

जिस प्रकार मार्क्स ने मनुष्य को उसकी समानता और सामाजिकता का बोध करा कर एक महान विचारधारा दी,उसी प्रकार सार्त्र ने मनुष्य को स्वतंत्रता और वैयक्तिकता का बोध करा कर एक महान विचारधारा दी। प्रथम की सामाजिक स्तर पर उपलब्धि महत्वपूर्ण है जबकि द्वितीय की वैयक्तिक स्तर पर। दोनो आधुनिक काल के प्रभावी दर्शन रहे हैं, किन्तु अपने -अपने क्षेत्रों मे। सामाजिक अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी समाजवाद की स्थापना के सारे प्रयास बेमानी सिद्ध हुए हैं हमारी आवश्यकता एक समग्र दर्शन की, इस समग्रता के बिना वह जीवन से गहरे नहीं जुड़ सकता। अन्तत· हम इसे मार्क्स के शब्दों में Poverty of Philosophy ही कह सकते हैं।

अस्तित्ववाद ने कीर्केगार्ड, व्यूबर और मार्सल के हाथो आन्तरिक और आध्यात्मिक प्रतिबद्धता पायी, तो कामू, हाइडेगर और सार्त्र के हाथों बाह्य और सामाजिक प्रतिबद्धता। किन्तु हमें न तो केवल बुद्ध और पतंजलि की भाँति अन्तर्मुखी दर्शन की आवश्यकता है और न केवल चार्वाक और चाणक्य की तरह पूर्णतः बहिर्मुखी दर्शन की, अपितु हमें कृष्ण की भाँति उभयमुखी दर्शन की आवश्यकता है जिसमे अध्यात्म और राजनीति दोनो का मन्जुल समन्वय है। अस्तित्ववाद को न केवल आधुनिक परिवेश मे मनुष्य के स्थान की खोज करनी है, अपितु उसे आधुनिक परिवेश में मनुष्य की भूमिका की भी खोज करनी है। उसे स्वतंत्रता का बोध ही नहीं कराना है अपितु उसे दिशा भी देनी है। यदि वह कहता है कि मनुष्य चुनाव के दायित्व से नही बच सकता तो उसे यह भी कहना होगा कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ चुनाव के दायित्व से नहीं बच सकता। वस्तुत· हमारे लिए स्वतंत्रता का अस्तित्व दो रूपों में है-जिन्हें हम कुछ विरोधा भासी रूप में कह सकते हैं-"वरण स्वातंत्र्य" तथा"स्वतंत्रता वरण"।[66] यह तो स्पष्ट है कि यदि हम स्वतंत्र हैं तो हमें वरण करने की स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए, किन्तु हमारा प्रत्येक वरण हमें स्वतंत्र ही बनाये रखेगा, यह आवश्यक नहीं है। हमारा एक गलत वरण हमे परतंत्र बना सकता है। उदाहरणार्थ हम जब तक किसी तट या पुल पर खड़े हैं तब तक इस बात के लिए स्वतंत्र हैं कि बाढ़ में उफनती नदी में कूदें या न कूदें, किन्तु एक बार कूद जाने के बाद आवश्यक नहीं कि हम तट या पुल पर पुनः पहुँच सके। फिर हमारे पास उपलब्ध वरण-स्वातंन्य हमसे छिन जाता है। हमारा प्रत्येक वरण किसी न किसी

सीमा तक हमारे वरण-स्वातंत्र्य को सीमित करता जाता है। हमारा कोई चयन केवल हमारी स्वतंत्रता को ही सीमित नहीं करता, अपितु अन्य की स्वतत्रता को भी सीमित कर देता है अतः स्वतंत्रता सिद्धान्तत· अपनी संभावनाओं में असीम हो सकती है, किन्तु व्यवहारतः अपनी वास्तविकताओ मे निरन्तर सीमित होती जाती है। वह सर्वत्र और सर्वदा बाह्य परिस्थितियो और आन्तरिक सार से एक सीमा तक आबद्ध है। परन्तु विशेषत· निरपेक्ष अस्तित्ववाद का दोष यह रहा है कि वह एक तो स्वतंत्रता को असीमित रूप दे देता है और दूसरी ओर वह वरण-स्वातंत्र्य को किसी औचित्यपूर्ण वरण के लिए कोई दिशा निर्देश नहीं देता। निरपेक्ष अस्तित्ववादी केवल यही मानते हैं कि हमे वरण करना चाहिए वे यह नहीं मानते कि हमे उचित प्रकार की स्वतंत्रता और कार्य का भी वरण करना चाहिए। यह निश्चय ही अस्तित्ववादी दर्शन की दुर्बलता है।

यही दुर्बलता अस्तित्ववादी लक्ष्य की अनिश्चितता भी बन जाती है। अस्तित्ववादियो की राजनीतिक प्रतिबद्धता उनकी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता की बजाय व्यक्तिगत और परिस्थितिगत प्रतिबद्धता का ही रूप दृष्टिगोचर होती है। हाइडेगर, कामू, सार्त्र-सभी के राजनीतिक निर्णय अस्पष्ट तथा अनिश्चित हैं। हाइडेगर किसी समय नाजी हो गये और बाद में उन्होंने नाजीवाद की निन्दा की। सार्त्र साम्यंवादी बने और बाद में उन्होंने दल को छोड़ दिया। कामू ने भी समाजवाद को छोड़ कर अंततः लोकतंत्र का प्रबल समर्थन किया। स्पष्टतः इस मत वैभिन्न और मत परिवर्तन का आधार उनके सिद्धान्तों मे नहीं अपितु उनकी मन स्थितियों और परिस्थितियों मे निहित था। पॉल रूबिचेक कहते हैं कि इन्होने स्थिति को अपना नहीं बनाया, परिस्थितियो को अपने अनुकूल नहीं किया, अपितु उनके सामने आत्मसमर्पण कर दिया क्योकि उनके ऐतिहासिक निर्णय में किसी उचित आधार का अभाव था।[67]

किन्तु अन्त में, उक्त आलोचनाओं के आलोक में हम कुछ सार्थक निष्कर्ष अवश्य दे सकते हैं। हम इस बात की तो उपेक्षा नहीं कर सकते कि अस्तित्ववाद के अभ्युदय में राजनीतिक विचारों की तथा समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों की स्पष्ट भूमिका रही है। किन्तु यह भूमिका पृष्ठभूमि के रूप में रही है, अग्रिम लक्ष्य के रूप में नहीं। अस्तित्ववाद स्वयं भी किसी राजनीतिक दर्शन के प्रणयन का दावा नहीं करता। उसका उद्देश्य भी किसी सर्वांगसंपूर्ण दर्शनतंत्र की स्थापना करना नहीं रहा है। वह अपनी ओर

से कोई बाह्य आदर्श आरोपित भी नहीं करना चाहता। राजनीति तो सदैव विचारों की बजाय परिस्थितियों पर निर्भर रही है। वहाँ मतो का मूल्य होता है, वादो का नहीं। उसकी केन्द्रदृष्टि शासन प्रणाली पर होती है, जीवन प्रणाली पर नहीं। उसके लिए व्यक्ति नहीं, अपितु समाज महत्वपूर्ण है। अतः राजनीतिक दर्शन और अस्तित्ववादी दर्शन दोनों दो ध्रुवों पर स्थित होते हैं। किन्तु इससे अस्तित्ववाद की गरिमा कम नहीं होती। जिस प्रकार संकल्प–स्वातंत्र्य स्वयं में कोई मूल्य न होते हुए भी समस्त नैतिक मूल्यों का आधार होता है, उसी प्रकार वरण स्वातत्र्य भी स्वयं मे कोई आदर्श न होकर भी समस्त आदर्शों की ओर बढ़ने का प्रस्थान बिन्दु है। अस्तित्ववाद मे चुनाव की स्वतंत्रता राजनीति के चुनावो में उपयुक्त हो या नहीं वह जीवन के चुनावो मे अवश्य उपयोगी सिद्ध होती है। अस्तित्ववादी प्रतिबद्धता शासन मे सहायक हो या न हो जीवन के अनुशासन मे अवश्य सहायक होगी। इसकी व्यक्तिवादिता यह निष्कर्ष तो नहीं देती कि राजनीति मे दल की बजाय व्यक्ति को निर्वाचन का आधार बनाया जाय किन्तु इतना अवश्य है कि वह दल के ऊपर व्यक्तिगत गुणों के आधार पर चयन का मार्ग प्रशस्त करता है। वस्तुतः अस्तित्ववाद वैयक्तिक और सामाजिक विसंगतियों से त्राण एक सीमा तक राजनीतिक प्रतिबद्धता में पाता है, तो इसका मूल कारण यह है कि उसका व्यक्ति कोई समाज और राजनीति से अलग आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं है और न ही किसी धार्मिक व्यक्ति की भाँति ईश्वर और भाग्य के भरोसे बैठकर अपनी नियति को झेलने वाला व्यक्ति है अपितु वह प्रत्येक संघर्ष से जूझने वाला व्यक्ति है, प्रत्येक चुनौती का डटकर सामना करने वाला व्यक्ति है। हॉ, यह दुर्बलता अवश्य है कि उसकी वैयक्तिक लड़ाई सामाजिक मोर्चे पर कहीं कमजोर न पड़ जाये। वर्तमान परिस्थितियों मे हम पाते हैं कि आस्तिक अस्तित्ववाद की बजाय नास्तिक अस्तित्ववाद अधिक उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि उसमे आन्तरिक प्रतिबद्धता की बजाय बाह्य प्रतिबद्धता पर बल अधिक है। वह ऋषि की भॉति व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन जीने पर बल नहीं देता, अपितु राजनीतिज्ञ की भाँति अपनी अस्मिता को स्थापित और सत्ता को प्रमाणित करने पर बल देता है। यह वर्तमान युग के मनुष्य की आवश्यकता भी है।

तो प्रश्न उठता है कि क्या आस्तिक अस्तित्ववाद आज के संदर्भ में सार्थक नहीं है? वस्तुत· वह मनुष्य के दूसरे आयाम को विकसित करने पर बल देता है। वह जीवन

की गति शीलता मे नष्ट हुई संवेदनशीलता को पुनर्जीवित करने का प्रयास करता है। वह जीवन की विवशताओ और व्यस्तताओ मे किसी व्यवस्थित जीवन के लिए आश्वस्त नहीं करता, अपितु उन्हें स्वीकार करते हुए अनिश्चितता में निश्चिंतता का बोध प्रदान

विज्ञान मानव की चरम वैचारिक उपलब्धि है, यह उसके ज्ञान की सत्यता का उसकी वस्तुनिष्ठता का, उसके जीवन और जगत् की सत्ता का परम प्रमाण है। यदि मनुष्य की महत्ता उसके ज्ञान के कारण है, तो उसके ज्ञान की महत्ता विज्ञान होने में निहित है। आज तो मनुष्य की वैचारिकता के महत्व को भी उसकी वैज्ञानिकता के द्वारा मापा जाता है। वस्तुतः आज का युग ही विज्ञान का युग है। आधुनिक युग की आधुनिकता ही इस कारण है, क्योकि उसमे वैज्ञानिकता है। सभ्यता के विकास में विज्ञान ने धर्म से, परंपरा से, रुढ़ि से इंच दर इंच लड़ाई लड़कर विजय पायी है। पुरातन परंपराओ, धार्मिक अंधविश्वासो, अतिप्राकृतिक मान्यताओ को उसने प्रति पग पराजित किया है। यह विज्ञान की ही विजययात्रा थी, जिसने परंपरागत मूल्यो को मूल्यहीन कर दिया, जिसने धर्म की नींव को हिला दिया, जिसने कल्पनाओं को मूर्त्त कर दिया, जिसने सुविधाओं को सुलभ्य कर दिया, जिसने प्राकृतिक संपदा को मानवीय समृद्धि का संसाधन बना दिया। और भी, यह विज्ञान ही था, जिसने मनुष्य की विध्वंसात्मक वृत्ति को विनाशक अस्त्र उपलब्ध कराये, बिना यह जाने कि उसकी व्यक्तिगत वृत्ति विश्व के लिए कैसी विभीषिका बन सकती है। विज्ञान ने आज एक व्यक्ति को इतनी शक्ति दे दी है कि वह निजी विकृत महत्वाकांक्षाओं के लिए पूरे समाज को संकट ग्रस्त कर सकता है, संपूर्ण विश्व को विनष्ट कर सकता है। विज्ञान ने आज सृष्टि की व्यवस्था में साधिकार प्रवेश कर लिया है, वह भौतिक तत्वों में ही नहीं जैविक तथ्यों में भी परिवर्तन ला सकता है, वह जगत् की संरचना ही नहीं जीवन की भी संरचना बदल सकता है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह शक्ति यदि आज हिट्लर, मुसोलिनी, पोलपाट, गोरी, गजनवी जैसे तानाशाहों को प्राप्त हो जाय, तो क्या हो सकता है? पृथ्वी पर जिस जैविक सृष्टि के पनपने में करोड़ों वर्ष लगे आज उसे कोई क्षणभर में विनष्ट कर सकता है। यह स्थिति चिन्तनीय है। विज्ञान जन्य ऐसी आपद्स्थितियों में हमें अपने अस्तित्व को ढूंढना होगा। विज्ञान वस्तुतः हमारे जीवन से इतने गहरे रूप में जुड़ा है कि हम इसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकते। हम इस प्रश्न से भी नहीं बच

करता है। हम यदि भविष्य के लिए एक संतुलित मनुष्य की परिकल्पना करे, जिसमें चार्वाक और बुद्ध दोनो के गुण विद्यमान हो, जो राजा भी हो, ऋषि भी हो, तो वैसा राजर्षि अस्तित्ववाद के दोनों पक्षो के योग से ही निर्मित हो सकता है। इसी रूप में अस्तित्ववाद की सार्थकता और प्रासंगिकता है।

वस्तुत· नास्तिक और आस्तिक अस्तित्ववाद में भेद उनकी केन्द्रीय विषय वस्तु को लेकर नहीं है, अत इस भेद से उसमें विरोधाभास भले ही प्रतीत होता हो, उसमें कहीं व्याघात नहीं उत्पन्न होता। स्वय सार्त्र जैसे कट्टर नास्तिक अस्तित्ववादी ने भी इस बात को स्वीकार किया है– "अस्तित्ववादी इस अर्थ में नास्तिक नहीं है कि वह ईश्वर के अस्तित्व के विरूद्ध प्रदर्शन करने में ही अपनी सारी शक्ति नष्ट कर देगा। अपितु वह घोषणा करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है भी तो अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण में कोई फर्क नहीं आयेगा। इसका मतलब यह भी नहीं है हम अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व में यकीन करते है, बल्कि हम सोचते हैं कि वास्तविक समस्या उसके अस्तित्व में होने या न होने की नहीं है। मनुष्य को जिस बात की जरूरत है वह यह है कि वह अपने आप को पहचाने और यह समझे कि उसको अपने आप से कोई दूसरा नहीं बचा सकता, यहाँ तक कि ईश्वर के अस्तित्व का वैध प्रमाण भी नहीं। इस अर्थ में अस्तित्ववाद आशावादी है।"[६४]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव जीवन का चाहे नैतिक आयाम हो या आध्यात्मिक, सामाजिक आयाम हो या राजनीतिक-जहाँ भी स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व, अस्मिताबोध, और सह-अस्तित्व का प्रश्न उठेगा, वहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कहीं न कहीं उसकी प्रासंगिकता अवश्य रहेगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 मिश्र, एच0 एन0 और शुक्ल, पी0 सी0, 'अस्तित्ववाद', पृ0 161

2 उद्धृत, हॉब्सबॉम, ई0 जे0, 'द एज ऑफ रिवोल्यूशन', 1992, पृ0 73

3 जैन, एच0 सी0 एव माथुर, के0 सी0, 'विश्व का इतिहास', (1500-1950), जैन पुस्तक मन्दिर, 1991, पृ0 295

4 वहीं, पृ0 258

5. कीर्केगार्ड, सोरेन, 'वर्क्स ऑफ लव', पृ0 58

6. रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 69

7 वही, पृ0 134

8 मैरे फिलिप, सार्त्र कृत, 'अस्तित्ववाद और मानववाद की भूमिका', पृ0 21

9. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', पृ0 667

10. वेपर, 'पॉलिटिकल थॉट', पृ0 139.

11 सार्त्र, ज्याँ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 36-37

12 वेपर, 'पॉलिटिकल थॉट', पृ0 139

13 शर्मा, प्रभुदत्त, 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारो का इतिहास', पृ0 563

14 सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', पृ0 678

15. उद्घृत, शर्मा, प्रभुदत्त, 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', पृ0 628

16. सेबाइन, जी0 एच0, 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास', पृ0 746.

17 उद्धृत, मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, 'सामाजिक विचारधारा', पृ0 180

18. वेबर, मैक्स, 'एसेज इन सोशियोलॉजी,' पृ0 181

19. सार्त्र, ज्याँ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 31.

20. खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू : वह पहला आदमी', पृ0 173

21. वही, पृ0 128.

22 उद्धृत, भद्र एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 510

23 वही, पृ0 511

24. कामू, अल्बर्ट, 'द रिबेल', पेंगुइन, मॉडर्न क्लासिक-1989, पृ0 181

25. भद्र एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 510.

26. एंगेल्स, फ्रेडरिक, 'एण्टी इ्यूहरिंग', पृ0 315.

27. मैरे फिलिप, सार्त्र कृत, 'अस्तित्ववाद और मानववाद की भूमिका', पृ0 22

28. मार्क्स और एगेल्स, 'द जर्मन आइडियोलॉजी', पृ0 14.

29. सार्त्र, ज्यॉ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 74

30. खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू वह पहला आदमी', पृ0 130

31 कामू, अल्बर्ट, 'द रिबेल', पृ0 191

32 खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू वह पहला आदमी', पृ0 132

33 कामू, अल्बर्ट, 'द रिबेल', पृ0 189.

34. खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू : वह पहला आदमी', पृ0 127

35 उद्धृत, खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू वह पहला आदमी', पृ0 131

36. वही, पृ0 133.

37 भद्र एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 384

38. खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू . वह पहला आदमी', पृ0 135

39 वही, पृ0 163

40 वही, पृ0 165

41. भद्र एम0 के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेशियलिज्म', पृ0 383.

42 बीयर्डस्ले, एस0 सी0, 'द यूरोपियन फिलॉस्फर्स फ्रॉम देकार्त टू नीत्शे', पृ0 856

43. वही, पृ0 813

44 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद · पक्ष और विपक्ष', पृ0 40

45. वही, पृ0 44-45.

46. शर्मा, प्रभुदत्त, 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', पृ0 488

47. रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 48

48. शर्मा, प्रभुदत्त, 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', पृ0 488

49. वेपर, 'पॉलिटिकल थॉट', पृ0 186.

50 शर्मा, प्रभुदत्त, 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', पृ0 64

51. रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 69

52. दास्तोवस्की, 'द ब्रदर्स कामजोव एवरीमैन', पृ0 331.

53 उद्धृत, रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 68

54. मिश्र, सभाजीत और सक्सेना, लक्ष्मी, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 212

55 संधू, ज्ञान सिंह, 'राजनीति सिद्धांत', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृ0 299

56. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, 'सामाजिक विचारधारा', पृ0 242

57 लेनिन, वी0 आई0, 'कलेक्टेड वर्क्स', खंड 19, पृ0 28

58 खेतान, प्रभा, 'अल्बेयर कामू . वह पहला आदमी', पृ0 165

59. वही, पृ0 173

60 वही, पृ0 114-115

61 सार्त्र, ज्यॉ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 69

62 वही, पृ0 71-73

63 वही, पृ0 36

64 रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद · पक्ष और विपक्ष', पृ0 125

65 वही, पृ0 127

66. वही, पृ0 120

67. वही, पृ0 122.

68 सार्त्र, ज्याँ पॉल, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 58-59

अध्याय : 5

वैज्ञानिक युग और अस्तित्ववाद

विज्ञान मानव की चरम वैचारिक उपलब्धि है, यह उसके ज्ञान की सत्यता का, उसकी वस्तुनिष्ठा का, उसके जीवन और जगत् की सत्ता का परम प्रमाण है। यदि मनुष्य की महत्ता उसके ज्ञान के कारण है, तो ज्ञान.की महत्ता विज्ञान होने मे निहित है। आज तो मनुष्य की वैचारिकता के महत्व को भी उसकी वैज्ञानिकता के द्वारा मापा जाता है। वस्तुत आज का युग ही विज्ञान का युग है। आधुनिक युग की आधुनिकता ही इस कारण है, क्योकि उसमें वैज्ञानिकता है। सभ्यता के विकास में विज्ञान ने धर्म से, परम्परा से, रूढ़ि से इंच दर इंच लड़ाई लड़कर विजय पाई है। पुरातन परंपराओं, धार्मिक अंधविश्वासो, अतिप्राकृतिक मान्यताओं को उसने प्रति पग पराजित किया है। यह विज्ञान की ही विजय यात्रा थी, जिसने परंपरागत मूल्यो को मूल्यहीन कर दिया, जिसने धर्म की नीव को हिला दिया, जिसने कल्पनाओं को मूर्त कर दिया, जिसने सुविधाओं को सुलभ्य कर दिया जिसने प्राकृतिक संपदा को मानवीय समृद्धि का संसाधन बना दिया। और भी यह विज्ञान ही था, जिसने मनुष्य की विध्वसात्मक वृत्ति को विनाशक अस्त्र उपलब्ध कराये, बिना यह जाने कि उसकी व्यक्तिगत वृत्ति विश्व के लिए कैसी विभिषिका बन सकती है। विज्ञान ने आज एक व्यक्ति को इतनी शक्ति देदी है कि वह निजी विकृत महत्वा महत्वाकांक्षाओ के लिए पूरे समाज को सकट ग्रस्त कर सकर सकता है, संपूर्ण विश्व को विनष्ट कर सकता है। विज्ञान ने आज सृष्टि की व्यवस्था में साधिकार प्रवेश कर लिया है, वह भौतिक तत्वों में ही नहीं जैविक तत्वो में भी मरिवर्तन ला सकता है, वह जगत् की संरचना ही नहीं जीवन की भी संरचना बदल सकता है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह शक्ति यदि आज हिट्लर, मुसोलिनी, पोल पॉट, गोरी, गजनबी जैसे तानाशाहों को प्राप्त होजाय, तो क्या हो सकता है? पृथ्वी पर जिस जैविक सृष्टि के पनपने में करोंड़ो वर्ष लगे आज उसे कोई क्षण भर में विनष्ट कर सकता है। यह स्थिति चिन्तनीय है। विज्ञान जन्य ऐसी आपद्स्थितियों में हमें अपने अस्तित्व को ढूंढना होगा। विज्ञान वस्तुत हमारे जीवन से इतने गहरे रूप में जुड़ा है कि हम इसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकते। हम इस प्रश्न से भी बच नहीं सकते कि विज्ञान कितना वरदान है कितना अभिशाप। यह एक ऐसा यक्ष प्रश्न है जिसकी अनदेखी करना अस्तित्व के संकट की अनदेखी करना है। अब यह प्रश्न केवल ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा या सत्तामीमांसा का प्रश्न नहीं है, अपितु

सीधे-सीधे हमारी सत्ता का हमारी अस्मिता का प्रश्न है। नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकर्त्री नादिन गार्डिमर ने कहा है– "आदिम काल मे अस्तित्व के सकट से जूझते मनुष्य ने जिस विज्ञान के द्वारा जीवन पाया था, आज उसी विज्ञान के कारण पुन उसका अस्तित्व संकट में आ गया है। अज्ञान संभवत मनुष्य के लिए उतना घातक कभी नहीं रहा, जितना घातक आज विज्ञान सिद्ध हो रहा है।" यद्यपि गार्डिमर का यह कथन अस्तित्ववादियों की ही भाँति एक दूसरी अति पर जा पहुँचा है, किन्तु यह हमारे विज्ञान के हमारे अस्तित्व से सह-संबंध और उसके पार्श्व प्रभावों (side effccts) का भान अवश्य करा देता है।

स्पष्टत· अस्तित्ववाद की सामाजिक पृष्ठभूमि के रूप में हम विज्ञान की भूमिका की उपेक्षा नहीं कर सकते। जिस प्रकार धर्म एक अभिवृत्ति के रूप मे समाज की सर्वाधिक व्यापक चेतना बन जाता है, उसी प्रकार विज्ञान भी ज्ञान और प्रौद्योगिकी के रूप में समाज की चेतना का सर्वाधिक व्यापक निर्धारक बन जाता है। अपने प्रयोगों से यह निरन्तर समाज की मान्यताओं और धार्मिक रूढियो को तोड़ता जाता है। अपने प्रौद्योगिकीय उपकरणों से अर्थव्यवस्था तें तीव्र परिवर्तन लाकर समाज की समस्त अधःसंरचना को बदल डालता है, अपने क्षिप्रगामी साधनो से सचार और परिवहन मे गतिशीलता लाकर मानव की सामाजिकता को विस्तृत करता है और अतत· एक वैज्ञानिक मनोवृत्ति के रूप में हमारी संवेदनशीलता, संज्ञानात्मकता और क्रियाशीलता को आत्यंतिक रूप से प्रभावित करता है।

अतः यहाँ हमें अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि के रूप में विज्ञान की भूमिका को विवेचित करना होगा, उसके सारे आयामों का समीक्षण-परीक्षण करना होगा, उसके उन प्रभावों और दुष्प्रभावों का मूल्यांकन करना होगा, जिन्होंने एक सीमा तक अस्तित्ववादियों को विज्ञान विरोधी होने को बाध्य किया। इसी सातत्य में हमें दर्शन जगत् में वैज्ञानिक चिन्तन की प्रवृत्ति और उसकी प्रतिक्रिया का भी अवलोकन करना होगा। सर्वप्रथम तो स्वरूप क्या है इसकी पद्धति क्या है क्योंकि विज्ञान का संबंध वस्तुतः उसके अध्ययन विषय से नहीं, अपितु उसकी पद्धति से है।[1]

वैज्ञानिक चिन्तन के पुरोधा कार्ल पियर्सन ने भी कहा है-"तथ्य स्वयं विज्ञान के निर्माता नहीं होते,अपितु इन तथ्यों के अध्ययन में जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है,वह पद्धति ही विज्ञान की निर्मात्री है।[2]

जब भी दर्शन जगत् में एक वैज्ञानिक पद्धति की बात उठेगी हमारा ध्यान आवश्यक रूप से आधुनिक दर्शन के दो प्रणेताओं की ओर जाता है- फ्रासिस बेकन तथा रेने देकार्त। फ्रांसिस बेकन ने यद्यपि कोई महत्वपूर्ण दार्शनिक योगदान तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने दर्शन के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति का सूत्रपात अवश्य कर दिया। उन्होंने जो मार्ग दिखाया, वह न केवल मध्ययुगीन बन्धनो मे जकड़े विचारो को मुक्तिपथ दिखा सकता था अपितु कोरे बुद्धिवादियों को भी दिशा दे सकता था। देकार्त ने यदि बुद्धिवादी चिन्तन पद्धति के लिए मार्ग प्रशस्त किया,तो बेकन ने अनुभववादी पद्धति को वैज्ञानिक दिशा दी।

बेकन आधुनिक काल के पहले दार्शनिक थे, जिन्होंने मनुष्य को उसके संस्कारजन्य पूर्वाग्रहों के प्रति सचेत किया, उसकी कोरी तर्क पद्धति की निरर्थकता को सिद्ध किया,प्राक्कल्पनाओं की जगह प्रयोगों को, धर्म की जगह विज्ञान को तथा निगमन की जगह आगमन को प्रतिस्थापित किया। उन्होंने दर्शन जगत् में कोई मौलिकता तो नहीं लायी, किन्तु उसे जो वैज्ञानिकता दी, इससे उनका स्थान युग प्रवर्तको मे आ गया। मैकाले ने बेकन को आधुनिक दर्शन में उच्च स्थान दिया है, इसलिए नहीं कि उन्होंने आगमन विधि की नींव डाली, अपितु इसलिए कि उन्होंने विज्ञान की ओर लोगों का ध्यान मोड़ा है।[3]

बेकन ने मानव प्रवृत्ति के चार दुराग्रहो का उल्लेख किया है। ये दुराग्रह हैं-

प्रथम, जातीय पूर्वाग्रह (Idola tribus)– प्रकृति को उसके वास्तविक या तथ्यात्मक स्वरूप में देखने की बजाय उसमें मानवीय लक्ष्यों और प्रयोजनों को आरोपित कर देना।

द्वितीय, वैयक्तिक पूर्वाग्रह (Idola spacus)–व्यक्तिगत प्रवृत्तियों और संस्कारों के कारण यथार्थ ज्ञान को विकृत कर देना। यह ऐसा ही है जैसे कि कोई अपनी संकीर्ण कन्दरा को ही समस्त विश्व समझ ले।

तृतीय, भाषीय पूर्वाग्रह (Idola Fori)–भाषीय विसंगतियों या शाब्दिक अनेकार्थताओं के कारण होने वाली भ्रान्तिपरकता या विवादपरकता।

चतुर्थ, शास्त्रीय पूर्वाग्रह (Idola Theatri) शात्रीय वचनों आगम प्रमाणों के ही आधार पर सत्यासत्य का निर्णय लेना और आगमनात्मक निरीक्षण की उपेक्षा करना।

बेकन दर्शन को इन चार दुराग्रहों के प्रति सचेत करना चाहते हैं। यहाँ

हम पूर्ववर्ती दो पूर्वाग्रहों में हुसर्ल की फेनोमेनोलॉजी के असंबंधन (एपोक) तथा अपचयन की पृष्ठभूमि प्राप्त कर सकते हैं। भाषीय पूर्वाग्रह मे हम विट्गींस्टीन एव भाषा-विश्लेषण दर्शन की झलक देख सकते है। चतुर्थ शास्त्रीय पूर्वाग्रह में हम मध्ययुगीन विचारधारा के प्रति विद्रोहभाव पा सकते हैं। बेकन दर्शन और धर्म में स्पष्ट भेद देखना चाहते हैं। उनके अनुसार दार्शनिक का प्रथम कर्तव्य ही है-"अधविश्वास से मुक्ति"[4] पुन वेकन ने आगमन की जिन ग्यारह विधियों का वर्णन किया है,वे ही आगे चलकर मिल की आगमनात्मक वैज्ञानिक विधियों का आधार बनी। उनकी तीन विधियॉ-भावात्मक तालिका (table poasentıce), अभावात्मक तालिका (tabla Abseгtıae) तथा अनुक्रम तालिका (tabula Graduum) तो क्रमश· मिल के अन्वय विधि, व्यतिरेक विधि तथा सहचार विधि के समरूप ही हैं।

यदि हम देकार्त को बुद्धिवाद का आधुनिक जनक स्वीकार करें,तो बेकन को भी आदि-अनुभववादी कहा जा सकता है क्योकि ज्ञान की स्थापना में उन्होंने अनुभव पर जोर दिया है।[5] बेकन में हम विज्ञानवाद (scıentısm) की भी छाया पा सकते हैं, जिसके अनुसार जो भी विषय विज्ञान-विधि से नहीं जाना जा सकता, वह मानव ज्ञान के अन्दर नहीं गिना जा सकता है।[6]

किन्तु बेकन ने स्वयं कभी इन विधियों का प्रयोग नहीं किया। वे पूर्वाग्रह मुक्त वैज्ञानिक विधि के प्रवर्तक तो हैं, प्रयोक्ता नहीं। वे केवल उद्घोषक (Trumpeter) ही बने रहे, संचालक नहीं बन पाये। संभवत इसी कारण विण्डल बैण्ड ने कहा है-"अपनी रूपविषयकता के कारण बेकनीय विधि वैज्ञानिक न होकर मध्ययुगीन परम्परा से लिपटी रह गयी।[7] किन्तु बेकन का इतना तो योगदान था ही कि उन्होंने मध्ययुग के अन्त की दिशा दिखला दी।

एक रोचक तथ्य यह है कि 16वीं सदी में फ्रांसिस बेकन ने जो युग धारा प्रवर्तित की,लगभग वैसी ही विचार धारा 13वीं सदी में रोजर बेकन ने प्रवर्तित की थी। इन दोनों में नाम साम्य ही नहीं विचारसाम्य भी स्पष्टत· दिखता है। रोजर बेकन ने भी विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में अलगाव की बात् की तथा विज्ञान को प्रेक्षण (observatıon) तथा प्रयोग (Experiment) पर आधृत बताया। यही कारण है कि रोजर बेकन को प्रयोगात्मक विज्ञानों का आदि पिता कहा जाता है।[8]

रोजर की विचारधारा को तत्कालीन परवर्ती विलियम ऑव ओकम ने सवर्द्धित किया। रोजर बेकन की भावात्मक मुखरता ओकम में अभावात्मक प्रखरता वन गयी। उनकी प्रत्यक्षवादी तथा लाघववादी विचारधारा को दर्शन मे'ओकम का उस्तरा' (occum's Razor) की संज्ञा दी गयी। आधुनिक समकालीन दर्शन मे वैज्ञानिक विचार धारा के प्रमुख चिन्तक बर्ट्रेण्ड रसेल इनसे काफी प्रभावित थे।

किन्तु आधुनिक दर्शन के प्रणेता के रूप मे मान्य देकार्त की पद्धति इस अर्थ मे सर्वाधिक मौलिक थी कि वह विश्वास से नहीं, अपितु सन्देह से चिन्तन का आरम्भ करती थी। वह आगम ही नहीं आगमन पर भी सन्देह कर के निष्कर्ष निकालती थी। उनके लिए इन्द्रिय ज्ञान ही नहीं अपितु वैज्ञानिक ज्ञान भी संशयपूर्ण था। सबसे बडी बात थी कि संशय उनका साध्य नहीं अपितु साधन था। देकार्त वे अपनी पद्धति के चार सोपान निर्धारित किये-

प्रथम-जबतक किसी बात को हम स्पष्ट न जान लें, तबतक हमे उसे सत्य नहीं स्वीकार करना चाहिए।

द्वितीय-हमें समस्या के सम्यक् विश्लेषण हेतु सर्वप्रथम उसे सरलतम हिस्सो में विभाजित कर लेना चाहिए।

तृतीय-हमारा विश्लेषण तो जटिल से सरल की ओर होगा,किन्तु विवेचन क्रमशः सरल से जटिल की ओर अग्रसर होना चाहिए।

चतुर्थ-हमारी परिगणना इतनी पूर्ण होनी चाहिए कि कोई भी हिस्सा छूट न पाये। अर्थात् हमारा निरीक्षण सर्वायामी तथा सर्वसमावेशी होना चाहिए।

देकार्त ने जिस ढ़ंग से इन नियमो को अभिव्यक्ति किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि वे नियम इतने अधिक व्यापक हैं कि वे किसी भी समस्या के समाधान के लिए नियोजित विचार प्रक्रिया के संबंध में लागू हो सकते हैं।[9] देकार्त की विधि संदेहात्मक होने के साथ-साथ नियमात्मक,विश्लेषणात्मक,तथा अन्तर्निरीक्षणात्मक भी थी। इस कारण उनमें एक वैज्ञानिक पद्धति के पर्याप्त गुण विद्यमान थे।

बर्ट्रेण्ड रसेल ने The scientific outlook में वैज्ञानिक पद्धति के दो आयाम बतलाये हैं-निरीक्षण तथा सामान्यीकरण। वैज्ञानिक पद्धति सर्वप्रथम तथ्यों का व्यापक निरीक्षण करती है, फिर दूसरे स्तर पर जाकर उनमें सामान्य नियमों की खोज करती

है।[10] अर्थात् उसमे आगमन से निगमन की ओर गति होती है।

वैज्ञानिक पद्धति के प्रणयन और प्रवर्द्धन मे ऑगस्ट काम्टे का योगदान अत्यन्त प्रमुख है। उन्हें प्रत्यक्षवाद का जनक भी माना जाता है। काम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवाद का अर्थ 'वैज्ञानिक' है। उनके अनुसार समग्र बह्माण्ड अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा व्यवस्थित तथा निर्देशित होता है और यदि इन नियमो को हमें समझना है, तो धार्मिक या तात्विक आधारों पर नहीं,अपितु विज्ञान की विधियो द्वारा ही समझा जा सकता है। वैज्ञानिक विधियों में कल्पना का कोई स्थान नहीं। ये तो निरीक्षण,परीक्षण,प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्य प्रणाली होती है।[11] चेम्ब्लिस ने प्रत्यक्षवाद की वैज्ञानिकता का आधार उसकी वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमता को बतलाया है। उनके अनुसार-"प्रत्यक्षवाद (विज्ञान) विचार की वह पद्धति है,जो कि सार्वभौमिक रूप से सभी को मान्य हो।"[12] कार्ल पियर्सन ने वैज्ञानिक पद्धति के तीन आधारभूत तथ्य बतलाये हैं[13]-1.तथ्यों का यथार्थ व सतर्क वर्गीकरण तथा उसके सहसबंधों एवं अनुक्रमो का निरीक्षण 2 सृजनात्मक कल्पना की सहायता से वैज्ञानिक नियमो की खोज 3 आत्मालोचन तथा समस्त वैज्ञानिको के लिए समान रुप से प्रामाकणकता की अंतिम कसौटी मार्टिनडाल तथा मोनाकेसी ने वैज्ञानिक पद्धति की 5 विशेषताओं का वर्णन किया है[14]-1.निरीक्षण 2.परीक्षण 3.प्राप्त अवधारणाओं के परीक्षण हेतु प्रयोगों अथवा उपयुक्त परिस्थितियों का विकास 4.निरीक्षण व माप में अधिकाधिक सुनिश्चितता हेतु उपकरणों का विकास 5.निजी मूल्यांकन का दृढ़तापूर्वक बहिष्कार।

यहाँ हम इन विचारों के आलोक में एक वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताओं को निम्न रूप में विवेचित कर सकते है और इन विवेचनों के आधार पर हम देखेगे कि अस्तित्ववादियों को यह पद्धति क्यों विसगतिपूर्ण प्रतीत हुई। मोटे तौर पर ये विशेषताएँ 10 सूत्रों में निबद्ध की जा सकती हैं-

1.अन्वेषणात्मक- विज्ञान सृष्टि के समस्त रहस्यो के सतत् अन्वेषण का मार्ग है। यह मानवीय जिज्ञासा की सीमाहीन और आशापूर्ण खोज है। कोई वैज्ञानिक किसी विषय की खोज में पूर्णतः आशावादी बना रहता है। वह किसी रहस्य की खोज में असफल भले रहे,किन्तु वह अज्ञात को अज्ञेय नहीं मानता। उसके शब्द कोश में कहीं भी 'असंभव' शब्द नहीं होता।

2. विश्लेषणात्मक– विज्ञान किसी वस्तु के मूल कारण मूल तत्व या मूल इकाई की खोज करता है अथवा यह किसी तथ्य मे अन्तर्निहित मूल नियम को निगमित करने का प्रयास करता है। इस कारण स्वभावत इसकी पद्धति समष्टि से व्यष्टि की ओर हो जाती है। यह एक विश्लेषणात्मक पद्धति होती है, जो विश्लेषण के द्वारा मूल तक पहुँचने का प्रयास करती है।

3. प्रयोगसिद्ध– विज्ञान प्रयोग और अनुभव पर प्रतिष्ठित ज्ञान है। कोई पद्धति तभी वैज्ञानिक होती है,जब वह प्रायोगिक और आनुभविक होती है। एक वैज्ञानिक पद्धति किसी प्राक्कल्पना को तब तक विज्ञान नहीं मान सकती जब तक वह उसे प्रयोग और अनुभव की कसौटी पर सिद्ध न कर ले। इस प्रयोगसिद्धता के कारण समस्त वैज्ञानिक ज्ञान अनुभव परीक्षणीय तथा सत्यापनीय होते हैं। तार्किक भाववाद ने इसी विशेषता पर सर्वाधिक बल दिया है।

4. वस्तुनिष्ठ – विज्ञान व्यक्तिनिष्ठ को वस्तुनिष्ठ बनाने की विधा है। यदि कोई तथ्य किसी एक व्यक्ति के लिए सत्य है,तो उन्हीं परिस्थितियों एवं संदर्भों मे वह सभी व्यक्तियों के लिए सत्य होगा। यह ज्ञान वैज्ञानिक की प्रयोगशाला से सामान्य अनुभव की व्यवहारशाला तक पूर्णतः वस्तुनिष्ठ बना रहता है।

5. नियमब.. – इस वस्तुनिष्ठता के कारण प्रत्येक वैज्ञानिक ज्ञान मे एक प्रकार की तार्किकता,नियमबद्धता,निश्चितता और सार्वभौमता विद्यमान होती है। देकार्त ने भी अपनी पद्धति निर्धारित करने से पूर्व उन्हें चार नियमों में सूत्रबद्ध किया था। इसी विशेषता पर बल देते हुए थाऊलेस ने कहा है–"वैज्ञानिक पद्धति सामान्य नियमो की खोज का लक्ष्य प्राप्त करने प्रविधियों का एक तंत्र है।"[15]

6. अंधविश्वास मुक्त – वैज्ञानिक पद्धति पूर्वमान्यता और अंधविश्वास से मुक्त पद्धति है। वैज्ञानिक देकार्त की भाँति प्रत्येक तथ्य को संशयात्मक दृष्टि से देखता है और ओकम की भाँति सभी अनावश्यक पूर्वमान्यताओं को हटाकर विचार करता है। यद्यपि यह सत्य है कि विज्ञान भी किन्हीं पूर्व मान्यताओं पर आधारित होता है,किन्तु उन्हे वह केतल एक शर्त के रूप में स्वीकार करता है, न कि आधारभूत ध्रुव सत्य के रूप में। वोल्फ ने कहा भी है–समस्त ठोस ज्ञान की प्रथम आवश्यकता नग्न तथ्यों को प्राप्त करने और बाह्य स्वरूपमात्र अथवा प्रचलित विचार अथवा स्वयं की इच्छाओं से प्रभावित न

होने का दृढ संकल्प व योग्यता है।[16]

7. दुराग्रह मुक्त – इस संशय परकता के कारण ही विज्ञान किसी भ्रान्त हठधर्मिता से मुक्त होता है। वह सदैव अपनी मान्यताओं और सिद्धान्तो मे संशोधन के लिए तैयार रहता है,यदि वे मान्यताएँ और सिद्धान्त परवर्ती प्रयोगों पर खरे न उतरे। उसे मनुष्य की नितनवोन्मेषी प्रतिभा तथा सृष्टि की दुरूहता का स्पष्ट भान होता है,अतएव वह किसी सत्य को अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ सत्य ही मानता है,अन्तिम सत्य नहीं। निरन्तर संशोधन और संवर्द्धन की प्रक्रिया से गुजर कर ही विज्ञान ने ये ऊँचाइयाँ तय की हैं। इस संदर्भ में नेहरू ने कहा है-"वैज्ञानिक ढंग में साहसपूर्ण खोज है, फिर भी साथ ही आलोचना और छानबीन है। उसमें सत्य की और नये ज्ञान की तलाश है,लेकिन बिना जाँच के,बिना प्रयोग के किसी चीज के मान लेने से इनकार है,उसमें नये प्रमाणो के मिलने पर पिछले नतीजो को बदल सकने की सामर्थ्य हैं।[17]

8. संप्रेषणीय – विज्ञान की सुस्पष्ट धारणा है कि जो कुछ भी कहा जा सकता है,स्पष्ट कहा जा सकता है। उसके लिए जगत् अनिर्वचनीय कदापि नहीं है वह भले ही अज्ञात हो।वह जगत् की रहस्यात्मकता को समस्यात्मक रूप में देखता है और उसे बुद्धि के धरातल पर सर्वथा समाधेय मानता है। इस कारण विज्ञान की भाषा में जटिलता होने के बावजूद सदैव सुनिश्चितता,स्पष्टता तथा संप्रेषणीयता बनी रहती है।

9. बुद्ध्यनुभव समानुपाती – विज्ञान के बौद्धिक होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह स्पिनोजा ह्रीगल आदि की भाँति कोरा .बुद्धिवाद बन जाय। कांट के शब्दों में विज्ञान बुद्धि और अनुभव का समन्वित रूप है और संभवतः वह हमारे ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ समानुपातिक समन्वय है। यहाँ दोनों को समव्याप्ति के अनुपात में ही स्वीकार किया जाता है अर्थात् बौद्धिक विचारणा को अनुभवपरक तथा अनुभव को बुद्धिपरक होना अपरिहार्य है।

10. प्रमाणों से निष्कर्ष की ओर – कोई वैज्ञानिक खोज सामान्यतया प्राक्कल्पना से प्रारंभ होती है,फिर प्रमाणों के आधार पर निष्कर्ष स्थापित किये जाते हैं। प्रमाण पूर्ववर्त्ती होते है और निष्कर्ष अनुवर्ती। किन्तु अनेक बार इस प्रक्रिया को उलट कर भी किसी अवधारणा को वैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। लोग प्रायः ही निष्कर्ष पहले निर्धारित कर लेते है और उसके पक्ष में प्रमाण जुटाने लगते हैं।

सांख्यिकी के भ्रामक खेल से वे इस तरह भी अपने निष्कर्ष को वैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु वस्तुत वैज्ञानिक पद्धति प्रमाणो से निष्कर्ष निकालती है,न कि निष्कर्ष के लिए प्रमाण जुटाती है।

वैज्ञानिक पद्धति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए चार्ल्स सांडर्स पियर्स ने बेहतर ढग से कहा है–"जहाँ शोधकर्ता दूसरे लोगो के काम को आदि से अन्त तक दिशा भ्रष्ट न बताकर एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करते हैं,और विरोध मुक्त परिणामों की सख्या बढ़ाते हैं जहां प्रत्येक निरीक्षण बार-बार दुहराया जाता है और एकाकी निरीक्षणों को नगण्य समझा जाता है, जहाँ प्रत्येक ध्यान देने योग्य परिकल्पना की कठोर किन्तु पक्ष पात रहित जाँच की जाती है और उस पर तभी विश्वास किया जाता है जब उससे निर्गत पूर्वकथन अनुभव द्वारा भलीभाँति प्रमाणित हो जाते हैं और तब भी केवल अस्थायी तौर पर ही स्वीकार्य होते हैं।"[18]

वस्तुतः आधुनिक युग को चाहे अनचाहे एक वैज्ञानिक पद्धति की ओर बढना ही पड़ा। दार्शनिक को अपनी तत्वमीमांसा को विज्ञान सँम्मत रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह अलग बात है कि विज्ञान के परवर्ती विकास ने अधिकांश पुरातन तत्वमीमांसाओं को निरस्त कर दिया और विज्ञान के अनुगामी तार्किक भाववादियों को अन्ततः सारी तत्वमीमांसा को निरर्थक कहने के लिए बाध्य होना पड़ा।

ध्यातव्य है कि विज्ञान और दर्शन में कभी आत्यंतिक अलगाव नहीं रहा। सामान्यत उन्नीसवीं सदी से पूर्व विज्ञान को प्राकृतिक दर्शन ही कहा जाता था। किन्तु उन्नीसवीं सदी में होने वाली तीव्र वैज्ञानिक क्रान्तियों ने विज्ञान को दर्शन से एक सीमा तक स्वतंत्र कर दिया। वास्तव में, दर्शन सदैव से धर्म और विज्ञान के दो विरूद्ध पहलुओं के बीच डाँवोडोल होता रहा। मध्यकाल में दर्शन धर्म के अधीन हुआ,तो आधुनिक काल में उससे क्रमशः मुक्त होकर विज्ञान की ओर झुकने लगा। बीसवीं सदी तक आते-आते दर्शन काफी सीमा तक विज्ञान के अधीन हो गया, ठीक वैसे ही जैसे पहले विज्ञान दर्शन के अधीन था।[19]

जर्मनी बुद्धिवाद और अस्तित्ववाद दोनों का केन्द्र रहा है। वहाँ राज्य संचालित विश्वविद्यालयों में दर्शन को एक राजकीय स्तर प्राप्त रहा है। वहाँ हीगल के प्रभाव के जरिये प्राकृतिक विज्ञान के विरूद्ध आध्यात्मिक जीवन की वकालत और आमूल परिवर्तन

वादियो के विरूद्ध राज्य की सुरक्षा भी की जाती रही है। वहाँ एक प्रकार से दर्शन मे विज्ञान के प्रवेश पर ही प्रतिवंध की स्थिति थी। किन्तु 1855 में वहाँ एल0बूकनर की प्रकाशित पुस्तक Force and Matter ने शीघ्र ही भौतिकवादियों की बाइविल के नाम से ख्याति प्राप्त कर ली। बूकनर के अनुसार-प्राकृतिक विज्ञान के लिए दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता नहीं है,क्योंकि अपने ही साधनो द्वारा यह समष्टि की एक सामान्य तस्वीर हमारे समक्ष प्रस्तुत कर सकता है और दार्शनिक चिन्तन के आधार की परवाह किये बिना ही अनुभव जन्य स्थितियों को अपने निर्देशन कर ठोस आधार बना सकता है।[20] बूकनर की घोषणा थी कि दर्शन को स्वभावतः सामान्य रूप से बोधगम्य होना चाहिए अन्यथा उसकी कीमत एक कागज में लिखे शब्दो से ज्यादा कुछ भी नहीं।

पुन. जे टिण्डेल,टी एच हक्सले तथा डब्लू के विलफोर्ड ने दर्शन में वैज्ञानिक चिन्तन को प्रचुर गति दी तथा उसे बुद्धिजीवी वर्ग से आगे ले जाकर श्रमजीवी वर्ग में लोकप्रिय बनाया। इनकी भाषा में शब्द के चमत्कार से कहीं बेहतर इस बात का विचार था कि वह ऐसे पाठक तक जा रही है जो दार्शनिक परंपरा से अपरिचित है। विज्ञान तेजी से अपनी जड़े कायम कर रहा था। मानों उसे इंजन के आगे धकेला जा रहा हो,जिसके कारण विज्ञान की प्रगति के लाभ लोगों तक निरन्तर पहुँचते गये। इस प्रकार वैज्ञानिकों के पास नये और चमत्कारी तथ्य मौजूद होते जा रहे थे, जिनके कारण ईश्वर मुक्ति और अमरता में विश्वास करना आवश्यक नहीं रह गया,कम से कम उनके आमतौर पर स्वीकृत अर्थों में।[21]

टी. एच. हक्सले ने वैज्ञानिकता को यथा संभव जीवन और जगत् पर लागू करने का प्रयास किया। मानव जीवन को धर्म से हटाकर विज्ञान के जगत् मे लाने वाले क्रान्तिकारी वैज्ञानिक डार्विन ने भी विकासवाद को अपनी पहली पुस्तक "origin of species" (1859) में मानव पर लागू नहीं किया किन्तु हक्सले ने "Man's Place in Nature" (1863) में इस सिद्धान्त को मानव पर लागू करने में चूक नहीं की। यह अलग बात है कि डार्विन ने भी इसे 1871 में अपनी पुस्तक 'The Descent of Man" में शामिल कर दिया।

टी. एच. हक्सले ने सारे प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिकी,रसायन,जीव) से उदाहरण लेकर प्रकृतिवादी अवधारणा को पुष्ट किया। भौतिकी के "ऊर्जा संरक्षण सिद्धान्त"को एच

हेमहोज ने जैव और अजैव दोनों क्षेत्रों में लागू करके दिखाया। रसायन विज्ञान मे यूरिया के कृत्रिम संश्लेषण (1828) ने इस मान्यता का खण्डन कर ही दिया था कि प्रयोग शाला की रसायन विद्या तथा जीवन के रसायन की बीच कभी न पाटी जा सकने वाली खाई है। जगदीश चन्द्र बोस के शोधो ने भौतिकी,शरीर क्रिया विज्ञान और मनोविज्ञान में अन्तर्संबंध स्थापित करते हुए न केवल जीवजगत् और वनस्पति जगत् में ऐक्य स्थापित किया अपितु चेतन और अचेतन की सीमारेखा को भी ध्वस्त कर दिया।[22] ई. डुबाइस रेमण्ड ने भी अपनी कृति "Animal Electricity" (1848) मे जैव विद्युत का संबंध भौतिक विद्युत से जोड़कर जीवन की रहस्यात्मकता को चोट पहुँचायी। शरीर-क्रिया विज्ञान ने मष्तिष्क कटे मेढ़क में सार्थक प्रतिवर्ती क्रिया ने चेतन क्रियाओ की आध्यात्मिकता को यांत्रिकता का आधार दे दिया। ह्क्सले ने इस पर कहा कि आधे मस्तिष्क से रहित इस मेढ़क ने अध्यात्म को कुछ इस तरह ध्वस्त किया, जिसे अपने पूरे मस्तिष्क से भी चर्च के पादरी दुबारा खड़ा नहीं कर सके।

टी. एच. हक्सले यद्यपि पूर्णतया प्रकृतिवाद और अनीश्वरवाद की ओर झुके हुए थे, किन्तु वे स्वयं को अज्ञेयवादी ही कहा करते थे। वस्तुतः Agnoticism शब्द उन्हीं की देन है। जूलियन हक्सले भी टी एच हक्सले से न केवल नाम का साम्य रखते थे, अपितु वैज्ञानिक विचारसाम्य भी रखते थे। जूलियन हक्सले के समक्ष वैज्ञानिकता और मानवता का द्वन्द्व है। वे विज्ञान को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ देखना चाहते हैं, उसमे मानवीय प्रयोजन का व्यामिश्र नही करना चाहते। उनके अनुसार "उद्‌देश्य एक मनोवैज्ञानिक शब्द है और उद्‌देश्य को किसी प्रक्रिया पर इस लिए आरोपित करना कि इसके परिणाम किसी वास्तविक उद्‌देश्यपूर्ण प्रक्रिया के परिणामों से कुछ मेल खाते हैं,न्यायोचित नही है, और यह केवल प्रकृति के विधान पर अपने विचारों का प्रक्षेपण करना है"[23] प्रकृति उनके लिए यान्त्रिक है, किन्तु वे स्वीकार करते है कि प्रकृति की प्रकृति से हम अपने उद्‌देश्य या दिशा का संकेत प्राप्त कर सकते हैं। उनके शब्दों में- "अजैव स्वरूप की विशाल शक्तियाँ हैं, जो मनुष्य से तटस्थ और उसकी शत्रु हैं। फिर भी उन्होंने विकासशील जीवन को जन्म दिया, जिसका विकास हालाँकि अदृश्य और संयोग है, फिर भी हमारी अपनी चेतन इच्छाओं और आदर्शों की तरह उसी सामान्य दिशा की ओर अभिमुख हैं और इस प्रकार इससे हमारी दिशात्मक क्रियाओं के लिए हमें बाह्य अनुज्ञप्ति प्राप्त होती है। [24]

इस वैज्ञानिकता को मानवता से जोड़ने में अन्तत. वे मानववादी बन जाते हैं और कहते हैं-"मैं निश्चय ही यह देखना नहीं चाहता हूँ कि मनुष्य को देवता के स्थान पर लाया जाये, जैसा कि पहले अनेक प्राणियों के साथ हुआ और अभी भी ऐसा हो रहा है।[25]

दर्शनशात्र में प्राकृतिक विज्ञानियो की एक सुदीर्घ श्रृंखला ही शुरू हो गयी थी। मैक अर्नेस्ट हैकल, किरचौफ,पीर्यान,हर्ट्ज आदि विचारकों ने इसमे प्रमुख योगदान दिया। किन्तु शीघ्र ही मानव जीवन के अन्य क्षेत्रों में विज्ञान का तेजी से प्रवेश होने लगा। फायरबाख ने भौतिकवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दिया और इसकी पृष्ठभूमि मे मार्क्स ने हीगेल के ही उपकरणों को लेकर वैज्ञानिक समाजवाद का प्रवर्तन किया। फ्रायड ने मन की रहस्यात्मकता को एक विज्ञान का रूप दे डाला जिसे कालान्तर में एडलर, जुंग एरिक फ्राम आदि ने संवर्द्धित किया। स्पेंसर जैसे दार्शनिको ने डार्विन के विकासवाद को समस्त दर्शन,तत्वमीमांसा,मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र का आधार बनाया।[26] स्पष्टत. वैज्ञानिक क्रांति भौतिक जगत् से नैतिक जगत् तक और विज्ञान से धर्म और दर्शन तक पहुॅच चुकी थी। अन्ततः अर्नेस्ट हैकल ने कहा कि तथ्यों और अनुमानों के बीच अथवा विज्ञान और दर्शन के बीच कोई विशद और स्पष्ट सीमारेखा खींची नहीं जा सकती। उनके अनुसार सच्चा विज्ञान एक प्रकार का प्राकृतिक दर्शन है।[27]

दर्शन शास्त्र में अब विज्ञान के प्रभाव में तार्किक भाववाद के रूप में एक प्रखर आंदोलन शुरू हुआ और दर्शन को सीमित कर उसे द्वितीयक स्तर पर रख दिया गया। तत्वमीमांसा को विज्ञान की विषय वस्तु मान लिया गया और दर्शन केवल वैज्ञानिक कथनों के तार्किक विवेचन तक सीमित होकर रह गया और आगे चलकर भाषा-विश्लेषण दर्शन की ओर अग्रसर हो गया। दर्शन का तो सीमांकन हो गया किन्तु विज्ञान का सीमांकन नहीं हुआ। आधुनिक आइंस्टीन की संज्ञा से विभूषित स्टीफेन हाकिंग ने दर्शन की इस प्रवृत्ति को उसकी महान और व्यापक परम्परा का पतन कहा है। उनके शब्दों में-"अठारहवीं शवाब्दी में विज्ञान सहित समस्त मानव ज्ञान को दार्शनिक गण अपना चिन्तन क्षेत्र समझते थे तथा ऐसे प्रश्नों की परिचर्चा करते थे जैसे कि 'क्या बह्माण्ड की उत्पत्ति हुई थी?' बहर हाल उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में केवल कुछ बहुत ही थोड़े विशेषज्ञों को छोड़कर सभी दार्शनिकों व अन्य लोगो के लिए विज्ञान अत्यधिक तकनीकी तथा गणितीय हो गया। दार्शनिकों ने अपने कार्यक्षेत्र को इतना कम कर लिया

कि इस शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध दर्शनिक बिट्गेन्सटीन ने कहा था दर्शन शास्त्र के लिए एकमात्र शेष कार्य भाषा का विश्लेषण है। अरस्तू और कांट से प्रारम्भ तत्वमीमांसा की परंपरा का यह कैसा पतन ?''[28]

विज्ञान की प्रगति निरन्तर द्रुततर होती गयी। नयी खोजें, नये अन्वेषण, नये उपकरण–इन सभी नें मिलकर विकासवाद से आगे बढ़कर प्रगतिवाद की स्थापना कर दी। विकासवाद मे प्रकृति पुरूष (मानव) की अग्रगामी थी किन्तु प्रगतिवाद में पुरूष प्रकृति का अग्रगामी बन गया। पहले विकास एक प्राकृतिक प्रक्रिया से शने शने. होने वाला परिवर्तन था, अब विकास एक वैज्ञानिक प्रक्रिया से होने वाला क्षिप्र परिवर्तन था। विज्ञान की जितनी प्रगति मानव ने की उतनी ही प्रगति मानव ने विज्ञान की की। विकास नहीं अपितु अब प्रगति ही प्रकृति का सामान्य नियम प्रतीत होने लगी। पॉल रुबिचेक के शब्दों में–''उस शताब्दी में, प्राकृतिक विज्ञानों की आकस्मिक एवं द्रुत प्रगति से यूरोप उन्मत्त होता गया, अत. शायद आश्चर्य की बात हो कि प्रगति सामान्य नियम के रूप में प्रतीत होती।....''आधुनिक रूप में प्रगति के प्रति आस्था रखना उन्नीसवीं शताब्दी का मुख्य पंथ था। यह केवल इस प्रकार की आस्था नहीं थी कि अगर हम अपनी देनों का उचित प्रयोग करेंगे और उचित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करेगे, तभी प्रगति होगी प्रत्युत एक दृढ धारणा बन गयी थी कि प्रगति स्वचल और अनिवार्य रूप में होती है।'' [29]

यह वैज्ञानिक प्रवृत्ति और प्रगति परवर्ती काल में सर्वसमावेशी हो गयी। वैज्ञानिक प्रगति को मानवीय प्रगति का पर्यायवाची मान लिया गया। वैज्ञानिक प्रवृत्ति ही मानवीय प्रवृत्तियों का चरम रूप मान ली गयी। विज्ञान ही ज्ञान का एक मात्र साधन और साध्य मान लिया गया। विज्ञान के इस उद्घोष को हम सर्वाधिक प्रखर रूप में कार्ल पियर्सन के बिचारों में देख सकते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Grammar of science में वे कहते हैं–''सत्य तक पहुँचने के लिए कोई संक्षिप्त पथ नहीं है। विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वैज्ञानिक पद्धति के ज्ञान से ही गुजरना पड़ेगा।[30] पियर्सन विज्ञान की एकता और एकमात्रता पर प्रचुर बल देते हैं। उनके अनुसार–''मानसिक और भौतिक जगत् का सारा क्षेत्र व समस्त ब्रह्माण्ड ही उसका क्षेत्र है। कुछ धर्म शास्त्रियो तथा दार्शनिकों द्वारा विज्ञान के विषय क्षेत्र के परिसीमन को नितान्त अनुचित और अयुक्त

मानते हुए वे कहते हैं कि ऐसा कुछ भी नहीं है, जो वैज्ञानिक अनुसंधन के क्षेत्र से बाहर रहता हो। पियर्सन बिना किसी समझौते के इस बात को नकारते हैं कि धर्म अथवा तत्व दर्शन हमें उसके वैज्ञानिक ज्ञान से परे का कुछ देते हैं। वे कहते हैं कि सत्य तक पहुँचने का एक ही मार्ग है, वह है-तथ्यो को विभाजित और उनपर विमर्श करने का मार्ग।[31]

विज्ञान की इस अतिवादिता के विरूद्ध प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। जिस प्रकार हीगल के बुद्धिवाद के विरोध मे ब्रेडले, बर्गसॉ,शापेनहावर, नीत्शे, परेटो, पियर्स, जेम्स आदि विचारकों की एक लम्बी श्रृंखला शुरू हो गयी उसी प्रकार विज्ञान के विरोध मे अस्तित्ववादी परम्परा शुरू हो गयी। अस्तित्ववाद न केवल बुद्धिवाद के विरुद्ध था, अपितु विज्ञानवाद के भी विरूद्ध था। यह दर्शन समकालीन स्थिति और समकालीन विचार पद्धति के प्रति असंतोष से व्युत्पन्न हुआ था और यह स्वाभाविक ही था कि इस विरोध मे वह प्रायः दूसरी अति पर पहुँच गया। इन्होंने विज्ञान को अशत. ही नहीं अधिकाशत अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयास किया। कुछ तो अतिवादी होकर उसे पूर्णत. अनुपयुक्त मान लेते हैं। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विज्ञान का ऐसा विरोध क्यों ? वस्तुतः अस्तित्ववाद का विरोधन तो विज्ञान से है और न वैज्ञानिकता से है अपितु अतिवैज्ञानिकता से है। वे विज्ञान के महत्व को निरस्त नहीं करते अपितु केवल सीमित करने का प्रयास करते हैं। जैसा कि कीर्केगार्ड कहते हैं-"विज्ञान को पौधों पशुओं और तारो के बारे में ही विवेचन करने दिया जाय, किन्तु मानव भावना के बारे में उस तरह विवेचन करना घृणास्पद है।"[32] कीर्केगार्ड दिखाना चाहते हैं कि जड़ पदार्थों के सामान्यीकरण की ही भाँति चेतन व्यक्ति का सामान्यीकरण कर देना सर्वथा अनुचित है। वस्तुनिष्ठता की यह वैज्ञानिक अपेक्षा मनुष्य को ही वस्तुरूप में परिणत कर देगी। इसी कारण यास्पर्स ने कहा "वस्तुपरता का रोग अस्तित्व का विनाश है।"[33]

यदि हम गहराई से छानबीन करें तो हम पायेगे कि अस्तित्ववादियों का विज्ञान की पद्धति से विरोध उसके निम्न पाँच आयामों को लेकर है-बाह्यता, वस्तुनिष्ठता, यांत्रिकता, विध्वंसात्मकता, सामान्य। इसकी जगह वे क्रमशः आन्तरिकता, विषयनिष्ठता, जीवन्तता, सृजनात्मकता, तथा वैयक्तिकता को स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रयास मे वे कितने सफल रहे कितने,असफल यह भिन्न बात है।

अस्तित्ववाद के प्रणेता कीर्केगार्ड ने तो अपनी एक पुस्तक का नाम ही रखा है- "concludıng unscıentıfic postscrıpt" वस्तुपरकता के विरूद्ध प्रबल प्रतिरोध करने वालों में कीर्केगार्ड प्रथम थे। अस्तित्ववादी प्रवृत्तियॉ,उसकी समस्याएँ तथा उसकी अवधारणाएँ तो प्रायः पहले से ही दर्शन जगत् में विद्यमान थीं, किन्तु उनका समाधान विषयनिष्ठता में होने का स्पष्ट उद्घोष कीर्केगार्ड ने ही किया। विज्ञान की वस्तुनिष्ठता और सुनिश्चितता को ध्वस्त करते हुए वे कहते हैं-"सत्य प्रबल रूप में भावनात्मक आन्तरिकता के आत्मीयकरण प्रक्रिया के ह्रदयावलम्बन मे जकड़ी हुई वस्तुनिष्ठ अनिश्चयता है।"[34] उनकी यह अवधारणा "सत्य विषयनिष्ठता है" के सूत्र मे अभिव्यक्त होती है। कीर्केगार्ड का मानना है कि यदि हम सत्य को वस्तुनिष्ठ ढग से जानने की चेष्टा करें तो हमे सत्य नहीं मिलेगा, अपितु अनिश्चितता मिलेगी। किन्तु यदि यहीं अनिश्चितता मनुष्य की आन्तरिकता का अंग बन जाय, तो वह सत्य की अनूभूति बन जायेगी। उनकी दृष्टि में सत्य को जानना नहीं,अपितु जीना पड़ता है। उनके शब्दो में -'मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता, जब तक वह मुझमें जीवन्त न हो जाय"।[35] मार्टिन व्यूबर ने इसे सम्बन्धो के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार यह आत्मनिष्ठता दो व्यक्तियो के मध्य आन्तरिक जीवन्त संबंध की भॉति है। इसे दो वस्तुओं या व्यक्तियों और वस्तुओं के मध्य वस्तुनिष्ठ संबंध में नहीं पाया जा सकता। वैज्ञानिक का सारा संबंध वस्तुनिष्ठ संबंध रह जाता है, जब कि व्यक्ति का वास्तविक संबंध आन्तरिक संबंध है। यह 'मैं-वह' संबंध वहीं अपितु"मैं-तू संबंध" है। न तो 'मैं-तू' के संसार का सामान्यीकरण किया जा सकता है और न किसी प्रकार की व्यवस्था से इसे अस्तित्व में रखा जा सकता है। विज्ञान द्वारा विश्व में व्यवस्थित नियम खोजने की चेष्टा को निरर्थक बताते हुए वे कहते हैं-"व्यवस्थित विश्व, विश्व व्यवस्था नहीं है।"[36] गैब्रिसल मार्सल ने वैज्ञानिक चिन्तन को समस्यात्मक तथा अस्तित्ववादी चिन्तन को रहस्यात्मक माना है। उनके अनुसार वैज्ञानिक चिन्तन के प्रभाव में मानव की प्रवृति तटस्थात्मक हो गयी है। उसके विचार और उसका जीवन दोनों एक दूसरे से पृथक् हो गये हैं, उसका चिन्तन अपने को अपने से पूर्णतया अलग रख कर देखने का ढंग बन गया है। परिणामस्वरूप यह जीवन ही समस्या रूप हो गया है। रुचिकर तो यह है कि मनुष्य इस समस्या का समाधान भी वैसे ही पाना चाहता है जैसे

वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे प्रयोग करते है। वह सदैव सार्वभौम किन्तु तटस्थ समाधान पाना चाहता है। किन्तु यह सार्वभौमता और तटस्थता तो समस्या का मूल है। इनसे समाधान पाने का प्रत्येक प्रयत्न व्यर्थ होगा। वस्तुतः 'पाने' (To have) की भावना ही असंगत है, हमें तो अस्तित्व के साथ एक होना (To be) होना पड़ता है। इस'होने' में ही हमारे होने की अनुभूति, सत्ता की रहस्यात्मकता की अनुभूति निहित है। उनकी एक पुस्तक का नाम ही है-Being and Having। यहाँ वे कहते हैं कि "रहस्य स्वयं ही प्रकाश का स्रोत है।"[37] यहाँ उनके संबंधों में रहस्यात्मकता और आत्मीयता का निदर्शन मार्टिन ब्यूबर के ही समान है।

यास्पर्स के दर्शन मे विज्ञान के प्रति अपेक्षाकृत संतुलित दृष्टि है। वे स्वीकार करते हैं कि दर्शन विज्ञान से ही आरम्भ होता है और इसके बिना कार्य नहीं कर सकता, क्यांकि कोई ऐसा दूसरा विश्व नहीं है जो इस वस्तुनिष्ठ विश्व से पृथक् हो,जिसका कि विज्ञान उद्घाटन करता है।[38] दर्शन को किसी न किसी सीमा तक विज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि तथ्यों का यथार्थ निर्देश विज्ञान के ही द्वारा ही सभव है। वस्तुत· मानव स्थितियों के विषय में कोई भी विचार तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता तथा'तथ्यों का जगत्'विज्ञान का जगत् है। अतः विज्ञान की महत्ता को वे स्वतः सिद्ध मानते हैं।

किन्तु उनका कहना है कि विज्ञान की अतिशयता मनुष्य के लिए घातक है। विज्ञान स्वयं में भी अपूर्ण होगा, क्योंकि वह सदैव पूर्ण वस्तुनिष्ठता की आशा करता है, जोकि यूटोपिया है।[39] वे कहते हैं–"यद्यपि वैज्ञानिक ज्ञान की वैधता सार्वभौमिक है, उसके सत्य सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से सत्य हैं परन्तु इसके होते हुए भी विज्ञान के सत्य सापेक्ष ही होते हैं। इनकी सापेक्षता उस क्षेत्र, जिसके अन्तर्गत कि इनका अध्ययन किया जाता है तथा उस पद्धति, जिसके द्वारा इनका अध्ययन किया जाता है, के प्रति होती है। वैज्ञानिक प्रत्ययों के माध्यम से जगत् की समग्रता की कोई प्रतिमा बनाना असंभव ही है।[40] यास्पर्स के अनुसार संसार की वस्तुएँ ज्ञेय हैं किन्तु समग्र संसार एक साथ ज्ञेय नहीं है। संसार में वस्तुओं का ज्ञान और संसार का समग्र रूप में ज्ञान–दोनों अलग–अलग बातें हैं। संसार हमारे मन के सामने एक वस्तु के रूप मे कभी नहीं आ सकता। अत· संसार ज्ञेय वस्तुओं के क्षेत्र से बाहर रह जाता हैं। इस प्रकार समष्टि रूप संसार ज्ञेय न होने के कारण विज्ञान के अनुसन्धान का विषय भी

नहीं रह जाता है। वैज्ञानिक ज्ञान सत्ता का पूर्ण ज्ञान कदापि नहीं प्राप्त कर सकता।[41]

यास्पर्स कहते हैं कि विज्ञान को अन्तत स्वयं अपना ही अतिक्रमण करना पडता है। उनके अनुसार ''मनुष्य के विज्ञान केवल असंबद्ध तथ्यों की श्रृंखला तथा अर्थ हीन होंगे, यदि वे विज्ञान से अधिक नहीं होगे।[42]

यास्पर्स आधुनिक युग को 'वैज्ञानिक साम्राज्यवाद'' की संज्ञा देते है, जिसमें विज्ञान का मनुष्य के ऊपर शासन हो गया है। अपनी पुस्तक'Man in the Modern Age ' मे वे आधुनिक जीवन में विज्ञान की अतिशयता को अंकित करते हुए दिखाते हैं कि मनुष्य यंत्रों के प्रभाव मे स्वयं यंत्रीकृत हो गया है, उसकी मानवीयता तिरोहित हो गयी है। आज वह मशीनों से तो सरलता पूर्वक जुड़ जाता है,किन्तु मानवों से नहीं जुड़ पाता। जीवन मे इस यान्त्रिकता ने मानव की आन्तरिकता को नष्ट कर उसके समस्त जीवन को यन्त्रणा पूर्ण बना दिया है। विश्व को जोड़ने वाली तकनीक स्वय उसे जीवन से जोडने में बाधक हो गयी है। अत· विज्ञान को भी अपनी सीमा में होना चाहिए। दर्शन विज्ञान की सीमा निर्धारित करे,उसके निष्कर्षो का नियमन करे तथा विज्ञान दर्शन के लिए तथ्य और उपकरण उपलब्ध कराये, यही उपयुक्त स्थिति है।'दर्शन विज्ञान से आरभ तो करता है'।[43] किन्तु विज्ञान में अन्त नहीं करता।

ह्याइडेगर ने 'what is Metaphysics' के अन्त में बाद में दर्शन और विज्ञान के संबंध में कुछ पंक्तियां जोड़ दी थीं। उन्होंने इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक चिन्तन में चिन्तक कभी वैज्ञानिक चिन्तन की भाँति तटस्थ नहीं हो सकता और ऐसी किसी भी तटस्थता का प्रयास दर्शन की हत्या होगी। फिर वह दर्शन ही न कहला सकेगा। दर्शन तो जीवन को जीवन्तता में,समग्रता में तथा आत्मीयता मे देखने की पद्धति है।

वस्तुतः दर्शन और विज्ञान का यह द्वन्द्व आधुनिक चिन्तन के समक्ष ज्वलन्त प्रश्न है। ठीक वैसे ही जैसे मध्यकाल में दर्शन धर्म से आक्रान्त था, उसी प्रकार आधुनिक काल में यह विज्ञान से आक्रान्त है। अस्तित्ववादी विचारक मानते हैं कि दर्शन का धर्म से मुक्ति होना ही कोई क्रान्तिकारी घटना नहीं है, अपितु उसका विज्ञान से मुक्त होना भी क्रान्तिकारी घटना होगी। पॉल रुबिचेक ने ठीक ही कहा है-''आज जबकि विज्ञान विजयी है, यह उसके सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है कि वे विज्ञान द्वारा

किये गये किसी गलत दावे को अस्वीकार करे। यह तो स्वय विज्ञान के लिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि सैद्धान्तिक कथनों से उस विज्ञान की प्रगति में रुकावट आ सकती है। वस्तुत प्रकृति के संबंध में तत्वमीमांसीय चिन्तनों को अनावश्यक बना करके विज्ञान ने दर्शन को एक भारी बोझा से मुक्त किया है। लेकिन अब वैज्ञानिकों या अवैज्ञानिकों के लिए यह एक दम गलत है कि वे अपनी पारी मे क्रमश. विज्ञान को अस्तित्व की एक सर्वग्राही तत्वमीमांसीय व्याख्या बनायें या यह सुझाव रखे कि पूर्ण रूप से किसी चीज को समझने का यही एक तरीका है।"[44]

विज्ञान की इस सीमा को अनेक वैज्ञानिक विचारकों ने भी समर्थित किया है। आईस्टीन कहते हैं-'विज्ञान सदैव 'जो है' के ज्ञान से संबधित है, किन्तु 'जो है'का ज्ञान 'जो होना चाहिए' के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त नहीं करता।"[45]

बर्ट्रेण्ड रसेल स्पष्ट कहते हैं-विज्ञान यह बता सकता है कि अमुक लक्ष्य कैसे प्राप्त करें। किन्तु वह यह नहीं बता सकता कि उसे कौन सा लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए

वस्तुत. आधुनिक काल के प्रमुख दार्शनिक ह्यूम ने पहले ही सिद्ध कर दिया था कि 'है' से 'चाहिए'का तार्किक निगमन संभव नहीं है। हमारा तथ्यात्मक ज्ञान हमारे मूल्यात्मक निर्णयों का तार्किक आधार नहीं हो सकता। विज्ञान मूलतः तथ्यों का जगत् है, जबकि मूल्यों का जगत् धर्म और दर्शन का जगत् है। हमारा जीवन तथ्यों पर आधारित तो होता है,किन्तु तथ्यों से संचालित नहीं होता, अपितु मूल्यों से संचालित होता है और तबतक ये मूल्य अनिवार्य बने रहेंगे, तब तक विज्ञान को दर्शन और धर्म की आवश्यकता बनी रहेगी। आईस्टीन ने ठीक ही कहाँ है-"धर्म के बिना विज्ञान लॅंगड़ा है,विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है।"[47]

यहाँ थोड़ा रुककर हमें इस बात पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए कि विज्ञान हमारे लिए कितना वरदान रहा है और कितना अभिशाप? उसके योगदानों में कौन से संकट प्रच्छन्न रूप से निहित थे, जिन्होंने मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया, और जिस कारण अस्तित्ववादियों को विज्ञान के विरुद्ध एक आंदोलन छेड़ना पड़ा। नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकर्त्री नादिन गार्डिमर ने ठीक ही कहा था कि"आदिम काल में अस्तित्व के संकट से जूझते मनुष्य ने जिस विज्ञान के द्वारा जीवन पाया था, आज उसी विज्ञान के कारण पुनः उसका अस्तित्व संकट में आ गया है। अज्ञान संभवतः

मनुष्य के लिए उतना घातक कभी नहीं रहा, जितना घातक आज विज्ञान सिद्ध हो रहा है।"[48]

वस्तुतः जीवन में कोई भी एक पक्षीय विकास सदैव अहितकर होता है। सभ्यता का विकास तभी संतुलित हो सकता है जब जीवन मे वैज्ञानिकता के समरूप ही मानवता का भी विकास हो। किन्तु आज यह विकास संतुलित नहीं है। मानव ने जितना भौतिक जगत् को विकसित किया उतना नैतिक जगत् को नहीं। मानव का मस्तिष्क तो विकसित हुआ,किन्तु हृदय संकुचित हो गया। ज्ञान निरन्तर विस्तीर्ण होता गया और भाव निरतर सकीर्ण होते चले गये। सूचना प्रौद्योगिकी की सचार क्रान्ति ने भौतिक दूरियाँ तो कम की, किन्तु मानसिक दूरियाँ बढा दी। आज हमारे सवाद सूचनाओं के धरातल पर होते हैं, संवेदनाओ के धरातल पर नहीं। वैश्वीकरण की आधुनिक विचार क्रान्ति ने विश्व को परिवार नहीं,अपितु बाजार बना दिया।"वसुधैव कुटुम्बकम्" का उद्घोष" वस्तु एव कुटुम्बकम्" के रूप में पर्यवसित हुआ। संबंधों का वैश्वीकरण मूलत. उनका वाणिज्यीकरण बन कर रह गया। विश्व को जोड़ने वाली तकनीक स्वयं उसे जीवन से जोड़ने में बाधक हो गयी। आज मानव यंत्रों से तो सरलता से जुड़ जाता है, किन्तु मानव से वैसी सहजता से नहीं जुड़ पाता है। लगता है विज्ञान ने यत्रों को जितना मानवीकरण (रोबोट) बनाया है, उससे अधिक उसने मानव को यांत्रिक बना दिया है, अतिमानव वनने के प्रयास में वह अमानव हो गया है। कुछ आश्चर्य नहीं कि परमाणु बम बनाने वाला मानव आज स्वयं मानव बम बन गया है। मनुष्य की हिंसक वृत्ति विज्ञान का संबल पाकर विध्वंसक हो चुकी है। पिछले तीन हजार वर्षों मे मनुष्य ने पाँच हजार से अधिक बड़े युद्ध किये है, इन युद्धों में व्यापक जन-धन की हानि तो हुई, किन्तु सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व कभी संकट में नहीं पड़ा लेकिन आज विश्व में इतने नाभिकीय अस्त्र निर्मित और संचित हो कुके हैं कि वे एक बार नहीं, अपितु इक्कीस बार संपूर्ण सृष्टि का विनाश करने में सक्षम है। आज एक राष्ट्राध्यक्ष अथवा एक वैज्ञानिक की विवेकहीनता उस सृष्टि को क्षण भर में मिटा सकती है, जिसके सृजन में पृथ्वी को अरबों वर्ष की साधना करनी पड़ी। वैज्ञानिक शक्ति से संपन्न व्यक्ति आज संपूर्ण मानव इतिहास के सर्वाधिक प्रभुता संपन्न शासक से अधिक शक्तिशाली हो सकता है और किसी बर्बरतम तानाशाह से भी अधिक भयानक सिद्ध हो सकता है।

नादिन गार्डिमर ने ठीक ही कहा है–"विज्ञान के अश्व पर सवार मनुष्य ने उन अतल गहराइयों की ओर छलॉग लगा दी है, जहॉ से उसके अस्तित्व के चिन्ह भी मिल पाना असंभव है। परमाणु बमों और विध्वंसक अस्त्रों के जखीरे पर बैठकर उसने अपने महाविनाश को आमंत्रित कर दिया है।"[49]

किन्तु हम विज्ञान के वरदानों की उपेक्षा नहीं सकते। इसने मानव सभ्यता को विकसित करने में, विश्व व्यवस्था में मानव की संप्रभुता को स्थापित करने में प्रकृति के निर्मम संघर्ष में मानव अस्तित्व को कायम रखने में महती भूमिका निभायी है। इसने हमारे ज्ञान को नि·सीम क्षितिज तक पहुॅचाया है, हमारे चिन्तन और चेतना को अनन्त आकाश की उन्मुक्त स्वतन्त्रता दी है, हमारी सीमित अस्मिता को सार्वभौम प्रभुसत्ता प्रदान की है। हमारी विविध सुविधाऍ, विपुल सपदाएँ, व्यापक सभावनाऍ–सभी तो विज्ञान प्रसूत हैं। अत· हमे विज्ञान पर एक सार्थक पुनर्विचार करना होगा, ऐसा पिचार जो सम्यक् हो, संतुलित हो, समीचीन हो। हमे निष्पक्ष और विवेकपूर्ण ढग से यह विचार करना होगा कि पूर्व मे गिनायी गई अनगिनत बुराइयॉ क्या विज्ञान की ही हैं ? अथवा इनके मूल में कोई और है ? वस्तुतः विज्ञान ने तो सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित मात्र किया है। वह केवल आनुभाविक और वस्तुनिष्ठ ज्ञान है अतः शुभत्व अथवा अशुभत्व को ज्ञान में खोजने की अपेक्षा प्रवृत्तियों में खोजना अधिक तर्कसंगत होगा। फ्रांसिस बेकन ने कहा है–"ज्ञान शक्ति है और वही अंतिम शक्ति है,"।[50] यह शक्ति अच्छी या बुरी नहीं होती, अपितु इसका सदुपयोग या दुरुपयोग इसे अच्छा या बुरा बनाता है, जो कि हमारी प्रवृत्तियों पर निर्भर है। मैकाइवर ने कहा है –"शक्ति एक सेवक के रूप में अच्छी है, किन्तु एक स्वामी के रूप में बहुत बुरी।" इसे रुपान्तरित करते हुए हम कह सकते हैं कि विज्ञान एक सेवक के रूप में तो अच्छा है, किन्तु एक स्वामी के रूप में बहुत बुरा।

निश्चय ही मूल दोष विज्ञान का नहीं अपितु वृत्तियों का है। वैज्ञानिक प्रयोगों का नहीं, अपितु व्यावहारिक अनुप्रयोगों का है। किन्तु, यह भी तथ्य है कि प्रवृत्तियॉ सदैव आंतरिक और बाह्य तत्वों से प्रभावित होती रहती हैं। वे निरंतर प्रवाहमान होती है, दोलयमान होती हैं। जीवन के तथ्यों में थोड़ा सा परिवर्तन उन्हें विचलित कर देता है। विशेषतः प्रभुसत्ता का मद शीघ्र ही प्रमत्त कर देता है। लार्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है– "शक्ति भ्रष्ट कर देती है और पूर्ण शक्तिमत्ता पूर्णतया ही भ्रष्ट कर देतीहै।" यदि

मनुष्य के हाथो में विज्ञान की शक्ति उसकी विवेकशीलता के अनुपात से अधिक हो जाय तो निश्चय ही इसके घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं। बेंजामिन फ्रेंकलिन ने कहा है- "विध्वंस के उपादानों को उन्हीं के हाथों में सौंपना निरापद है, जो सृजन का मूल्य जानते हैं। जो न तो जीवन देने में सक्षम हैं और न जीवन का मूल्य पहचानने मे, उनके हाथो में मृत्यु देने का अधिकार सौंपना सर्वथा अन्यायपूर्ण है।"[51] एक पुरानी जापानी कहावत भी है कि यन्त्र उनके हाथ में दो, जो उसके सचालन की प्रविधि जानते हैं और अस्त्र उनके हाथ मे दो जो उसे चलाने का औचित्य जानते हैं। वस्तुत· विवेकहीन व्यक्ति के हाथ में शक्ति का होना बन्दर केहाथ तलवार सौंपने से भी अधिक घातक है।

शायद हमने विज्ञान के अनियन्त्रित प्रयोग के अप्रत्याशित पार्श्व प्रभावो (Side effects) पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। हमने न तो मानव व्यवहार के दो विपरीत पहलुओं पर ध्यान दिया और न विज्ञान के दो भिन्न आयामों पर विचार करने की जरूरत समझी। किंतु अब परिणाम सामने आने लगे हैं। आज मनुष्य वैज्ञानिक प्रगति के प्रति सजग और सतर्क हो रहा है। विज्ञान का हर आविष्कार एक ओर जहां नयी आशाए जगाता है वहीं उसका हर उपयोग नयी आशंकाए पैदा करता है। आज वह विज्ञान से उत्साहित ही नहीं, आतंकित भी है। आज वह विज्ञान की विभीषिकाओं से परिचित हो चुका है। वह आधुनिक सुख-सुविधाओं और संपदाओं में प्रच्छन्न रूप से निहित संकटो और समस्याओं को भी पहचान चुका है। वह जान गया है कि प्रकृति पर उसकी विजय अन्तत· उसकी हार बन चुकी है। प्रकृति का विनाश अंततः उसका ही विनाश होगा। अम्लीय वर्षा, वैश्विक भू-ताप वृद्धि, ओजोनक्षय, भूगर्भीय जल संकट आदि सार्वभौम समस्याएं उसके द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित विदोहन और प्रदूषण का ही तो परिणाम है। जल, वायु, मृदा सभी कुछ तो प्रदूषित है और अब यह प्रदूषण उसके रक्त, अस्थि , मांस, मज्जा में समाहित हो चुका है। स्वच्छ अन्न-जल, सुवासित हवा, सुखद ध्वनि, सुरम्य दृश्य- सभी उसके अतीतकालीन स्वप्न बन चुके हैं। मानव जीवित तो है, किंतु जीवन्त नहीं रह गया है। उसकी आंखों में वह तेज, उसके प्राणों में वह ऊर्जा, उसके हृदय में वह स्पन्दन नहीं रह गया है। उसका जीवन उससे ही अलग हो गया है। आधुनिक जीवन की विवशताओ और व्यस्तताओ ने उसे अपनों से ही दूर नहीं किया,

अपितु अपने से भी दूर कर दिया। विज्ञान की वस्तुनिष्ठता ने केवल उसकी वस्तुओ में निष्ठा बढायी, व्यक्तियो में नहीं।

अस्तित्ववादी इस समस्या के प्रति सर्वाधिक सजग प्रतीत होते हैं वे व्यक्ति को केन्द्र बनाते हैं उसे उसके सपूर्ण वैशिष्ट्य और गौरव के साथ प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। अस्तित्ववाद मूलत· विज्ञान की निम्नलिखित प्रवृत्तियो के विरुद्ध है।

1. बाह्यता– अस्तित्ववाद विज्ञान की बाह्यपरकता के विरुद्ध आन्तरिकता पर बल देता है। विज्ञान के समस्त परीक्षण बाह्य परीक्षण हीं होते हैं। उसमें अन्त निरीक्षण का कोई स्थान नहीं होता। उसकी सारी प्रक्रिया विखण्डनात्मक और विश्लेषणात्मक होती है, वह तथ्य को तोड़कर सत्य को जानने का प्रयास करता है। कितु जीवन के सत्यो को हम तोड़कर नहीं अपितु अटूट संबंध जोडकर ही जान सकते हैं। जीवन में कुछ सत्य ऐसे होते हैं, जिन्हें जानना नहीं जीना पड़ता है। नीत्शे ने कहा है– ''सारे सत्य हमारी रंगों में समाये हुए सत्य हैं।'' जो सत्य अन्तरानुभूति के विषय होते हैं, उनको बाह्य परीक्षणों से नहीं जांचा जा सकता। क्या हम प्रेम, करुणा, ममता आदि भावों को बाह्य परीक्षणों से परख सकते हैं या उन्हें तत्सबंधी सूचनाओं के ज्ञान से समझ सकते हैं? क्या हम सौंदर्य को विघटित और विश्लेषित करके देख सकते हैं? क्या हम जीवन को उसके अवयवों और उपादानों के आधार पर ही व्याख्यायित कर सकते हैं? अस्तित्ववाद आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति की इस त्रृटि कीओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वह मानता है कि विज्ञान सत्य और उपयोगी हो सकता है, किंतु वह पूर्ण और पर्याप्त नहीं हो सकता।

2. वस्तुनिष्ठता– विज्ञान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और व्यावर्तक विशिष्टता उसकी उसकी वस्तुनिष्ठता है। किंतु अस्तित्ववाद उसकी वस्तुनिष्ठता को जीवन में लागू करने का घोर विरोधी है और वह इसकी जगह व्यक्तिनिष्ठता का उद्घोष करता है। उसके अनुसार विज्ञान प्रत्येक विषयवस्तु को मात्र वस्तु (Object) की दृष्टि से देखता है, इसमें विषय (Subject) सर्वथा अछूता रह जाता है। वस्तुनिष्ठता वस्तुत· सामान्यीकरण है और सामान्य सदैव अयथार्थ होता है। वस्तुओं का सामान्यीकरण तो उचित है, किंतु व्यक्तियों का सामान्यीकरण अनुचित होगा। व्यक्ति को उसकी वैयक्तिकता से ही मूल्यांकित किया जा सकता है, वस्तुनिष्ठता से नहीं। इसी कारण यास्पर्स ने कहा है कि वस्तुनिष्ठता

का रोग अस्तित्व का विनाश है तथा कीर्केगार्ड ने उद्‌घोष किया है कि सत्य विषयिनिष्ठता है।

विज्ञान की वस्तुनिष्ठता एक अन्य रूप मे भी चरितार्थ हुई और वह उसकी वस्तुपरक भोगवादिता मे परिलक्षित हुई। विज्ञान ने हमारे जीवन से अतिप्राकृतिक मान्यताओं का बहिष्कार तो किया, किंतु असंख्य अप्राकृतिक वस्तुओं से जीवन को भर दिया। अधिकाधिक वस्तुओ के संचय की प्रवृत्ति ने वस्तुओ को ही केन्द्रीय स्थान प्रदान कर दिया और व्यक्ति स्वयं हाशिये पर चला गया। भोगवादी और सुविधाभोगी प्रवृत्ति ने मनुष्य को पूर्णत इन कृत्रिम वस्तुओ पर ही निर्भर वना दिया। उसके जीवन की वास्तविकताएं वस्तुओं से निर्धारित होने लगीं, गुणों और मूल्यों से नहीं। वस्तुओ का मूल्य चुकाने के लिए उसने जीवन का मूल्य भी चुका दिया। इन अनगिनत मूल्यवान वस्तुओं के द्वारा उसने नितान्त मूल्यहीन जीवन पाया। जीवन की अर्थप्रधानता ने उसे जीवन की अर्थहीनता की ओर अग्रसरित कर दिया। अस्तित्ववाद जीवन की अर्थवत्ता की तलाश है। जीवन के भीतर मूल्यों की खोज है। यह अलग बात है कि सार्त्र जैसे विचारक अन्ततः यह कहने को बाध्य हो जाते हैं कि मनुष्य एक निरर्थक वासना है।

३. यान्त्रिकता– विज्ञान की प्रौद्योगिकी यन्त्रों के माध्यम से ही गतिशील होती है। यान्त्रिकता वैज्ञानिकता का अनिवार्य पहलू होती है। हमारी समस्त औद्योगिक और प्रौद्योगिकीय क्रान्ति यन्त्रो की ही देन है। किंतु यह यान्त्रिकता जब जीवन की आंतरिकता पर हावी हो जाय और मानव का जीवन यन्त्रवत हो जाय तो यह एक शोचनीय स्थिति हो जाती है। जॉन डिवी ने अपनी अर्थक्रियावादी विचारधारा में 'उपकरणवाद' (Instrumentalısm) का प्रतिपादन किया था। वहां मानव के ज्ञान और क्रियाएं उसका उपकरण थीं किंतु यहां तो मानव स्वयं ही उपकरण बन गया। आधुनिक मानव का जीवन उसके संबंध, उसकी दिनचर्या– सभी कुछ यांत्रिक हो चुके हैं। हाइडेगर ने इसे दिनचर्या परकता (Everydayness) की संज्ञा दी है। इसमें व्यक्ति अपनी अस्मिता और मौलिकता को भूलकर आप्रामाणिक जीवन जीने लगता है। अस्तित्ववाद का संपूर्ण बल जीवन को सम्पूर्ण जीवन्तता और प्रामाणिकता के साथ जीने पर है।, जीवन के संबंधों को आंतरिक आधार पर जोड़ने पर है, जीवन में सत्यों को स्वयं अनुभूत करने पर है।

4. विध्वंसात्मकता– विज्ञान के पार्श्व प्रभावों में विध्वंसात्मकता या विनाश शीलता

सर्वाधिक प्रमुख है। अस्तित्ववाद सदैव सृजनात्मकता पर बल देता है, वह शून्यता में भी सत्ता की खोज करता है, अवस्तुता में भी अस्मिता की तलाश करता है। विज्ञान भी वस्तुत· सृजनात्मक है, किंतु इसका प्रत्येक सृजन कालांतर मे प्रलय का एक सकेत देता प्रतीत होता है। उसके समस्त विकास किसी महाविनाश को आमंत्रण देते दिखते हैं। विज्ञान के योगदान महान है, वैज्ञानिक प्रगति वांछनीय है, किंतु अस्तित्व की कीमत पर नहीं। यदि हमारा ही अस्तित्व न रहा, तो इस समस्त विकास का आयोजन किसलिए ? आइंस्टीन के संबंधमें एक रोचक आख्यान है कि उनसे जब किसी ने तृतीय विश्वयुद्ध के स्वरूप और संभावना के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं तृतीय विश्वयुद्ध के विषय में तो इतना निश्चित रूप से कह सकता हू कि वह युद्ध बमो और बन्दूकों से नहीं अपितु पत्थरों से लड़ा जायेगा, क्योकि तृतीय विश्वयुद्ध के साथ ही इस संपूर्ण सभ्यता का ही अन्त हो जायेगा और अगला युद्ध कोई नयी आदिम सभ्यता लड़ेगी।

निश्चय ही आधुनिक विज्ञान के हाथ में प्रलय की शक्ति है, सृजन का सामर्थ्य है। किंतु यदि मनुष्य की प्रवृत्तियां सृजनात्मक नहीं हुई अथवा विज्ञान की शक्ति किसी सिरफिरे शासक के हाथो में पहुंच गयीं, तो समस्त मानव जाति के पास बचने के लिए कोई त्राण नहीं रहेगा। ऐसे विध्वंस के संत्रास में हीअस्तित्ववाद का जन्म हुआ है। मृत्यु और महाप्रलय की विभीषिका से कंपित मानव यदि एक सीमा तक विज्ञान के विरुद्ध हो गया, तो यह कुछ अप्रत्याशित नहीं था।

इसी कारण अस्तित्ववादियों में सर्वत्र सृजनात्मकता का मंडन दिखाई देता है।

5. सर्वज्ञेयवादिता– विज्ञान प्रकृति को पूर्णतः ज्ञेय मानता रहा है। उसके अनुसार जो कुछ भी सत्ता में विद्यमान है, उसे तर्कबुद्धि के अनुरूप जाना जा सकता है। उसके लिए न तो कोई समस्या असमाधेय है और न कोई रहस्य अभेद्य है। किसी विषय के रहस्यात्मक होने का तात्पर्य मात्र इतना है कि वह अभी ज्ञान नहीं हो पाया है, किंतु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह अज्ञेय है। विज्ञान के लिए किसी Noumena या Phenomena का भेद नहीं है। हालांकि अस्तित्ववाद के ज्ञानमीमांसीय आधार फेनोमेनोलॉजी में भी इस भेद को अस्वीकार किया गया है, किंतु उसमें सत्ता की पूर्ण ज्ञेयता का दावा नहीं है। सार्त्र स्वयं व्यावहारिक वस्तु जगत के पीछे किसी अन्य तत्व की सत्ता का निषेध करते हैं, किंतु वे भी सत्ता को पूर्णत· ज्ञेय मानने वाली परंपरा

से स्वयं को पृथक कर लेते हैं।[53]

वस्तुत विज्ञान ज्ञान की सार्वभौमता मे विश्वास करने के साथ ही मनुष्य की सर्वज्ञता की सभावना को भी परोक्ष रूप से स्वीकार कर लेता है। उसे मनुष्य की बौद्धिक शक्ति और उसकी प्रामाणिकता मे पूर्ण विश्वास है। आइंस्टीन ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति को निदर्शित करते हुए कहा भी है- "वैज्ञानिक मनोवृत्ति मे यह विश्वास भी निहित है कि जगत के नियामक सिद्धांत तर्क द्वारा समझे जा सकते हैं। ऐसे गहरे विश्वास से रहित सच्चे वैज्ञानिक की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।"[54]

इस प्रायोगिक विज्ञानवाद (Scienticism) से यदि कोई आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism) को निगमित कर ले और बर्कले की भांति कहे कि "जो ज्ञेय है उसी की सत्ता है।" तो कुछ अप्रत्याशित नहीं होगा। हमारा मन "जो है, वह जाना जा सकता है।" की पूर्वमान्यता से "जो जाना जाता है, वही है" की निष्पत्ति सरलतया कर लेता है।

किंतु विज्ञान की ऐसी कोई मान्यता स्वयं ही अवैज्ञानिक होगी। ज्ञान केवल ज्ञेय पर ही नहीं अपितु ज्ञाता पर भी निर्भर करता है[55] अत· किसी वस्तु का ज्ञान सापेक्षिक होना स्वाभाविक है। विज्ञान में चाहे जितनी वस्तुनिष्ठता हो, वह कभी पूर्ण और निरपेक्ष होने का दावा नहीं कर सकता। तार्किक दृष्टि से भी, चूंकि विज्ञान आगमनाश्रित होता है और आगमन कभी सार्वभौम सत्य का दावा नहीं कर सकता, अत· विज्ञान की सत्यता भी पूर्ण और निरपेक्ष नहीं हो सकती।

आधुनिक विज्ञान के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धात विज्ञान की सीमाओ का स्पष्ट निदर्शन करते हैं। आइंस्टीन का सापेक्षिकता सिद्धांत, मैक्स प्लांक का क्वांटम सिद्धांत, हाइजेनवर्ग का अनिश्चितता सिद्धांत, डार्विन का विकासवादी सिद्धात- ये सभी किसी न किसी रूप में विज्ञान की बौद्धिकता और वस्तुनिष्ठता को सापेक्षिक सिद्ध करते हैं। 1905 में आइंस्टीन के सापेक्षिकता सिद्धांत के प्रकाशित होने के पूर्व लोगोंकी धारणा थी कि "देश हमारे चारों ओर फैली हुई कोई वस्तु है और काल हमसे होती हुई हमारे पीछे बहती जाने वाली कोई चीज है। ये दोनों एक दूसरे से भिन्न समझे जाते थे। हम देश में अपने कदमो को फिर खोज सकते हैं, किंतु काल में नहीं। हम देश मे धीरे चलें, तेज चलें या बिल्कुल न चलें, जैसा चाहे करें, किंतु काल के प्रवाह पर कोई

नियन्त्रण नहीं कर सकता है। वह अपनी गति से सदा चला करता है। किंतु आइंस्टीन के प्रथम परिणाम को मिंकोविस्की ने चार वर्ष बाद स्पष्ट करते हुए कहा कि प्रकृति इन सब बातो को कुछ नहीं जानती।''[56] मिकोवस्की के शब्दों में, ''देश और काल एक दूसरे से विच्छिन्न रूप मे विलीन होकर छायामात्र रह गये हैं। दोनो के समन्वित रूप में ही कुछ सत्यता रह गयी है।''[57] अत. यह विश्वास किया जाता है कि 'सापेक्षिकता सिद्धांत' का सार यह है कि प्रकृति देश और काल के विभाजन के विषय में कुछ भी नहीं जानती है।[58] इस प्रकार देश और काल जिन्हे पहले यथार्थ वसतु समझा जाता था, सापेक्षिकता के सिद्धांत के प्रकाश में केवल सापेक्ष जाने जाने लगे। अव देश और काल कोई स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं रखते। वे व्यापक देश काल की इकाई मे से वैयक्तिक चयनमात्र हैं।[59] सर जेम्स जीन्स ने मैदान मे एक गेद का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार गेंद आगे-पीछे, दाये-बायें, पूरब-पश्चिम आदि के विषय में कुछ नहीं जानती, वैसे ही प्रकृति भी देश और काल के भेदो से परिचित नहीं है। दूसरे शब्दों में- इनका रात् से कोई संबंध नहीं, अपितु ये आभास मात्र हैं और यदि देश और काल आभास मात्र हैं तो उनके अन्तर्गत आने वाली वस्तुएं भी वैसी ही होंगी। उनके शब्दों में- ''भौतिक संसार से आभास जगत की रचना होती है, किंतु वह सत् का समग्र संसार नहीं है। हम संसार या सत् को बहती हुई एक गहरी धारा कर सकते हैं। आभास का ससार उसकी ऊपरी सतह है। उसके नीचे हम नहीं देख सकते हैं।''[60]

इसी प्रकार क्वांटम सिद्धांत फोटॉन, इलेक्ट्रॉन आदि सूक्ष्मतम भौतिक राशियो को सापेक्षिक सिद्ध करते हुए यह दिखाता है कि एक दृष्टि से इन्हे कण के रूप में देखा जा सकता है तो दूसरी दृष्टि से तरंग के रूप में। दोनों ही दृष्टियां सही है अत· दोनो ही सापेक्षिक हैं। इसी से जुडे हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धांत ने यह दिखाया कि हम कभी भी गति (वेग) और स्थिति को एक साथ सही-सही नहीं माप सकते। एक के मापन में जितनी शुद्धता बरतेंगे उतना ही दूसरे का मापन अशुद्ध हो जाता है। इसी कारण यदि वे कहते हैंकि ऐसा सब ज्ञान ''एक अमाप गहराई के ऊपर पुल की तरह झूल रहा है।''[61] तो हमे आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

इरी प्रकार विकासवादी सिद्धांत में जब हम उत्परिवर्तन की बात करते हैं तो विकास में एक निर्बौद्धिक तत्व की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार कर लेते हैं। पॉल रुबिचेक

कहते हैं– "किसी भी विवेकपूर्ण या बुद्धिवादी उपागम से हम यह समझने मे समर्थ नहीं हो सकते कि विवेकशून्य शक्तियो और आकस्मिक गुणो से ही क्यो उत्परिवर्तन होते हैं, जिनसे प्राकृतिक वरण सभव होता है और जीव-जन्तुओं, पौधों, पशुओं और मनुष्यो के अपूर्व भंडार का निर्माण होता है। सिर्फ यह दावा करना कि अव्यवस्था किसी प्रकार से व्यवस्था का रूप ले लेती है, हमारी बुद्धि में आनेवाली बात नहीं है। क्या हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि अगर हमने बहुत दिन पहले, करोड़ो वर्ष पहले, वर्णमाला के अक्षरों को ताश की तरह फेंक दिया होता तो भी क्या हम कभी "हैमलेट" का निर्माण कर सकते।[62]

निश्चय ही विज्ञान की गहनतम अवधारणाएं और सूक्ष्मतम व्याख्याएं स्वयं ही उसे उसकी वस्तुनिष्ठता के दावे से दूर ले जाती हैं। यहां तक कि वैज्ञानिक प्रयोगां से भी दो सर्वथा भिन्न भिन्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। आइस्टीन के सापेक्षिकता सिद्धात और हाइजेनवर्ग के अनिश्चितता सिद्धात में तो ऐसा मौलिक अन्तर्विरोध है कि दोनों में कोई समन्वय हो ही नहीं पाता। स्वय आइंस्टीन जीवन के अन्तिम तीस वर्षो तक ऐसे समन्वित सिद्धान्त की खोज करते रहे। किंतु अन्तत असफल रहे। आधुनिक युग के आइंस्टीन माने जाने वाले वैज्ञानिक स्टीफेन हाकिंग ने भी अपनी पुस्तक A Brief History of Time मे अपने 'स्ट्रिग सिद्धात' के द्वारा दोनो सिद्धातों को एकीकृत करने का प्रयास किया, किंतु अभी कोई सार्थक सफलता हाथ नहीं लगी।

प्राकृतिक विज्ञानों मे गुण को अब परिमाण के रूप में अपघटित कर दिया गया है अर्थात अप इसे सिद्ध मान लिय ागया है कि किसी वस्तु का दूसरी वस्तु से गुणभेद मूलत. उनके अन्तर्निहित परिमाण भेद के कारण है। मार्क्स ने भी अपने भौतिकवाद की स्थापना मे इस नियम को स्वीकार किया है। "इस नियम के आधार पर वैज्ञानिक विधि को उतना ही वस्तुनिष्ठ बना दिया गया है, जितना मनुष्य की शक्ति से संभव है। यह विधि नियतत्ववाद पर आधारित है अर्थात कारण-कार्य के नियत संबध की स्थापना पर आधारित है। किंतु आधुनिक भौतिक विज्ञान में कारणता के स्थान पर प्रसम्भाव्यता को रखा गया है।"[63] सन् 1917 में आइंस्टीन ने बताया कि प्लैंक द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत उस कारण-कार्य नियम को अपदस्थ कर देता है, जो अभी तक भौतिक संसार का मार्ग निर्धारित करता रहा था। पुराने विज्ञान ने बड़े विश्वास के साथ

कहा था कि प्रकृति केवल एक मार्ग पर चल सकती है, वह मार्ग प्रारंभ से अन्त तक कारण और कार्य की श्रृंखला से निर्मित है। 'अ' दशा के वाद निश्चित रूप से 'व' दशा आती है। अब नया विज्ञान कहने लगा है कि 'अ' दशा के बाद व,स, द या अगणित अन्य दशाएं आ सकती हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'स' से 'ब' दशा की अधिक संभावना है और 'द' से 'स' दशा की। ब, स, द की सापेक्षिक संभावना भी निर्धारित की जा सकती है। किंतु संभावना की बात करने के कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस दशा के बाद कौन सी दशा आयेगी। यह बात देवताओं की इच्छा पर निर्भर करता है, वे देवता कोई भी हों।"[64] हाइजेनवर्ग के शब्दों में– "हम माप के परिणामो से प्रेक्षित वस्तु के गुणों का अनुमान नहीं लगा सकते, यदि कारण नियम से इस बात का आश्वासन न मिला होता कि इन दोनो में स्पष्ट संवंध है।"[65] सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे– "प्रो0 हाइजेनवर्ग ने कहा है कि आधुनिक क्वांटम सिद्धांत अनिर्धार्यता का नियम मानता है। हम अभी तक यह समझते रहे कि प्रकृति सूक्ष्म रूप से निश्चित नियम का पालन करती है, किंतु हाइजेनवर्ग ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रकृति निर्धार्यता का तिरस्कार करती है।"[66] अब यहा यदि आइंस्टीन की बात माने तो वह कहते हैं कि "ईश्वर कभी पासा नहीं खेलता" अर्थात आइंस्टीन सारी सापेक्षिकता के बावजूद कहीं न कहीं निर्धारकता और निश्चितता को स्वीकार किये हुए हैं। वस्तुत आइंस्टीन एक दार्शनिक वैज्ञानिक है। कुर्ट गाडेल ने तो अपनी आइंस्टीन विषयक पुस्तक का नाम ही रखा है– "Albert Einsteen- The Phıolosophe Scientıst" अत· एक ओर उनकी दार्शनिकता सत् और आभास में भेद करने पर बाध्य करती है वहीं दूसरी ओर उनकी वैज्ञानिकता निर्धारकता को छोड़ना नहीं चाहती। निकोलाय हर्टमैन ने आइंस्टीन के सापेक्षिकता सिद्धांत की पूर्वमान्यता, जिसमें प्रकाश के वेग को स्थिर माना है, पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। काल और दूरी जब अन्य तत्व पर आश्रित हो चुके हैं तो प्रकाश के वेग को ही क्यों निरपेक्ष माना जाय? उनके शब्दों में– "उस प्रकाश की चाल की स्थिरता के बारे में हम क्या विचार कर सकते हैं, जिनका अस्तित्व दिक् और काल में माना जाता है जो सापेक्ष हो गये हैं। चाल की स्थिरता का अर्थ यह होता है कि समान अवधियों में समान दूरियां निरन्तर समरूप होती हैं, लेकिन अगर निरन्तर काल और दिक् का विस्तार हो सकता है और वह संकुचित भी हो सकता है, तो समान अवधियां और समान दूरियां कहने का औचित्य

क्या है? यह निष्कर्ष, जो प्रकाश की चाल की निरपेक्ष स्थिरताकी ओर संकेत करता है, एक ऐसी अनिवार्य कठिनाई मे पड़ जाता है कि इस परिणाम से स्थिरता और अस्थिरता की सभावना की पूर्वकल्पनाए समाप्त हो जाती हैं, यह सिद्धांत स्वय अपनी पूर्व कल्पनाओ का अन्त कर देता है।"[67]

हार्टमैन की आपत्तिया निश्चित रूप से सार्थक थीं और सदी के अन्त में ही इस बात की वैज्ञानिक पुष्टि भी हो गयी कि प्रकाश का वेग स्थिर नहीं है। इसी सहस्त्राब्दि वर्ष में डॉ0 लेने हाड ने प्रकाश की गति में नियन्त्रित कमी कर उसे मात्र 01 मी0/से0 तक घटा दिया। दूसरी ओर डॉ0 वान ने सीजियम गैस में प्रकाश की गति में तीन सौ गुनी वृद्धि करके यह प्रदर्शित कर दिया कि प्रकृति में किसी भी चीज की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

अंतत हम एक बार फिर विज्ञान की सीमाओ को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। स्वयं आइंस्टीन ने कहा भी था– "भौतिक सत् के बारे में हमारा विचार कभी भी अंतिम नहीं हो सकता। हमे अपने विचार बदलने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए।"[68] Sidelight of Relativity में वे कहते हैं– "सत् के बारेमें गणित के जो नियम हैं, वे कुछ निश्चित नहीं हैं। जहां तक वे निश्चित हैं, वहां तक वे सत् के सन्दर्भ में नहीं हैं।"[69] हेनरी मारगेनू ने ठीक ही कहा है– "आइंस्टीन के अनुसार सत् कोई ऐसी वस्तु है, जो अकथनीय है। उसे कभी-कभी रहस्यमय और आश्चर्यजनक कहा जाता है।"[70]

यहा आइंस्टीन, मैक्स प्लांक तथा हाइजेवर्ग के मतों की व्यपक विवेचना का उद्देश्य मात्र इतना था कि हम यह देख सके कि जिन आधारभूत सिद्धांतों पर आधुनिक भौतिकी खड़ी है, स्वयं वे ही सिद्धात विज्ञान की सीमाएं भी निदर्शित कर देते हैं। चरम वैज्ञानिकता स्वयं ही वस्तुनिष्ठता का निषेध कर देती है। अतः अस्तित्ववादियों द्वारा विज्ञान का परिसीमन कहीं से अनुचित नहीं था। सर जेम्स जीन्स का यह निष्कर्ष अस्तित्ववादियों से बहुत भिन्न नहीं था कि, "विज्ञान में जो कुछ खोज की गई है या जो कुछ निर्णय निकाले गये हैं, वे सब परिकल्पनात्मक और अनिश्चित हैं। हम इससे अधिक दावा नहीं कर सकते कि विज्ञान से एक धुंधला प्रकाश मिला है। विज्ञान को घोषणाएं करनी छोड़ देना चाहिए। ज्ञान की नदी प्रायः उल्टी बह चलती है।[71]

किंतु हम स्वयं को ज्ञान-विज्ञान से न तो पृथक कर सकते हैं और न ही उसके

महत्व की उपेक्षा कर सकते हैं। हमारा अस्तित्व इस संसार मे स्थित अस्तित्व है, वह दिक्काल परिच्छिन्न अस्तित्व है। अस्तित्ववादियो का व्यक्ति कोई दिक्कालातीत आत्मतत्व नहीं है, अपितु वह स्ट्रॉसन के व्यक्ति की भांति है, जिसमें देह और आत्मा को पृथक करके नहीं देखा जा सकता। भौतिक जगत उसके अस्तित्व के लिए आधार बनता है और उसकी अस्मिता के लिए चुनौती भी बनता है। इस अनत ब्रह्माड में एक साधारण तारे (सूर्य) के एक साधारण से ग्रह (पृथ्वी) का वह एक साधारण प्राणी है। किंतु वह अपनी साधारणता मे भी असाधारण बनने का प्रयास करता है, इस अनत देश-काल के विज्ञान में स्वय को स्थापित करने का प्रयास करता है। कांट ने नैतिकता के आध ार पर मनुष्य को उसकी सत्ता की तुच्छता से ऊपर उठाने का प्रयास किया था। वे कहते हैं- "मन मे दो ऐसी चीजे विद्यमान होती हैं, जिनके प्रति हमे सदैव नूतन श्रद्धा ओर विस्मय बना रहता है- ऊपर तारों से खचित आकाश और भीतर नैतिक नियम। इनमें पहला, अनंत बहुसख्यक जगत का विचार मेरे अस्तित्व को मिटाता है और इसके विरीत दूसरा एक बौद्धिक प्राणी के रूपमें मेरे मूल्य के अत्यधिक ऊपर उठाता है और इस व्यक्तित्व में मेरे मूल्य का अत्यधिक ऊपर उठाता है और इस व्यक्तित्व में मेरे लिए पशुवृत्ति और संपूर्ण इंद्रियगोचर जगत से मुक्त जीवन प्रकट करता है।"[72] लेकिन अस्तित्ववादियो के लिए तो नैतिकता भी शरणस्थली नहीं बन सकती। आस्तिक अस्तित्ववादी जहां धार्मिकता का आश्रय लेते हैं, वहीं नास्तिक अस्तित्ववादी शून्यता या अवस्तुता को ही प्रामाणिक जीवन मान लेते हैं। किंतु दोनों ही जीवन में आंतरिकता के मुद्दे पर सहमत हैं। विज्ञान की बाह्यपरकता और वस्तुनिष्ठता के खिलाफ उनका उद्घोष मूलत इसी कारण है। विज्ञान सत्य है किंतु वह संपूर्ण सत्य नहीं है। वैज्ञानिक जगत हमारे लिए तथ्य है, कितु हमारे सत् का स्वरूप नहीं है। हमारी सत्ता न केवल जगत में निहित है, अपितु वह स्वयं मे भी निहित है। अस्तित्ववाद का व्यक्ति लाइबनित्ज के चिदणु के समान क्षुद्र तो है, किंतु वह सर्वथा गवाक्षहीन और पृथक नहीं है। वह अपने भीतर समस्त जगत को प्रतिबिम्बित करता है। अपने विस्तृत चेतन आयाम तथा अनंत ज्ञान के कारण वह एक ऐसा पिण्ड है जिसमें ब्रह्मांड की प्रतिच्छवि विद्यमान है। मनुष्य की यही तो विशिष्टता है कि वह स्वयं का अतिक्रमण कर सकता है। अपने प्राकृतिक स्तर से अतिक्रमण करने के लिए उसके पास तीन आयाम हैं- बौद्धिक, नैतिक

तथा आध्यात्मिक। जव इन तीनो का मानव जीवन मे संतुलित विकास होता है, तो वह विकास किसी भी स्थिति मे अकल्याणकारी नहीं होता किंतु जब यह विकास एकांगी हो जाता है, तो वह मानवता को विकलांग वना देता है। विज्ञान के कारण मनुष्य की बौद्धिकता का एकांगी विकास हुआ जिससे उसके जीवन का संतुलन भंग हो गया, उसकी लय टूट गयी। परिणाम यह हुआ कि जैसे-जैसे बौद्धिकता वढ़ती गयी, उसकी नैतिकता नष्ट होती गयी, उसकी आध्यात्मिकता विलुप्त होती गयी। और यही कारण है कि वैज्ञानिक विकास के इस उच्चतम शिखर पहं पहुंचने के बावजूद समाज की विध्वंसात्मकता, अनैतिकता तथा विक्षिप्तता मे अहर्निश वृद्धि हो रही है।

अस्तित्ववादियो का विज्ञान-विरोध मूलतः उस सामंजस्यपूर्ण लय को प्राप्त करने के लिए है, मानवता को प्रलय से वचाने के लिए है। वह उस सीमा तक विज्ञान के विरुद्ध नहीं है जहां तक विज्ञान मनुष्य की ज्ञान संपदा को समृद्ध करता है, किंतु जब वह मनुष्य के आत्मज्ञान मे बाधक सिद्ध होने लगता है तब वह उसके विरुद्ध हो जाता है।

यहां इस अध्याय के अन्त में हमें इस प्रश्न पर भी संक्षिप्त विचार कर लेना अपरिहार्य हे कि क्या अस्तित्ववाद का विज्ञान विरुद्ध होना अपरिहार्य है? मेरा इस विषय में यह मानना है कि अस्तित्ववाद एक गतिशील और प्रगतिशील अवधारणा है। कीर्केगार्ड से कामू तक की वैचारिक यात्रा में इस दर्शन ने अनेक रूप परिवर्तित किये हैं। पास्कल और कीर्केगार्ड के दर्शन में अस्तित्ववाद जहां केवल आध्यात्मिक था, वहीं सार्त्र और कामू के दर्शन मे वह सामाजिक अस्तित्ववाद बन गया। कभी मनोविज्ञान के विरुद्ध रहे अस्तित्ववादी भी आज स्वयं मनो वैज्ञानिक अस्तित्ववाद के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। अमेरिकन मनोवैज्ञानिक आलपोर्ट द्वारा प्रतिपादित Functional Autonomy सिद्धांत मनोविज्ञान में अस्तित्ववादी प्रभाव का ही परिणाम है। प्रो0 जे0 पी. चेपलेन की पुस्तक "System and Theories of Psychology" में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि आधुनिक मनोविज्ञान पर सर्वाधिक प्रभाव अस्तित्ववाद का ही है। इसी प्रकार कीर्केगार्ड, मार्टिन व्यूबर तथा मार्सल के अस्तित्ववाद में मुख्य बल 'सत्' की खोज पर था, किंतु हुसर्ल की 'फेनोमेनोलॉजी' के प्रभाव में आकर सार्त्र और मॉरिस मार्लियो पोन्ती का अस्तित्ववाद 'सत्' की बजाय संवृत्ति पर केन्द्रित हो गया;

फिर हाइडेगर की Hermeneutical Phenomenology मे अस्तित्ववाद आभास में सत् की खोज पर केन्द्रित हो गया। आधुनिक युग मे अस्तित्ववाद धीरे-धीरे मानववाद का रूप ले चुका है, उसका व्यक्तिवाद क्रमश. विश्वबन्धुत्ववाद की ओर अग्रसर है। मैं आशा करता हूं कि आज का वैयक्तिक अस्तित्ववाद जब भविष्य मे सार्वभौम सह-अस्तित्ववाद का रूप ले लेगा, तब उसे विज्ञान के विरोध की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी, तव वह स्वयं वैज्ञानिक अस्तित्ववाद का रूप ले लेगा। जब ढाई हजार वर्षों के उपरान्त प्लेटो का परिकल्पनात्मक साम्यवाद मार्क्स के दर्शन में वैज्ञानिक साम्यवाद का रूप ले सकता है, तो मात्र सौ वर्षो मे इतनी प्रगति करने वाला अस्तित्ववाद क्या निकट भविष्य में वैज्ञानिक अस्तित्ववाद का रूप नहीं लेगा? संभव है कि तब तक विज्ञान ही स्वयं इतनी अंतर्मुखी प्रगति कर ले कि वह स्वयमेव अस्तित्ववाद के अनुरूप हो जाय। आधुनिकतम विज्ञान के चरम निष्कर्षो को देखते हुए असंभव नहीं अपितु पूर्णत. निश्चित भविष्य प्रतीत होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 चेज, स्टुअर्ट, 'द प्रॉपर स्टडी ऑफ मैनकाइन्ड, 1956, पृ0 6

2 पियर्सन, कार्ल, 'द ग्रामर ऑफ साइन्स', पृ0 12

3 मसीह, याकूब, 'पाश्चात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या', पृ0 192

4 शर्मा, चन्द्रधर, 'पाश्चात्य दर्शन , पृ0 84

5. मसीह, याकूब, 'पाश्चात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या', पृ0 193

6. वही, पृ0 189

7 विण्डलबैंड, 'हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी', पृ0 385

8 वही, पृ0 174

9 दयाकृष्ण (सपादक) – 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' खंड 2,पृ0 5

10 जलालुद्दीन, ए0 के0 और उत्पल मल्लिक द्वारा सपादित – 'साइंस एण्ड मैन –एन एथोलॉजी', एनसीईआरटी, पृ0 27

11. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, 'सामाजिक विचारधारा', पृ0 56

12 कैम्ब्लीस, रोलिन, 'सोशल थॉट 1954, पृ0 399

13 पियर्सन कार्ल, 'द ग्रामर ऑफ साइस, ए एण्ड सी ब्लैक, लन्दन 1911, पृ0 6

14 मार्टिण्डेल, डी0 और मोनाकेसी, ई0, 'एलिमेट्स ऑफ सोशियोलॉजी', हार्पर एण्ड ब्रॉस, न्यूयार्क, 1951,पृ0 24

15 थोनलेस, आर0एन0 'द स्टडी ऑफ सोसाइटी', पृ0 125

16 वोल्फ, ए0, 'इसेसियल्स ऑफ सांइटिफिक मेथड', पृ0 15

17 नेहरू, जवाहर लाल, 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ0 706

18. बैरेट विलियम द्वारा उद्धृत, 'फिलॉसफी इन द ट्वेन्टीथ सेंच्युरी – एन एन्थोलॉजी', पृ0 193

19. पांडेय, संगमलाल–'विज्ञान दर्शन (लेख) सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र सभाजीत द्वारा संपादित पुस्तक 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन' के अंतर्गत पृ0 221

20 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 30

21. वही, पृ0 32

22. पैट्रिक, जी, 'लाइफ एण्ड वर्क ऑफ सर जगदीश चन्द्र बोस, 1920पृ0 228

23 हक्सले, जूलियन, 'एसेज ऑफ ए बॉयोलॉजिस्ट', लन्दन 1923 पृ0 173

24 वही, पृ0 176

25 हक्सले, जूलियन, 'द लिसनर' खंड 46, पृ0 878

26 रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 20

27 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष' पृ0 39

28. हॉकिग, स्टीफेन, 'समय का संक्षिप्त इतिहास', पृ0 183

29 रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 18,19

30 पियर्सन, कार्ल, 'द ग्रामर ऑफ साइंस', 1911, पृ0 1

31 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष' पृ0 394

32 वही, पृ0 559

33 मैरे फिलिप, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका, पृ0 22

34 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'कंक्लूडिग अनसांइटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट', पृ0 492

35 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'ट्रेनिंग इन क्रिश्चियनिटी' पृ0 47

36. बेबर, मार्टिन, ' आई एण्ड दाउ', पृ0 30

37 मार्सल, गैब्रियल, 'बीइंग एण्ड हैविग', पृ0 199

38. भद्र, एम0के0, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 438

39. वही, पृ0 438

40. ब्लैकहम, एच0जे0, 'सिक्स ऐक्जिशर्टेशियलिस्ट थिंकर्स', रोंटलेज एण्ड केगन पॉल, लंदन पृ0 45

41 शिल्प, पी0ए0(सं0), 'द फिलॉसोफी ऑफ कार्ल जैस्पर्स', पृ0 126

42 भद्र, एम0 के0 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशर्टेशियलिज्म', पृ0 438

43. जैस्पर्स, कार्ल, 'फिलॉसोफी', खंड 11, पृ0 18

44 रूबिचेक पॉल,अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 161

45. आइंस्टीन, अल्बर्ट, 'आउट ऑफ माई लैटर इयर्स', फिलॉसोफिकल लाइब्रेरी, न्यूयार्क, 1950 पृ0 21

46 रसेल, वर्ट्रेड, 'विज्डम ऑफ द ईस्ट', डनब्लेडे एण्ड कंपनी, न्यूयार्क, 1959, पृ0 312

47. आइन्स्टीन, अल्बर्ट, 'आउट ऑफ माई लैटर इयर्स', पृ0 26

48. गार्डिमर, नादिन, 'द वर्ल्ड ऑफ साइंस'. पृ0 32

49. वही, पृ0 47

50 मसीह, याकूब, ' पाश्यात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या' पृ0 191

51 स्टूअर्ट, टी0एल0 द्वारा उद्धृत, 'गोल्डेन स्टेटमेंट्स फॉर गोल्डेन फ्यूचर', पृ0 13

52 बर्डियेव, निकोलस, 'सोलिट्यूड एण्ड सोसाइटी', लदन 1947, पृ0 39

53 सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 194

54 आइंस्टीन, अल्बर्ट, 'आउट ऑफ माई लैटर इयर्स', पृ0 26

55. सार्त्र, जे0पी0, 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस', मैथ्यू एण्ड कॉर्पोरेशन लिमिटेड, यू0पी0वी0 लंदन पृ0 22

56 जीन्स, जेम्स 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स', पेंगुइन बुक्स लिमिटेड, 1940, पृ0 121

57 वही, पृ0 127

58 जीन्स, जेम्स, 'फिजिक्स एण्ड फिलॉसोफी', पृ0 199

59 जीन्स, जेम्स, 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स', पृ0 144

60 जीन्स, जेम्स, ' फिजिक्स एण्ड फिलॉसोफी', पृ0 193

61 हाइजेनबर्ग, ' फिलॉसोफिक प्रॉब्लेम्स ऑफ न्युक्लिर साइंस', लदन 1952 पृ0 93

62. रूबिचेक बॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 32

63 वही, पृ0 5

64. जीन्स, जेम्स, 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स', पृ0 32

65. हाइजेनबर्ग, डब्ल्यू, 'फिलॉसोफिक प्रॉब्लेम्स ऑफ न्यूक्लियर साइंस', पृ0 20

66. जीन्स, जेम्स, 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स', पृ0 38

67 हार्टमैन, एन0, ' फिलॉसोफिक दर नेचर', बर्लिन 1950 पृ0 246

68 आइंस्टीन, अल्बर्ट, ' द वर्ल्ड एज आइ सी इट', पृ0 60

69 पॉल आर्थर शिलप द्वारा उद्धृत – 'अल्बर्ट आइंस्टीन : फिलॉसोफर साइटिस्ट, 1951 में पृ0 250

70. मॉर्गन, एच0, 'आइंस्टीन' स कंसेप्शन ऑफ रियलिटी', पृ0 218

71. जीन्स, जेम्स, 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स', पृ0 188

72. कान्ट, इमान्युएल, 'क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन एण्ड अदर वर्क्स ऑन द थ्योरी ऑफ इथिक्स, लंदन, पृ0 260

अध्याय : 6

ध[illegible]

ओ[illegible]

अ[illegible]त्ववा[illegible]

अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि के रूप में हमे धर्म की भूमिका को उतना ही महत्व देना होगा जितना विज्ञान को। सामान्यतया अस्तित्ववाद को विज्ञानवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप मे देखा जाता रहा है, धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे नहीं। इसका कारण यह रहा है कि अस्तित्ववाद में आस्तिक ईश्वरवादी अस्तित्ववादियों की एक सुदीर्घ परंपरा रही है जिनमे प्रारभिक अस्तित्ववादी कीर्केगार्ड से लेकर आधुनिक अस्तित्ववादी यास्पर्स तक आते हैं। इस कारण धर्म के आधार पर अस्तित्ववाद की कोई व्यावर्तक विशेषता स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

किन्तु यदि हम गहन विवेचन करें, तो पायेंगे कि अस्तित्ववाद केवल विज्ञान और बुद्धिवाद के ही विरुद्ध नहीं, अपितु परंपरागत धर्म और रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताओं के भी विरुद्ध रहा है। यदि आस्तिक अस्तित्ववादियों की दृष्टि से भी देखें, तो ये अस्तित्ववादी धर्म पुनर्संस्थापक ही नहीं, अपितु धर्मसुधारक के रूप में भी सामने आयेगे। इन अस्तित्ववादियों के दर्शन मे धर्म अधिकाधिक आध्यात्मिक स्वरूप में मंडित होता नजर आयेगा। वे जीवन की चिन्ताओं और द्वन्द्वमात्र के निराकरण के लिए धर्म की शरण में जाते नहीं दिखेंगे अपितु प्रेम करुणा, अन्तसनुभूति जैसी संवेदनशील भावनाओ की स्थापना हेतु धर्म की उपयुक्तता सिद्ध करेंगे। यह अलग बात है कि नास्तिक अस्तित्ववादी के रूप में उसका दूसरा वर्ग धर्म और ईश्वर के विरोध मे अत्यधिक विद्रोहपूर्ण दृष्टि प्रतिपादित करता नजर आता है। नीत्शे से लेकर सार्त्र और कामू तक यह विरोध अत्यन्त मुखर है। इस प्रकार इन दोनों वर्गो मे एक प्रकार का स्पष्ट विभाजन है, इस मुद्दे पर पूर्णत द्वैत की स्थिति बनी हुई है।

जो भी हो, अस्तित्ववादी चाहे धर्म के विरुद्ध हो या पक्ष में, दोनों ही स्थितियों में हमें पृष्ठभूमि के रूप मे धर्म का विवेचन करना अपरिहार्य हो जाता है। इस विवेचन से पूर्व सर्वप्रथम हमे धर्म की परम्परागत मान्यताओं अथवा उसके व्यावहारिक स्वरूप ने पर विचार कर लेना होगा।

वस्तुतः धर्म आदि काल से मानव जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिवृत्ति के रूप में विद्यमान रहा है। यदि सरल भाषा में इसे परिभाषित करें तो धर्म मनुष्य की किसी अलौकिक सत्ता के प्रति संवेगात्मक, श्रद्धापूर्ण, सम्प्रदायबद्ध या कर्मकाण्डयुक्त

उपासना पद्वति है। इस व्यापक अभिवृत्ति में आस्थां का प्राधान्य होता है, जिसकी अभिव्यक्ति पूजा-पाठ, जप-तप, अर्चन-वन्दन, भक्ति-कर्मकाण्ड, विधि-विधानादि के रूप में होती है। यहा हम धर्म को सामान्य साम्प्रदायिक और प्रचलित अर्थो में ले रहे हैं न कि आध्यात्मिक और अव्याकृत अर्थों मे। इस रूप में धर्म वस्तुतः सरल प्रत्यय नहीं अपितु एक जटिल तथा व्यामिश्रपूर्ण प्रत्यय है। इसमें केवल आस्था, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, आश्वासन जैसे भाव ही नहीं होते, अपितु भय और लोभ, काम, और हिसा जैसी वृत्तियां भी समाहित होती है। इसके साथ-साथ इसमें विभिन्न प्रतीकों अन्धविश्वासो, मूल्यों, विधाने, संस्कारों, विज्ञानो आदि का भी व्यामिश्र होता है।

आपने प्रारम्भिक अवस्था मे धर्म में यह व्यामिश्र प्राय अधिक होता हैज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ इसमें पहले के अन्तर्निहित विषय धीरे-धीरे स्वतंत्र होते जाते हैं। आधुनिक काल के आगमन के साथ-साथ दर्शन, नैतिकता, विधि, ज्योतिष, चिकित्सा आदि विषय क्रमश धर्मके क्षेत्र से पृथक होकर अपनी स्वतत्र सत्ता स्थापित करते गये। इस कारण व्यवहार में धर्म की सत्ता बने रहने पर भी उसकी व्यापकता में कमी आती गयी। धर्म के जिन वैज्ञानिक उपकरणोंके माध्यम से अवैज्ञानिक रूढ़ितंत्र को संचालित किया जाता था, उन्हें अब संचालित रख पाना कठिन हो गया। यही नहीं अपितु धर्म के अधीन रहे यही उपकरण धर्म के लिए एक चुनौती बन गये। मनोविज्ञान, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि की ओर से धर्म की मान्यताओं को निरन्तर चोट पहुंचने लगी। फ्रायड ने धर्म को मानसिक भ्रम सिद्ध किया। उनके शब्दों में- "वे (धार्मिक मान्यताएं) भ्रम हैं, जो मानवता की सर्वाधिक प्राचीन, सर्वाधिक शक्तिशाली तथा सर्वाधिक आग्रहपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति हेतु सर्जित हैं।"[1] मनुष्य ने आदिमकाल में प्राकृतिक आपदाओ तथा शारीरिक व्याधियों और मृत्यु से त्राण पाने हेतु एक अतिप्राकृतिक शक्ति की परिकल्पना कर ली, जो उसे इन आपदाओ और विपदाओं से मुक्ति का, झूठा ही सही, एक आश्वासन दे सकती थी। उनके शब्दों में- "प्रकृति अपनी प्रबल, निर्मम तथा कठोर शक्तियों के साथ हमारे सामने उठ खड़ी होती है। किन्तु मानव की कल्पना इन्हें परिवर्तित कर रहस्यमयी शक्तियों का रूप दे देती हैं।[2] प्रकृति के समक्ष मनुष्य की यह एक सार्वभौम प्रवृत्ति है, अतः धर्म भी मानवता की चेतना को जकड़ लेने वाली सार्वभौम मानसिकता है।"[3]

फ्रायड ईसाई – यहूदी परम्परा में परमपिता के रूप में स्वीकृत ईश्वर की अवधारणा को व्यक्ति द्वारा बाल्यावस्था मे प्राप्त पिता की छत्रछाया का ही अलौकिकीकरण मानते हैं। उनके अनुसार पालने मे से जो चेहरा हम पर मुस्कराता था, आज वह अनन्त विस्तार पाकर स्वर्ग से मुस्करा रहा है।[4] अर्थात् बाल्यावस्था में मनुष्य ने पिता के माध्यम से जो सुरक्षा पायी, उसे ही वयस्कावस्था में वह ईश्वर रूपी परमपिता के रूप में अपनी कल्पना से प्रक्षेपित कर लेता है।

फ्रायड की धर्म के विरोध में यह चुनौती सशक्त साबित हुई मनोविश्लेषण के विकास के बाद इसकी बड़ी सीमा तक पुष्टि भी हुई। धर्म को दूसरी प्रबल चुनौती समाजशास्त्र की ओर से मिली। इस शताब्दी के प्रारंभ में एमाइल दुर्खीम ने धर्म के सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट किया। जिस प्रकार फ्रायड ने पिता की छत्र–छाया के अतिप्राकृतिकरण को ईश्वर की कल्पना का आधार बताया था, उसी प्रकार दुर्खीम ने समाज की छत्र–छाया के अतिप्राकृतिकरण को इस कल्पना का आधार बताया। उनके अनुसार "देव, जिनकी लोग पूजा करते हैं, वह समाज द्वारा एक उपकरण के रूप में अचेतन ढंग से निर्मित काल्पनिक प्राणी हैं, जिनके द्वारा समाज व्यक्ति के विचारों तथा व्यवहार पर नियन्त्रण करता है। पुरुष तथा स्त्री इस धार्मिक भावना से भरे होते हैं कि वे एक उच्चतर सत्ता के समक्ष खड़े हैं, जो उनके वैयक्तिक जीवन से परे हैं तथा उन पर अपने संकल्प की छाप नैतिक आदेश के रूप में डालती है तो वे वास्तव में एक वृहत्तर पर्यावृत करने वाली सत्ता की उपस्थिति में हैं। यह वास्तविकता एक अतिप्राकृतिक सत्ता नहीं है, यह समाज का एक प्राकृतिक तथ्य है।...... तब यह समाज ही व्यक्ति के विरुद्ध एक विशाल पर्यावृत करने वाली सत्ता के रूप में एक वास्तविक परमेश्वर है, जिसका अस्तित्व किसी के लघु जीवन से बहुत पहले से था तथा जीवन के तिरोभाव अर्थात् विलुप्त होने के पश्चात् भी बने रहने के लिए नियत है, जो उस मूर्त सत्ता की स्थापना करता है, जिसको हमने ईश्वर के रूप में चित्रित किया है।[5]

किन्तु अन्ततः दुर्खीम स्वीकार करते हैं कि सामाजिक जीवन का सहभागितापूर्ण मूल्यों और नैतिक विश्वासो के बिना हो पाना असंभव है। ये मूल्य और विश्वास 'सामूहिक चेतना' के रूप में होते हैं और इनके बिना सामाजिक आदेश, नियंत्रण, एकता या सहयोग का रह पाना असंभव है। संक्षेप में, इनके बिना समाज का ही हो पाना

असंभव है। धर्म इसी सामूहिक चेतना को आधारभूत वंधन प्रदान करता है।[6]

किन्तु मार्क्स इन सबसे भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। वे धर्म की व्यापकता को मानते हुए भी इसे विकास मे बाधक तथा सामाजिक परिवर्तन का अवरोधक मानते हैं। धर्म उनके लिए अधिसंरचना (Superstructure) है जो अर्थ रूपी अध सरचना (Substructure) के अनुरूप होती है। यह झूठे आश्वासन देकर शोषण और दमन चक्र को चलाये रखने मे सहायता देता है। उनके अनुसार- "धर्म सताये हुए प्राणियों का रुदन है, निर्दय विश्व का हृदय है, नितान्त अध्यात्मीयु परिस्थितियो की आत्मा है। यह गरीबों की अफीम है।[7] ईश्वर का विचार अधम सभ्यता की आधारशिला है।

मार्क्स के अनुसार धर्म मनुष्य की पीड़ओं को भ्रान्तिपूर्वक कम कर देता है और फलत पीड़ित-शोषित व्यक्ति कोई क्रान्ति, कोई विद्रोह कोई वर्ग संघर्ष नहीं कर पाता है। सर्वप्रथम तो यह एक मरणोपरान्त स्वर्ग की भ्रांति बनाता है। दूसरे यह दुःख और पीड़ा को उन धार्मिक मूल्यों मे रख देता है, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तीसरे यह दु.ख और पीड़ा में ईश्वर के हस्तक्षेप द्वारा मुक्ति की भ्रान्ति बनाता है तथा चौथे यह सामाजिक विसगति को ईश्वरकृत या नियतिकृत बताकर शोषण की सामाजिकता को वैधता प्रदान कर देता है। उदाहरणार्थ विक्टोरियन युग की निम्न कविता

The rich man in his castle

The poor man at his gate

God made them high and lowly

And ordered their estate

इस प्रकार मार्क्स यह दिखाते हैं कि धर्म शोषण प्रतिकार के विरुद्ध होकर न केवल शॉक-एब्जोर्बर का काम करता है अपितु यह शोषण के उपकरण का भी काम करता है। वे कहते हैं- "धर्म एक ऐसा काल्पनिक सूर्य है जो मनुष्य के चारों ओर तब तक घूमता रहता है जब तक मनुष्य स्वयं के चारों ओर न घूमने लगे।"[8]

लेनिन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है- "धर्म आत्मिक दमन का वह रूप है जो दूसरों के लिए सतत् कार्य अभाव तथा अलगाये जाने से अतिभारित

जनता के समूहो पर सर्वत्र अधिक वजन डालता है। शोषक वर्ग के विरुद्ध शोषित वर्गो के संघर्ष में उनकी असफलता अपरिहार्य रूप से उसी प्रकार मृत्यु के वाद अच्छे जीवन मे विश्वास उत्पन्न करती है जिस प्रकार आदिम मानव की प्रकृति से लड़ाई में उसकी अक्षमता देवताओ, राक्षसो, चमत्कारो तथा ऐसी ही अन्य चीजो मे विश्वास को जन्म देती है।[9]

मार्क्स के ही समकालीन ऑगस्ट काम्टे ने मनुष्य की विचारधारा को विकासात्मक स्तरों के रूप मे निदर्शित किया। काम्टे के अनुसार मानव इतिहास मे उसके बौद्धिक विकास के स्पष्टत तीन स्तर रहे हैं –[10]

1. धार्मिक स्तर

2. तात्विक स्तर

3. प्रत्यक्षवादी स्तर

उनके अनुसार प्रथम अवस्था मे मनुष्य समस्त अज्ञात घटनाओ मे अतिप्राकृतिक कारणो की परिकल्पना करता है। द्वितीय अवस्था मे वह उनके लिए अमूर्त दार्शनिक कल्पनाए करता है किन्तु तृतीय अवस्था मे वह उनकी वैज्ञानिक, यथार्थ तथाप्रत्यक्ष परक व्याख्या ही स्वीकार करता है। उन्होंने धार्मिक स्तर की भी तीन उपस्तर किये-

क. फिटिशवाद

ख. अनेकेश्वरवाद

ग. एकेश्वरवाद

काम्टे के अनुसार प्रारंभिक दोनो स्तर मात्र हमारे ज्ञान-विज्ञान की अपूर्णता के ही द्योतक हैं और ज्ञान के विकास के साथ-साथ प्रत्यक्षवादी व्याख्या ही सत्य मान ली जाती है। काम्टै की इस प्रत्यक्षवादी व्याख्या को वैज्ञानिक पद्धति की रूप माना जाता है। ध्यातव्य है कि मार्क्स और काम्टे ये दोनों समकालीन विचारक प्रत्यक्षवाद, विकासवाद और वैज्ञानिकता के क्षेत्र में अप्रत्याशित रूप से समान मत रखते हैं और दोनों का ही मानव ज्ञान-विज्ञान के विकास में क्रान्तिकारी योगदान रहा है। अपने-अपने स्तर पर दोनों ने धर्म की नींव हिला दी। मार्क्स की दृष्टि में धर्म कूटनीतिपूर्ण शोषण यत्र था,

तो काम्टे की दृष्टि मे यह हमारी अज्ञानता का एक स्तर था। इन दोनो विचारको ने धर्म का ऐतिहासिक दृष्टि से गहन अध्ययन तथा विवेचन भी किया था। केयर्ड ने धर्म के ऐतिहासिक विवेचन की महत्ता को निदर्शित करते हुए कहा है– ''धर्म का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी होना चाहिए। हमे यह देखना है कि किस प्रकार धर्म आरम्भ से ही मनुष्य के जीवन में आकस्मिक शक्ति के रूप मे कार्य करता रहा है।''[11] सुमनेर तथा केलर ने अपनी कृति The Science of Society मे धर्म की उत्पत्ति के मूल मे आकस्मिकता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार आदिम मानव दुर्भाग्य की समस्या से बहुधा संत्रस्त रहता था। आकस्मिक रूप से मानव मन में यह विचार आया कि अतिप्राकृतिक शक्तियों के करण ही वह दुर्भाग्य का शिकार वनता है। इस तरह धर्म अतिप्राकृतिक और रहस्यमय शक्तियो से तालमेल बैठाने के प्रयास के रूप में उत्पन्न हुआ।[12]

इन सभी प्रमुख मतो ने धर्म का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विश्लेषण कर यह दिखा दिया कि धर्म चाहे एक व्यापक अभिवृत्ति हो किन्तु यह कोई अनिवार्य तथा वस्तुनिष्ठ अभिवृत्ति नहीं है। सारे धर्मशास्त्र मानव की अज्ञानता के शास्त्र हैं और उसकी निरन्तर अज्ञानता ही बढाते रहते हैं। धर्म ने निश्चित तौर पर कुछ अच्छे मूल्य भी प्रतिपादित किये हैं किन्तु ये मूल्य धर्म से स्वतंत्र भी हो सकते हैं। इन मूल्यो के आध ार पर धर्म की सत्यता और उपादेयता नहीं सिद्ध की जा सकती है।

विज्ञान के विकास के साथ धर्म के ह्रास का भी युग आ गया। विज्ञान ने प्रारंभ मे धर्म से पग-पग पर सघर्ष कर अपनी सत्यता स्थापित की। इसमें अनेक वैज्ञानिकों और विचारको को प्राणो की आहुति भी देनी पड़ी। अन्तत· विजय विज्ञान की हुई। विज्ञान को सीधे-सीधे प्रत्येक धार्मिक अवधारणा से टकराना नहीं पड़ा, अपितु सत्यों की खोज के साथ ही धार्मिक असत्य स्वयं ही ध्वस्त होने लगे। *जॉन हिक* के शब्दों मे ''विज्ञान की उन्नति तथा धर्मशास्त्रो की अवनति के परस्पर गुंथे लम्बे इतिहास की और अधि ाक सामान्य पैतृक सपदा, जो हमारी 20वी शताब्दी में पाश्चात्य विश्व के विचारों के वातावरण का भाग है, की मान्यता है कि यद्यपि विज्ञान ने विशेषकर धर्म के दावों को असिद्ध नहीं किया है, परन्तु विश्व के बारे में उसने इतने तथ्य उजागर कर दिये हैं

कि (बिना किसी स्थान पर धर्म का विरोध किये) आस्था को अब मात्र हानिरहित निजी कल्पना की भांति माना जाता है। धर्म को अब एक क्षयमान कारण के रूप मे देखा जाता है, जो मानव ज्ञान के अधिक से अधिक क्षेत्रो में से निकाले जाने के लिए नियत है।[13]

आधुनिक युग के आगमन के साथ धार्मिक आस्था दुर्बलतर होती गयी। भौतिक सुख-सुविधाओ के विकास और जीवन की बढ़ती व्यस्तता तथा जटिलता ने मानवीय आन्तरिकता की उपेक्षा कर दी। धर्म के क्रियाकाण्डो की अवैज्ञानिकता और निरर्थकता ने उसकी अस्मिता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। महायुद्धों की विभीषिका से जूझते मानव को अब धर्म में त्राण की उम्मीद न रही। असुरक्षा, अनिश्चितता, अप्रत्याशितता की आशंकाओ मे कंपित मानवता को जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगा। उसे लगा जीवन निरर्थक और निराधार है। धर्म, नैतिकता, मूल्य, आदर्श- सभी झूठे हैं।

किन्तु अस्तित्वावादियो के एक वर्ग को इस स्थिति में धार्मिकता का एक पक्ष अनिवार्य मालूम पड़ा और वह पक्ष था उसकी आध्यात्मिकता का, उसकी आन्तरिकता का उसकी रहस्यात्मकता का। अस्तित्व अनुभूति का विषय है, व्यक्तिनिष्ठ आंतरिक अनुभूति का विषय। इन अस्तित्ववादियो को लगा कि धर्म ही इस आतरिक अनुभूति तक पहुंचने का सर्वोत्तम मार्ग हो सकता है। धार्मिक अनुभूति अपनी गहनता मे अस्तित्तवानुभूति बन सकती है। धार्मिक रहस्यवाद अस्तित्व की रहस्यात्मकता का एक सोपान बन सकता है। विज्ञान की वस्तुपरकता और भौतिकता का प्रतिकार इस माध यम से सर्वोत्तम हो सकता है। इसी कारण हम प्रायः सभी आस्तिक अस्तित्तवादियों में आस्था का मण्डन तथा जीवन की रहस्यात्मकता का निदर्शन पाते हैं। गैब्रियल मार्सल ने कहा भी है कि मानव अस्तित्व की विशिष्टताओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसे समस्यात्मक रूप में नहीं, अपितु रहस्यात्मक रूप में देखा जाय। समस्यात्मक दृष्टि सर्वदा बाह्य तथा वस्तुपरक होती है। यह सूचनाएं प्राप्त करने की, जानने की अर्थात् मात्र जिज्ञासापरक दृष्टि है। रहस्यात्मक दृष्टि आंतरिक तथा आत्मपरक होती है। यह जीवन को अनुभूत करने की, उसे जीने की अर्थात् बोधपरक दृष्टि है। मार्टिन ब्यूबर ने इन्हीं दोनों दृष्टियों को संबंधात्मक कोटियों मे रखते हुए क्रमशः 'मैं-यह-संबंध' तथा

'मैं-तू-सबंध' की सज्ञा दी है। यह मोटे तौर पर हमारी वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ विधियो के बीच भेद के समान ही है, किन्तु इससे इस भेद को स्पष्ट करने और आत्मनिष्ठ विधि की और सरल व्याख्या करने में काफी सहायता मिलती है।'[14] व्यूवर के शब्दो मे 'प्राथमिक शब्द मैं-यह' मेरी समग्र सत्ता के प्रति नहीं कहा जा सकता जवकि प्राथमिक शब्द 'मैं-तू' केवल समग्र सत्ता के लिए बोला जा सकता है।[15] जब हम किसी से 'यह' के साथ जुड़ते हैं तो वहाँ ज्ञान हम से स्वतत्र तथा बाह्य होता है कितु जब हम 'तू' के साथ जुड़ते हैं तो एक जीवन्त संबध होता है जिसमे हम एक दूसरे से प्रभावित तथा अन्तर्संबद्ध होते हैं, मार्सल इसी 'मैं-तू' सबध को 'मैं-परमात्म -तू' से जोड देते हैं।

ईसाई धर्म की मूल त्रयी (Trinity) पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा- भी मूलत इसी मैं-तू तथा 'मैं-परमात्म-तू' के संबंध से जुडी हैं। यह सबध एक प्रकार का प्रेम सबध है जिसके लिए कोई तर्क कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ये तर्क और प्रमाण संभवहै, ऐसे विश्वास के विरुद्ध जायें या यह संभव है कि इसमें स्वयं कोई असंगति हो, किन्तु जब हम तमाम असगतियों और तार्किक भूलों के बावजूद इसमें विश्वास करते हैं तो हमारी आस्था मे एक बल होगा, उसमे एक आन्तरिक गहनता होगी। कीर्कगार्ड कहते हैं- यदि कोई उक्त त्रयी मे वैसा ही विश्वास करने लगे, जैसा कि वह गुरुत्वाकर्षण बल मे करता है तो उसका विश्वास सत्य हो सकता है अथवा तार्किक प्रतीत हो सकता है किन्तु वह जीवन का पथ नहीं बन सकता।[16]

सोरेन कीर्केगार्ड, ब्लेजी पास्कल, निकोलस बर्डियेव, गेब्रियल मार्सल, कार्ल यास्पर्स- इन सभी आस्तिक अस्तित्ववादियो में हम अस्तित्व की रहस्यात्मकता के प्रति, आस्था के प्रति, धर्म के प्रति विशेषतः ईसाईयत के प्रति यही दृष्टिकोण, कमोवेश एक सा स्वर पाते हैं। इनमें एपोलोजिटिक्स (Aplogetics) (ईसाई धर्म का विज्ञानानुकूल मण्डन करने वाला वर्ग) की भांति धर्म के तार्किक पुनर्निर्माण की प्रवृत्ति नहीं है, अपितु धर्म में आन्तरिकता और गहनता के उभारने की प्रवृत्ति है। एक दृष्टि से ये सभी परम्परागत ईसाईयत् के विरुद्ध भी हैं। कीर्केगार्ड ने तो एक पुस्तक ही लिखी है- "Attack upon Christiandom" । कीर्केगार्ड वस्तुतः ईसाई धर्म की साम्प्रदायिकता, चर्चशाही, व्यर्थ खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के आलोचक हैं। वे ईसाईयत के बन्धुत्व और

प्रेम उसकी आन्तरिकता और रहस्यात्मकता के प्रशसक हैं। वे जीसस को इस उदात्त भावना के प्रवर्तक के रूप मे ही इतना महत्व देते हैं।

कीर्केगार्ड के अनुसार ईसाई धर्म ने जीसस का जो चित्र और चरित्र रेखाकित किया वह उनका वास्तविक स्वरूप नहीं है और इस कारण वे न तो जीसस के उपदेशो को ठीक ढंग से समझ पाते हैं और न ही ईश्वर के स्वरूप को। उनकी दृष्टि में ईश्वर का ईसा के पिता के रूप मे संबधित होना मूलत ईश्वर से गहन आन्तरिक संवध तथा अटूट आस्था का द्योतक है। यह सबध तर्क से परे है, बुद्धि की कोटियो से अज्ञेय है, किन्तु ईसाईयत् को साम्प्रदायिक रूप देने वालों तथा उसका दार्शनिक रूप प्रस्तुत करने वालो ने इन्हे बुद्धि के साँचे मे बिठाने का प्रयत्न किया है, उनके उपदेशां को सिद्धातों का रूप देने का प्रयास किया है। उनके अनुसार "विचार और प्रमाण ईसाईयत की अवधारणा के अग नहीं हैं। आस्था को इनकी जरूरत नहीं, बल्कि ये उसके लिए बाधक ही सिद्ध होते हैं। ईसाईयत सिद्धांतों का सकलन नहीं अत॰ इसे न तो सत्य प्रमाणित किया जा सकता है और न बौद्धिक बनाया जा सकता है। उनके अनुसार ईसाईयत की मुख्य समस्या ईसाईयत की सत्यता स्थापित करना नहीं अपितु व्यक्ति को ईसाईयत से संबंधित करना है- अनत आकांक्षित व्यक्ति का सबध।"[17]

कीर्केगार्ड हमे धर्म के माध्यम से अस्तित्व की गहराइयों की अनुभूति कराना चाहते हैं। धार्मिकता उनके लिए मान्यता नहीं, आन्तरिक गहनता है। महत्व इस बात का नहीं है कि आस्था का विषय क्या है अपितु इस बात का है कि आस्था में गहनता कितनी है। ईसाक और अब्राहम की प्रसिद्ध कथा मे वे अब्राहम द्वारा ईश्वरीय आदेश पर ईसाक के बलिदान की तत्परता के माध्यम से यह दिखाना चाहते हैं कि हमारी आस्था की यह गहनता, जिसमे हमारे विश्वास का कोई व्यावहारिक, तार्किक या नैतिक आधार न हो, ही हमारे अस्तित्व को परम अस्तित्व से जोड़ती है। सारी नैतिकता और सामाजिकता से असंगत होने पर भी अखंड श्रद्धा बनाये रखना निश्चित ही एक गहन उपलब्धि है। Concluding Unscientific Postscript मे वे कहते हैं कि एक तर्कतः संगत सिद्धांत को स्वीकार करना सरल है, कोई भी व्यक्ति तार्किक और प्रामाणिक विश्वासों को स्वीकार कर सकता है क्योंकि इसमें विशेष ऊर्जा की जरूरत नहीं होती।

किन्तु जब विश्वास अत्यन्त असंगत होता है, तो यह गहरी भावनात्मकता की मांग करता है। यह भावनात्मक गहनता ही धार्मिकता का प्राण है, यह गहन आस्था ही धार्मिक जीवन का मूल तत्व है। इसीलिए वे आस्था को 'गहन कामनापूर्ण आन्तरिकता' (Passionate inwardness) की संज्ञा देते हैं।[18]

प्रश्न यह उठता है कि अब्राहम द्वारा अपने निरपराध पुत्र के बलिदान चढाने की तत्परता को हम कैसे एक धार्मिक कृत्य मान सकते हैं। नैतिकता की दृष्टि से यह अनीतिपूर्ण ही नहीं अपितु धार्मिकता की दृष्टि से भी पाप मानने योग्य है। यह कैसी धार्मिकता है, जो ऐसे अनौचित्यपूर्ण और पापपूर्ण कृत्य को मान्यता देती है। कीर्केगार्ड बुद्धि का निषेध कर ऐसे आस्थापूर्ण जीवन को ही जब वास्तविक जीवन कहते हैं तो हमारी मानवता पर ही एक प्रश्न चिह्न लग जाता है।

कीर्केगार्ड की व्याख्या है कि यदि अब्राहम भी नैतिक स्तर पर होते या बौद्धिक स्तर पर होते तो उनके मन मे भी ऐसे ही विचार आते। किन्तु इस ईश्वरीय आदेश के पालन मे अब्राहम नैतिक आदेशों के बन्धन से मुक्त हैं, नैतिकता के स्तर से ऊपर उठगये हैं वे इस प्रकार ऊपर उठनें में ईश्वर के प्रति निरपेक्ष रूप से समर्पित हैं। उनके लिए किसी प्रकार का सोच-विचार किसी प्रकार का बन्धन महत्वहीन है। महत्वपूर्ण मात्र उनकी आस्था है, उनकी वैयक्तिक आस्था हर सामान्य नियम से ऊपर है, किसी प्रकार का अन्य विचार उनकी आस्था को विचलित करने मे समर्थ नहीं है। इसी कारण कीर्केगार्ड अब्राहम को 'आस्था का प्रणेता' कहते हैं।

कीर्केगार्ड ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये जाने वाले बौद्धिक तर्कों को भी गलत ठहराते हैं। वे कांट की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने परम्परागत प्रमाणो की अप्रामाणिकता को स्पष्ट किया। किन्तु वे पुन. उनकी इस बात के लिए आलोचना भी करते हैं कि उन्होने भिन्न रूप में ईश्वरीय विश्वास को बौद्धिक ही मान लिया। उनके अनुसार तो ईसाई होने का अर्थ जीवन के अबौद्धिक मार्ग पर चलना है।[19]

ईसाई धर्म की स्वीकृति के सन्दर्भ में वे कहते हैं कि व्यक्ति को स्वयं ही धर्म की प्रामाणिकता का साक्ष्य प्रस्तुत करना पड़ेगा, कोई अन्य बाह्य साक्ष्य धर्म की प्रामाणिकता का साक्ष्य नहीं प्रस्तुत कर सकता। व्यक्ति को पूर्ण सच्चाई के साथ हृदय

की गहराईयों में उतरते हुए यह देखना होगा कि क्या ईसाई धर्म की अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए वह सचमुच मे कृतसकल्प हो सका है? अन्य शब्दों में उस धर्म की स्वीकृति, अस्वीकृति इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि हम नियमित रूप से चर्च जाते हैं या नहीं, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि हम क्राइस्ट के व्यक्तित्व को कितनी प्रतिबद्धता के साथ, कितने समर्पित भाव के साथ जी रहे हैं। यानी, हम "अदृश्य चर्च" की अपेक्षाओ को किस प्रकार अपने जीवन मे उतारने का प्रयास कर रहे हैं। यदि उत्तर स्वीकारात्मक है तभी हमे इस वात का दावा करना चाहिए कि हम सही अर्थो मे ईसाई हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार का अशेप समर्पण ही हमारी धार्मिकता की सही पहचान है और इसका साक्ष्य तो हमें स्वयं ही रूपांतरित होकर प्रस्तुत करना पडेगा। हमारी जगह कोई और व्यक्ति किस प्रकार इस साक्ष्य को जुटा सकता है? हृदय के अशेष समर्पण एव प्रतिबद्धता को कीर्कगार्ड सत्य की संज्ञा देते हैं[20] और इस प्रकार उनका यह कथन कि "सत्य विषयिनिष्ठता है" इस विशेष सदर्भ में सार्थकता रखता है।

किन्तु विषयिनिष्ठता का यह स्वरूप अतिवादी प्रतीत होता है। संभवत यह हीगेल के विरोध की प्रतिक्रिया मे दूसरी अति पर चला गया है। अस्तित्व के लिए ऐसी निर्बौद्धिकता घातक सिद्ध हो सकती है। इस समस्या को सार्त्र ने भी अपने ढग से उठाया है। वे कहते हैं यदि वह वास्तव में देवदूत था जिसने आकर कहा "अब्राहम तू अपने बेटे की बलि दे" तो आज्ञापालन अनिवार्य था। किन्तु ऐसी स्थिति में कोई भी पहले सन्देह करेगा कि क्या वास्तव में वह देवदूत था और दूसरे क्या मैं ही वास्तविक अब्राहम हूँ? इसके क्या प्रमाण हैं? एक विक्षिप्त औरत मतिभ्रम रोग से पीड़ित थी। वह कहा करती थी कि लोग उसे टेलीफोन करते हैं और उसे आदेश देते हैं। जब डाक्टर ने उससे पूछा, "लेकिन तुमसे कौन बात करता है?" उसके उत्तर दिया, "वह कहता है कि वह भगवान है।" और वास्तव में उसके पास ऐसा कौन सा प्रमाण था, जिसके कारण उसने कहा कि वह ईश्वर ही था। यदि देवदूत मुझे दिखाई देता है तो इसका क्या प्रमाण है कि वह देवदूत ही है या यदि मैं आवाज सुनता हूँ तो कौन सिद्ध कर सकता है कि वह आवाज स्वर्ग से ही आती है, नरक से नहीं या वह आवाज मेरे अवचेतन से आती है अथवा किसी रोग के कारण ही मुझे सुनाई देती है? और इसका

ही क्या प्रमाण है कि वे सन्देश मेरे ही लिए है?[21]

यास्पर्स की धर्म और ईश्वर विषयक अवधारणा अपेक्षाकृत भिन्न है तथा औचित्यपूर्ण है। यास्पर्स ने ईश्वर के लिए 'अतिक्रमणता' (Transcendence) का प्रयोग किया है। उनकी ईश्वर की अवधारणा रहस्यवाद और ईश्वरवाद दोनों से पृथक हैं। रहस्यवाद जगत से सर्वथा पृथक् ईश्वर से साक्षात् ससर्ग या मिलन को मानता है। यास्पर्स जगत से पृथक् ईश्वर को नहीं मानते हैं किन्तु सर्वेश्वरवादियो की भांति वे यह भी नहीं मानते हैं कि जगत ही ईश्वर है। ईश्वर जगत् मे अभिव्यक्त और गुप्त दोनो ही रहता है। ईश्वर जगत् मे परिलक्षित और अभिव्यक्त इसलिए है कि जगत् की ही प्रतीकात्मक या सांकेतिक भाषा में वह सलाप करता है। परन्तु वह गुप्त इसलिए है कि जगत् उसकी समग्रता की अभिव्यक्ति कदापि नहीं कर सकता।

यास्पर्स भी काट, कीर्केगार्ड आदि की भांति यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर को युक्तियों से सिद्ध नहीं किया जा सकता। ये युक्तियां उन्हीं को मान्य हो सकती हैं, जो उन्हें मानना चाहते हैं और जो उन्हें मानना नहीं चाहते हैं, उन्हें वे कदापि मान्य नहीं हो सकती हैं। अतएव ईश्वर के अस्तित्व की निश्चितता एक आधारवाक्य मात्र है, यह किसी दार्शनिक क्रिया या ज्ञान का निष्कर्ष नहीं है।[22]

यास्पर्स धर्म और नास्तिकता दोनों का खण्डन करते हैं। वे विशेषत ईसाई धर्म के तटस्थेश्वरवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वह ईश्वर को आधिकारिक ढंग से जगत से बाहर मान लेता है और उसे जगत का प्रतिफल और उसका गुप्त मूल्य नहीं मानता है। नास्तिक प्रत्यक्षवाद का खण्डन वह इसलिए करते हैं कि वह अतिक्रमणता या ईश्वर की सभावना का ही निषेध कर देता है।[23] यहां कीर्केगार्ड की भांति यास्पर्स भी मानते हैं कि अतिक्रमणता या ईश्वर हमारी गहन निष्ठापूर्ण आस्था का विषय है और इसका कोई वस्तुनिष्ठ विवेचन नहीं किया जा सकता।

यास्पर्स यहां आस्था को गहरे में अस्तित्व से जोड़ देते हैं। उनके अनुसार जब हम जीवन के त्रासद तथ्यों का सामना करते हैं विशेषत एक चरम स्थिति के रूप मे मृत्यु दिखाई देती है, तब हमें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सब कुछ नष्ट हो गया, सारा आधार टूट गया, सारा अस्तित्व निरर्थक है, प्रयोजन हीन है। यास्पर्स इसे टूटन की

अनुभूति (Feeling of Foundering) की सज्ञा देते हैं। यह टूटन की अनुभूति हमारे अस्तित्व को झकझोर कर रख देती है और हम विह्वल होकर किसी आश्रय या आधार की खोज मे सलग्न हो जाते हैं। अन्तत यह विह्वलता आन्तरिकता की ओर अग्रसर होकर आस्था का सबल लेती है और आस्था पुन सारे बिखरते आधारों को जोड देती है। आस्था अब सोपान बन जाती है- स्व-अस्तित्व (Being oneself) के स्वतन्त्र अस्तित्व (Being itself) की ओर अतिक्रमित होने का। आस्था की व्यापकता अस्तित्व की व्याप्तता का मार्ग बन जाती है।

गेब्रियल मार्सल ने तो आस्था पर अत्यन्त गहराई से विचार किया है। वे सर्वप्रथम दिखाते हैं कि आस्था (Faith) और दृढ विश्वास (Conviction) में अन्तर है। हमारा दृढ विश्वास किसी निश्चित विषय के प्रति होता हैं वह विपय बुद्धि से सगत होता है, प्रमाणो से सिद्ध होता है, उसके पक्ष में तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है। किन्तु आस्था का कोई निश्चित वस्तुनिष्ठ विषय नहीं होता। इसका स्वरूप निर्बौद्धिक तथा प्रमाणातीत होता है - सारी युक्तियों और तर्को से परे। यहाँ हमारी विषयिता और अन्तर्विषयिता इतनी धनीभूत होती है कि हमारा स्वत्व परमात्म तत्व के साथ एकीकृत हो जाता है, हमारी अस्मिता परमसत्ता से तादात्म्यीकृत हो जाती है। हमारी यह अनुभूति एक रहस्यानूभूति होती है -सर्वथा अनिर्वचनीय। आस्था की संपूर्ण चेष्टा कुछ पाने की (To have) नहीं, अपितु तद्रूप होने (To be) की है, ईश्वर के साथ ऐक्य बना लेने की है। "ईश्वर अपनी निरपेक्ष उपस्थिति के रूप में केवल हमारी आराधना में ही प्राप्त हो सकता है और कोई भी ऐसी अवधारणा, जिसे मैं बनाता हूँ एक अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र होती है अथवा उस उपस्थिति का बौद्धिकीकरण होती है।"[24] ईश्वर की विशिष्टता उसकी रहस्यात्मकता मे ही निहित है। बुद्धि ज्यों ही उसे पकड़ने का प्रयास करती है, उसकी रहस्यात्मकता नष्ट हो जाती है उसकी विशिष्टता का ही हनन हो जाता है। यही कारण है कि जब ईसाई सम्प्रदाय भी ईश्वर के संबध मे बौद्धिक सिद्धान्त देना प्रारंभ कर देता है, तो वह ईश्वर से दूर हो जाता है। मार्सल ने बौद्धिक विधि से ईश्वर के ज्ञान को प्रथम विचारणा तथा आस्थापरक विधि से ईश्वर के ज्ञान को द्वितीय विचारणा की संज्ञा दी है। प्रथम विचारणा को उन्होने समस्यात्मक चिन्तन तथा द्वितीय विचारणा को रहस्यात्मक चिन्तन भी कहा है। प्रथम विचारणा से यह कल्पना की जा सकती है

कि ईश्वर का अस्तित्व एक समस्या है उसी तरह जैसे कि मंगल पर जीवन है या नहीं – यह एक समस्या है। किन्तु द्वितीय विचारणा से यह प्रदर्शित होता है कि ईश्वर का अस्तित्व हमारे अपने अस्तित्व के साथ धनिष्ठ रूप से बँधा हुआ है, हमारी अपनी सत्तामीमासीय प्रकृति पर ध्यान ही ईश्वर की ओर जाने का मार्ग है।[25]

पॉल टिलीच यद्यपि धोषित अस्तित्ववादी नहीं है, किन्तु उनकी धार्मिकता मे हमें स्पष्टत· अस्तित्ववादी रुझान देखने को मिलता है। रहस्यात्मकता, प्रेमपूर्णता, आस्थापरकता, अस्तित्व की परम अस्तित्व से एकात्मकता धर्म में अन्तर्निहित आध्यात्मिकता आदि विशेषताए उन्हे आस्तिक अस्तित्ववादियो के अत्यन्त निकट ला देती है। वे अस्तित्व की व्यापकता को धार्मिक सह अस्तित्व की भावना तक ला देते है। वे ईसाई धर्म की इस भावना पर बल देते कि वह प्रेम का मार्ग प्रशस्त करता है, अपनी सीमाओं का अभिज्ञान रखता है। उनको शब्दो मे 'ईसाई धर्म की महत्ता इसमें है कि वह देख सकता है कि वह कितना छोटा है। ईसाई बनने की महत्ता ही इस बात में निहित है कि हम अन्तर्दृष्टि पा सकते हैं कि उस (धर्म) की कोई महत्ता ही नही है।[26]

पॉल टिलिक हमे सामान्य जीवन से उपर उठकर एक नूतन जीवन जीने को प्रेरित करते है। इसकी नूतनता में पुरातन जीवन का निरसन नहीं अपितु रूपान्तरण है। यह इस जीवन मे ही हमारा पुनर्जीवन (Reconciliation or Resurrection) है। यह जीवन है– उदात्त दृष्टिकोणो का, प्रेम की गहनता का, व्यक्तित्व की सरलता का, अनुभूति की आन्तरिकता का। उनके अनुसार इस जीवन की प्राप्ति का संबध किसी धर्म विशेष की मान्यताओं से नहीं है। सच्चाई तो यह है कि इस जीवन की प्राप्ति हमें तभी होती है जब हम विशिष्ट धर्मो की विशिष्ट बंदिशों से उपर उठ सकें और विश्व के मूल में विद्यमान सत्ता से ह्दय से संयुक्त हो सकें और उसी के माध्यम से संपूर्ण विश्व को स्वीकार कर सकें।[27]

निकोलस बर्डियेव ईश्वर की आधुनिक व्याख्याओं की प्रबल आलोचना करता हैं। प्रमुख समाजशास्त्री दुर्खीम ने ईश्वर की अवधरणा को समाज की व्याप्तता का ही अलौकिकीकरण माना था, किन्तु बर्डियेव के अनुसार यह ईश्वर की अवधारणा का सर्वाधिक भ्रामक रूप है। समाज को स्वयं ही नैतिक मूल्यांकन तथा शुभ और अशुभ मे विभेद की पूर्वमान्यता हेतु ईश्वर की आवश्यकता है।[28] वे कीर्केगार्ड की भी इस बात के लिए

आलोचना करते हैं कि वे भय को भी धार्मिकता का रूप दे देते है। वर्डियेव ईश्वर से भय पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "ईश्वर से भयभीत होने का अर्थ है -स्वयं अपने ही से भयभीत होना।"[29] भय पर भूत-प्रेत आधार बनायें, यह तो समझ में आता है, किन्तु ईश्वर भी भय को आधार बनाये ये सर्वथा अयुक्त है। भय के कारण ईश्वर से प्रेम- यह सर्वथा अनुचित अवधारणा है क्योकि जहॉ भय है, वहॉ प्रेम नहीं। व्यक्ति इस भय को प्राप्त कर ईश्वर को प्रेम नहीं करता, अपितु इस प्रेम को प्राप्त कर भय से मुक्त हो जाता है। यह निर्भयता ही, हार्दिक प्रेमपूर्णता ही हमारा आप्त ज्ञान है।

अस्तित्ववाद के प्रारंभिक सूत्रधारो में से एक, ब्लेजी पास्कल भी इसी हार्दिक प्रेमपूर्णता पर बल देते हैं। पास्कल की महत्ता इस बात में है कि उनमे बुद्धि के प्रति निषेध भाव उतना मुखर नही है जितना अन्य अस्तित्ववादियों में। उनके लिए बुद्धि और हृदय में आत्यंतिक विरोध नहीं है। बुद्धि अपने तार्किक द्वन्द्वों और दुराग्रहो के कारण जहॉ सत्य को पकड़ने में अक्षम सिद्ध होती है, वहीं आस्था भी यदि रूढियो और अंधविश्वासों से आबध हो, तो सत्य को जानने में बाधक हो सकती है। आवश्यकता है- आस्था और विवेक की पूर्वाग्रहमुक्तता की, अनुभूति परकता की, ईश्वरोन्मुखता की, आन्तरिकता की। इसी कारण वे "हृदय के विवेक" पर बल देते है। वे एक ओर कहते हैं कि "हृदय के अपने तर्क है, जिनके बारे में तर्क बुद्धि नही जानती"[30] वहीं दूसरी ओर यह चेतावनी भी देते है कि "मनुष्य प्राय अपनी कल्पना को हृदय समझ लेता है"।[31] वे इस बात के प्रति पूर्णत सतर्क हैं कि मनुष्य कहीं अंधविश्वास को ही आस्था का रूप न दे दे, कहीं अपनी कल्पना को ही धोखा देकर हृदय न समझ ले। इसी कारण उन्हें स्वीकार करना पड़ता है कि "हृदय अपूर्ण है"[32] वे बुद्धि की भी सीमा दिखाते हुए कहते है कि 'हृदय से हमे प्रथम सिद्धान्तों का ज्ञान होता है और तर्क बुद्धि, जिसका इसमें कोई स्थान नहीं होता व्यर्थ मे उनका प्रतिवाद करने का प्रयास करती है।[33]

पास्कल प्रथमतया एक वैज्ञानिक थे, बाद में आध्यात्मिक हो गये। धर्म के प्रति उनका झुकाव विज्ञान की प्रतिक्रिया में नहीं अपितु स्वयं के ज्ञान की खोज में हुआ। उनके लिए ईश्वर प्रेम की प्रतिमूर्ति है, अपनी अनुकम्पा से भक्तों को अनुप्राणित करता है। वे स्पिनोजा की भॉति "ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम" नहीं करते, बल्कि मीस्टर एरवर्ट

की भाँति "ईश्वर से एकाकी ऐक्यपूर्ण हार्दिक प्रेम करते है।" इसी कारण वे कहते हैं कि "ईश्वर का ज्ञान उसके प्रेम से वहुत भिन्न है।"[34]

इस प्रकार हम देख सकते है कि आस्तिक अस्तित्ववादी बुद्धि का विरोध करते हुए भी किसी दुराग्रह का शिकार नहीं होते। वे मध्ययुगीन ईसाई धर्मशास्त्रियों की भाँति बाइबिल की भ्रान्त सत्यता को स्वीकार कराने का प्रयास नहीं करते, अपितु बाइविल मे निहित प्रेम और रहस्यात्मकता के मूल्यो को प्रस्फुटित करने का प्रयास करते है। वे ईश्वर को तर्क से सिद्ध करना नहीं, अपितु हृदय से संबद्ध करना चाहते है। वे न तो ईश्वर को मानने पर बल देते है और न उसे जानर्ने पर।उनका सारा वल ईश्वर को जीर्ने पर है। उसे व्यक्ति मे जीवन्त कर देने पर है। वे सीमित अस्तित्व को परम अस्तित्व से संबद्ध कर देने का प्रयास करते हैं।

किन्तु साथ ही, हम यह भी देख सकते है कि इन दाशनिको मे एक प्रकार की पलायनवादी प्रवृत्ति है, धार्मिकता को रूढिवद्धता की सीमा तक स्वीकार करने की मनोवृत्ति है। वे धर्म में निहित कुरीतियो की तरफ से आँख मूँद लेते है। यदि अस्तित्ववाद को वास्तविकता का दर्शन बनना है, तो उसे धर्म के इस पहलू पर ध्यान देना होगा उसे धर्म के विरूद्ध फ्रायड, मार्क्स, दुर्खीम आदि द्वारा प्रस्तुत चुनौतियो का जवाब देना होगा।

वस्तुत· सारे अस्तित्ववादियों का धर्म और ईश्वर के प्रति प्रेमभाव ही नहीं है। नीत्शें से लेकर सार्त्र, हाइडेगर, मॉरिस मार्लियों पोंती, कामू तक ईश्वर के प्रति गम्भीर विद्रोह भाव भरा हुआ है। यदि पूर्ववर्तियों को ही देखा जाय तो भी जहॉ कीर्केगार्ड के चिन्तन का सार है ईसाईयत, वहीं उसके विपरीत नीत्शे इस अनुमान से प्रारम्भ करता है कि ईश्वर मर चुका है। उसने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मानव मानवीय स्थिति का पुन· परीक्षण इस तथ्य को ध्यान में रखकर करना सीखे कि ईश्वर की सत्ता मे विश्वास रखना संभव नहीं रहा है। यदि कीर्केगार्ड की समस्या यह है कि मैं ईसाई कैसे बनूँ? तो नीत्शे की समस्या है कि नास्तिक के रूप में कैसे जियूँ?[35]

नीत्शे के मन मे ईश्वर के प्रति विद्रोह भाव अत्यन्त सघन है विशेषतः ईसाई धर्म के स्वरूप उसकी नैतिकता तथा उसके ईश्वरवाद की वह प्रबल आलोचना करते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में तो उन्होंने अपना हस्ताक्षर (Anti-Christ) के रूप में

करना शुरू कर दिया था। इन्हीं दिनों उसी नाम से उनकी पुस्तक भी आयी थी। उनकी प्रारंभिक कृतियो मे ही धर्म, सस्कृति और नैतिकता के प्रति विद्रोह भाव मुखरित होने लगे थे। 1881 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक (The Joyful Wisdom) मे उन्होंने घोषणा की कि ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है। उनके शब्दो मे– "क्या आपने उस पागल आदमी के बारे मे नहीं सुना है, जो स्वर्णिम प्रभात मे लालटेन जलाता है और बाजार की ओर लगातार यह चिल्लाता हुआ भागता है कि मैं ईश्वर की खोज कर रहा हूँ , जब यह बात हुई तो वहाँ कई लोग खड़े थे जो ईश्वर मे विश्वास नहीं करते थे अत. वह हँसी का साधन बन गया वह पागल आदमी उछलकर बीच मे चला आया. .. उसने कहा – ईश्वर कहाँ है मैं तुम्हे बताउँगा, हमने उसकी हत्या कर दी है– आपने और मैने। हम सब उसके हत्यारे हैं ईश्वर मृत है और ईश्वर मृत ही रहता है।"[36]

नीत्शे ईश्वर के स्थान पर किसी भी अन्य तत्व को नहीं लाना चाहते वे परम तत्व के प्रति शून्यवादी हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है –'ईश्वर के स्थान पर कुछ भी नही है, (Dos Nichts, Le Neant)।[37] ईसाई धर्म के सिद्धान्तो के तो वे कटु आलोचक हैं। उनके अनुसार ये सिद्धांत समाज को विरागी, कायर, दुर्बल तथा पलायनवादी बना रहे हैं। ईसाई धर्म के सिद्धांत केवल मिथ्या और निकृष्ट ही नहीं अपितु मानव समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक भी है। वे ईसाई धर्म के 'भ्रातृत्व' और 'समानता' के विचारों की आलोचना करते हुए कहते हैं– "मूलत· ईसाई धर्म ने ही सभी के समान अधिकारों के सिद्धान्त का विष सबसे अधिक फैलाया है। ईसाई धर्म ने सम्मान की भावना तथा एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच में पाई जाने वाली दूरी की भावना के विरूद्ध आमरण युद्ध छेड़ दिया है। आज किसी व्यक्ति में स्वामियों या मालिकों के विशेषाधिकारों तथा स्वयं अपने और अपने साथियों के सम्मान के लिए साहस शेष नहीं रह गया है। साहस की इस कमी के कारण हमारी राजनीति रूग्ण हो गयी है. ईसाई धर्म के मूल में रूग्ण व्यक्तियों की वही कटुता है जो सभी स्वस्थ व्यक्तियों तथा स्वयं स्वास्थ्य पर आक्रमण करती है। . ईसाई धर्म अभी तक मानव जाति के लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है।"[38]

नीत्शे की दृष्टि मे ईश्वर की अवधारणा मनुष्य के लिए एक अभिशाप है। इस विश्वास से मुक्त हो कर ही मनुष्य सार्थक जीवन जी सकता है। इस प्रकार नीत्शे

का निश्चित मत है कि एक पूर्ण निरीश्वरवाद ही मानव की शक्तिमत्ता और सप्रभुता का उद्घोष होगा। वे अनेक स्थलों पर अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण ढंग से कहते हैं- "अगर ईश्वर होता, तो मैं ईश्वर न होने से कैसे वंचित रह सकता? अत ईश्वर नहीं है।"[39] कुछ ऐसी ही बात दास्तोवेस्की ने अपनी साहित्यिक रचना (The Possessed) मे किरिल्लाव नामक पात्र के मुख से कहलवाया है, "अगर कोई ईश्वर नहीं है तो मै ईश्वर हूँ।"[40]

अस्तित्ववाद के मसीहा के रूप में प्रतिष्ठित सार्त्र ने भी नीत्शे के स्वर को बुलन्द किया है। नीत्शे के "ईश्वर मर गया है" कथन पर उनकी टिप्पणी थी कि "उसका मर जाना ही अच्छा था"। सार्त्र अपनी अस्तित्ववादी अवधारणा के अनुरूप कुछ अनीश्वरवादी तर्क भी प्रस्तुत करते है। सार्त्र ने चार आधारो पर ईश्वर का निषेध किया है -

प्रथम- अन्य से संबंध के आधार पर- सार्त्र के अनुसार ईश्वर का भाव मूलत हमारी "अन्य की चेतना" से ही व्युत्पन्न एक अतीन्द्रिय परिकल्पना है मनुष्य स्वभावत यह परिकल्पना कर लेता है कि जैसे कोई 'अन्य' मेरा द्रष्टा है और मै 'अन्य' का वैसे ही 'मेरे' और 'अन्य'- दोनों का कोई न कोई सर्वोच्च द्रष्टा है।

द्वितीय- जगत् से संबंध के आधार पर- हम जगत् को ईश्वर के लिए 'विषयरूप' अथवा 'विषयीरूप' इन दो विकल्पो के रूप में ही देख सकते है, किन्तु दोनो ही स्थितियों मे ईश्वर की पूर्णता अर्थात ईश्वरत्व खण्डित होता है। यदि जगत् को उसका 'विषय' माना जाय तो द्वैतवाद की स्थिति आ जायेगी और स्वयं ईश्वर की सत्ता ही सीमित हो जायेगी। ईश्वर का परिसीमन ईश्वर का निषेध है। ईश्वर की सम्पूर्णता का विभाजन उसके अस्तित्व का विनाश है। पुनः यदि जगत् को ईश्वर के लिए भी 'विषयी' मान लें, तो ईश्वर का ज्ञान सीमित होता है क्योंकि कोई भी विषयी दूसरे विषयी के लिए पूर्णत. ज्ञेय नहीं हो सकता ।

तृतीय- अस्तित्व के स्वरूप के आधार पर- सार्त्र चेतन सत्ता और अचेतन सत्ता में आत्यंतिक विभाजन करते हैं। वे कहते है कि ईश्वर की अवधरणा में ही व्यामिश्र है। हमारी ईश्वर की अवधारणा ही चिदचिद्रूप (Being in itself-for itself) होती है, जो स्पष्टत. विरोधाभासी है। चेतन सत्ता नम्य तथा अतिक्रामी है जवकि अचेतन सत्ता, अनम्य तथा कूटस्थ है। पुन ईश्वर को निरपेक्ष माना जाता है, जो किसी अन्य

पर निर्भर नहीं है। किंतु अस्तित्व सर्वदा सापेक्षिक होता है वह अन्य उपादानों पर निर्भर होता है। यदि ईश्वर अन्याश्रित नहीं तो वह अस्तित्ववान् भी नहीं हो सकता। पुन ईश्वर को स्वमभू माना जाता है, किंतु कोई भी स्वयभू वस्तु स्वय से भिन्न वस्तु होती है, क्योंकि कार्य अपने कारण से भिन्न होता है। अत· स्वयंभू ईश्वर स्वय से ही भिन्न ईश्वर होगा।

चतुर्थ – चेतना के स्वरूप के आधार पर– सार्त्र ब्रेंटानों तथा हुसर्ल का अनुकरण करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि चेतना सदैव विपयोन्मुख होती है। कोई निर्विपयक चेतना नहीं होती। यदि ईश्वर की सत्ता मानी जाय, तो इससे सृष्टिपूर्व एक निर्विपयक चेतना माननी पडेगी, जो चेतना के स्वरूप से असगत है।

सार्त्र मूलत यह दिखाना चाहते हैं कि ईश्वर की अवधारणा को हम अस्तित्व से संगत नहीं ठहरा पाते, मानव स्वतंत्रता से संबद्ध नहीं कर पाते। उनके अनुसार ईश्वर हमारी कल्पना है। हमारी प्राथमिक चेतना तो हमारे होने की चेतना है। हमारी अस्मिता की चेतना है और यही चेतना जब अपने द्रष्टाभाव का अलौकिकीकरण और विस्तारीकरण कर देती है, तो एक सर्वोच्च द्रष्टा के रूप में ईश्वर की कल्पना कर लेती है। वे कहते हैं, "नास्तिक अस्तित्ववाद, जिसका मैं एक प्रतिनिधि हूँ, पूर्ण संगति के साथ घोषणा करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो भी एक सत्ता ऐसी है जिसका अस्तित्व सत्व से पहले आता है और जो अपनी किसी भी धारणा द्वारा समझाये जाने से पूर्व ही मौजूद है।"[41]

हाइडेगर ईश्वर के प्रति आस्था को अप्रामाणिक जीवन मान लेते हैं, जबकि कामू इसे दार्शनिक आत्महत्या तक की सज्ञा दे देते हैं। वे यास्पर्स तथा कीर्केगार्ड दोनों की जीवन दृष्टियो की इस कारण आलोचना करते हैं कि वे परमतत्व की चाह मे स्वत्व को खो देते हैं। ईश्वर मे विश्वास के आधार पर अपना आत्मविश्वास खो बैठते हैं। उनके अनुसार आस्थावान व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर बैठता है, यह एक प्रकर की आत्महत्या ही है। यह आत्महत्या एक दृष्टि से हीगल के 'जीने के लिए मरो' की अवधारणा की ओर ही अग्रसर हो जाती है।

कामू विद्रोही दार्शनिक हैं, वे जगत की अयुक्तता, परिस्थितियों की विकटता और मानव की आपातग्रस्तता को देखकर विद्रोह कर बैठते हैं और उनका यह विद्रोह परिस्थितियों और विसंगतियों के ही विरुद्ध नहीं है,अपितु इनके स्रष्टारूप समझे जाने

वाले ईश्वर के प्रति भी है। वे कहते हैं– "मनुष्य के हृदय मे आज की परिस्थितियो के प्रति विद्रोह तो है ही, उस स्रष्टा के प्रति भी है जिसने ऐसे निर्मम जगत की रचना की है। अतएव समाधानके प्रचलित विकल्पों मे से ईश्वर के प्रति शरणागत होने की बात आज का परिपक्व मानव सोच ही नहीं सकता। उसमे इतनी सामर्थ्य आ गयी हे कि किसी का सहारा लेकर चलने की उसे आवश्यकता ही नहीं है।"[42] वानहॉफर ने भी कहा है– "मनुष्य अब प्रौढ हो चुका है, उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं हे।" वस्तुत इन विचारको का स्वर फ्रासीसी धर्म निरपेक्षवादियों से पूर्णतया मेल खाता है जिनके अनुसार "ईश्वर एक महगी और अनुपयोगी कल्पना है, हम इसके बिना अपना काम चला लेगे।"[43] यहाँ हम इन पर फ्रांस के उग्रपरिवर्तनवादियों का प्रभाव भी देख सकते हैं, जिनके अनुसार– 'यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, तो कुछ नही वदलेगा। हम ईमानदारी, प्रगति और मानवता के उन्हीं मानको की खोज पुन कर लेंगे और हम ईश्वर के विचार को एक बीते युग की परिकल्पना कह कर छोड़ चुके होंगे, जो धीरे-धीरे स्वय समाप्त हो जायेगी।' यहाँ हम इन अग्र परिवर्तन श्कारियों के कथन को वाल्टेयर के ठीक विपरीत पाते हैं। वाल्टेयर का मानना है– 'यदि ईश्वर नहीं है तो हमे स्वय ईश्वर गढ लेना चाहिए क्योकि उसका भय मनुष्य को उचित मार्ग पर चलाने में सहायक होता है।'[45]

यहाँ हम देख सकते हैं कि एक ही तथ्य के प्रति मत भिन्न-भिन्न होते जाते है, परिस्थितियाँ एक ही हों तो भी परिस्थितियों के प्रति दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते जाते हैं वस्तुस्थितियाँ समान होने पर भी उनके विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती है। इस वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य मे हम भी अस्तित्ववाद की प्रवृत्तिगत विभिन्नताओ को समझ सकते हैं। युद्ध की विभीषिका और अस्तित्व के संकट से जूझते मानव को देखकर विचारकों का एक वर्ग जहाँ ईश्वर की शरण में जाने को तत्पर हो जाता है, वही दूसरा वर्ग ईश्वर से ही विद्रोह कर उसकी शरणागति को मानव की अप्रामाणिकता, आत्मप्रंवचना या आत्महत्या की संज्ञा देता है। एक के लिए अस्तित्व का बोध परम अस्तित्व से जुड़कर ही सार्थक होता है, वही दूसरे के लिए मानव अस्तित्व ही सम्पूर्ण अस्तित्व का केन्द्र हो जाता है।

दो भीषण महायुद्धों ने मानव को, उसकी आस्था को टूटते-जुडते दिखलाया मूल्यो की आधारहीनता और क्षणभंगुरता को स्पष्ट किया धार्मिक द्वन्द्वों-संघर्षो की यनिर्मम

क्रूरता को प्रदर्शित किया, सार्वभौम सिद्धान्तो और राष्ट्रीय आदर्शो की विकृत व्याख्याओ को प्रतिफलित किया। ईश्वर गया, ईश्वरीय कथन रूप धर्म ग्रंथ गये, ईश्वर और व्यक्ति के मध्यस्थ 'चर्च, पोप आदि' गये। अब ईश्वर की जगह मानव स्वयं स्थापित होने का यत्न करने लगा। इसका एक परिणाम तो नीत्शे की भाँति तानाशाही मे हुआ, वही दूसरी ओर मानववादी विचारधारा पल्लवित और प्रस्फुटित हुई। मानवतावाद स्वय एक धर्म के रूप में स्थापित हुआ। ऑंगस्ट काम्टे, एरिक फ्राम, मार्क्स, आदि ने मानवतावाद को ही आधुनिक धर्म माना। इस बीच जार्ज जैकब होलियोक द्वारा प्रवर्तित तथा चार्ल्स ब्रेडलाफ द्वारा परिवर्धित धर्म निरपेक्षवादी आंदोलन ने धर्म की उपेक्षा कर उसे सार्वजनिक जीवन से हटाकर मात्र व्यक्तिगत जीवन मे ला दिया। पाल वान ब्यूरेन ने कहा- 'सेक्यूलर समाज का सदस्य होने के नाते हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि ईश्वर शब्द का प्रयोग किस प्रकार करे?

धर्म निरपेक्ष आदोलन का अस्तित्ववादी दृष्टि से एक सार्थक प्रभाव पड़ा। आस्तिक अस्तित्ववादियों का सम्पूर्ण प्रयास धर्म की वैयक्तिकता को जाग्रत करना रहा है। धर्म निरपेक्षवादी आंदोलन ने जो प्रयास बाह्य क्षेत्र मे किया, अस्तित्ववाद ने वही प्रयास अन्त· क्षेत्र में किया। अस्तित्ववाद की इस प्रवृत्ति में जितना योगदान मार्क्स फ्रायड, दुर्खीम आदि के विरूद्व प्रतिक्रिया का रहा है, उतना ही होलियोक तथा ब्रेडलाफ का भी रहा है।

किन्तु नास्तिक अस्तित्ववादियो में इस प्रवृत्ति का हम एक दूसरा रूप पाते हैं। हाइडेगर, सार्त्र, कामू, पोती आदि विचारक अपेक्षतया दूसरी धारा में झुके नजर आते हैं। इनके मार्क्स, फ्रायड, दुर्खीम आदि से अपने कुछ सिद्धान्तगत विरोध तो है, किन्तु कुछ निष्कर्षगत साम्य भी हैं। विशेषतः सार्त्र पर तो हम इनका गम्भीर प्रभाव देखते है। Search for a dilectic method के साथ वे एक मार्क्सवादी के रूप में सामने आते हैं। इसके पूर्व Being and Nothingness में इनकी शैली पर फ्रायड का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जॉन पासमोर के अनुसार- 'ज्यों - ज्यों सार्त्र आगे लिखता है, हम उसकी तत्वमीमांसा को फ्रायड कृत व्याख्याओं द्वारा समझने के लिए स्वयं को विवशीकृत सा पाते हैं। जो कुछ वह कहता है, उसका इतना कम अर्थ निकलता है कि हम इसकी व्याख्या स्वप्न या व्यक्तिगत फैंटेसी के रूप में करने पर आमादा हो जाते हैं।'[46]

अंतत एक ईश्वरविहीन विश्व मे, जिसमें कोई मूल्य नहीं है, कोई सत्य नहीं

है, कोई प्रयोजन नही है, कोई अर्थ नहीं है, नास्तिक अस्तित्ववाद हमें हमारी सारी स्वतंत्रताओ के साथ एकाकी छोड देता है। मूल्यो को स्थापित करने, मानव के विश्व के प्रति उत्तरदायी ठहराने के उसके सारे प्रयास अन्तहीन निरर्थकता में नष्ट हो जाते हैं। जब व्यक्ति का व्यक्ति से संबद्ध हो पाना ही कठिन हो गया हो, तो उसका व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्ध हो पाना ही कैसे सभव हैं।

धर्म की दृष्टि से आस्तिक अस्तित्ववादियो द्वारा आस्था का पुनर्मण्डन, आन्तरिकता का पुनर्बोध, भावनाओ का पुनर्स्फुरण अच्छा तो है, किन्तु वह भी बुद्धिवाद के विरोध मे नितान्त बुद्धिहीनता की ओर अग्रसर हो गया है, इस स्थिति मे हम अधविश्वास और आस्था मे कोई भेद ही नहीं कर सकते। धार्मिकता की स्थिति मे अब्राहम द्वारा ईसाक के बलिदान की तैयारी हमे किस आदर्श की ओर प्रेरित करेगी ?

धर्म ने मानव को मानव बनाया है, तो उसने ही उसे दानव भी बनाया है। धर्म के नाम पर जितने संघर्ष हुए हैं, उतने शायद किसी और नाम पर नहीं। ईश्वर की पुकार सुनकर जिने नरसहार हुए है, उतने किसी मानव की पुकार पुकार पर नहीं। समग्र मानव इतिहास धार्मिक शोषण, संघर्ष और संहार की करूण गाथा है। ईसा मसीह और जरथुस्त्र जैसे सन्त धर्म की वेदी पर बलि चढ गये, सुकारात और ब्रूनो जैसे विचारक धर्मान्धता की अग्नि के समिधा बन गये, जॉन ऑफ आर्क जैसी वीरांगना को डायन मानकर जीवित जला दिया गया कापरनिकस गैलीलियो और आइस्टीन जैसे वैज्ञानिकों को प्रताड़ना झेलनी पडी खलील जिब्रान, तस्लीमा नसरीन, तहमीना दुर्रानी और सलमान रशदी जैसे साहित्यकारो को निर्वासन सहना पड़ा। नाजीवाद की अग्नि मे पचास लाख यहूदी भस्म हो गये। सोमनाथ मन्दिर की रक्षा में पचास हजार हिन्दू मृत्यु के धाट उतार दिये गये। कोसोवो और फिलीस्तीन में हजारों मुसलमानों को मृत्यु तथा मृत्युतुल्य वेदनाएँ झेलनी पड़ी। तक्षशिला, विक्रमशिला, नालंदा ओर एलेक्जेंड्रिया के विश्व वाङ्मय धार्मिक असहिष्णुता की आग में जल गये। सांप्रदायिकता के कुरूक्षेत्र में कहीं प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक, कहीं शिया और सुन्नी, कहीं वैष्णव और शैव, कहीं सनातनीऔर आर्य समाजी, कही तमिल ओर सिहली, कहीं हूतू ओर तुत्सी, कही हिन्दू और मुसलमान, कही यहूदी और ईसाई परस्पर खून की नदियाँ बहाते रहे। धर्म की विसंगतियों का इससे अधिक प्रमाण क्या चाहिए ? कब तक हम आंतरिकता और आस्था

के नाम पर रूढियों को ढोते रहेंगे, विज्ञान को बाधित करते रहेगे, नैतिकता की वलि देते रहेगे ? अस्तित्ववाद की आस्तिक विचारधारा कितना सतोपजनक समाधान प्रस्सतुत कर पायेगी ?

किन्तु अस्तित्ववाद धर्म का कोई सरल ओर समुचित समाधान ढूँढ पाने में विफल रहा है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि इस विषय पर अस्तित्ववाद की दोनों प्रमुख विचारध ाराओं में मतैक्य नहीं रहा है। यहाँ यदि दोनो विकल्पों पर विचार करें तो पायेंगे कि अन्तत दोनो ही अपर्याप्त तथा एकांगी है। आस्तिक अस्तित्ववादी आस्था तथा अन्तरानुभूति के आधार पर धर्म के आध्यात्मिक पक्ष को समाविष्ट करने का प्रयास करते हैं। किन्तु एक बार जब हम आस्था को प्रभुत्व सौंप देते हैं और तर्कबुद्धि को वहिष्कृत कर देते हैं तो फिर पिछले दरवाजे से आस्था के नाम पर वही सारी रूढिया और कुरीतियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। चूकि अस्तित्ववादी भाव और क्रिया मे ऐक्य का प्रवल समर्थक है, अतः यदि कोई अपनी आस्था को निरर्थक कर्मकाण्डो के द्वारा व्यक्त करने लगे तो उसे रोकने का कौन सा तार्किक आधार होगा। फिर आस्थाओ की टकराहट, अंधविश्वासों के बन्धन, रूढ़ियो के संजाल को हम किस आधार पर रोक पायेंगे। धर्म का रहस्यात्मक जीवन हमारे व्यावहारिक जीवन की किन समस्याओ का समाधान कर पायेगा ?

इसी प्रकार नास्तिक अस्तित्ववादियों ने स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व, प्रामाणिकता तथा प्रतिबद्धता की स्थापना हेतु धर्म का निषेध किया। उन्होने इसे पूर्णत. मानववादी दर्शन बनाने के प्रयास मे मानव केन्द्रित दर्शन का रूप दिया। किन्तु इसकी स्वतंत्रता छद्म स्वतंत्रता सिद्ध हुई तथा उत्तरदायित्व दुर्वह सिद्ध हुआ। मनुष्य जीवन और जगत के ऐसे अनेक बोझों के तले दब गया, जो वास्तव में उसे बोझ थे ही नहीं। वह ग्रीक किंवदन्तियो के मिथक 'एटलस' के समान हो गया, जसके कन्धों पर समस्त ब्रह्माण्ड का बोझ विद्यमान है। इस अनढोये बोझ और अयाचित स्वतंत्रता ने उसे घारे निराशा और गहन व्यथा दे दी। इसी कारण उसकी जीवन की प्रामाणिकता जीवन की निरर्थकता सिद्ध हुई, उसका मूल्यांतरण मूल्यहीनता के रूप में पर्यवसित हुआ। वस्तुत , यदि जगत की सत्ताओं में मनुष्य के अस्तित्व की स्थापना करनी है तो हमें केवल स्वचेतन और स्वतंत्र होने में मनुष्य को इस विशिष्ट नहीं मानना होगा, अपितु उसे नैतिक और विकसित चेतन के रूप में ही स्थापित करना होगा, अन्यथा ऐसे मनुष्य में कोई गरिमा नहीं होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 फ्रायड, सिगमड, 'द फ्यूचर ऑफ एन इल्यूजन', द कंप्लीट साइकोलॉजिकल वर्क्स ऑफ सिगमड फ्रायड, जेम्स स्ट्रेची द्वारा अनूदित तथा संपादित, लाइन राइट कॉरपोरेशन, न्यूयॉर्क, 1961, खंड 21, पृ0 30

2 वही, पृ0 16

3 वही, पृ0 44

4. हिक, जॉन, 'धर्म दर्शन', पृ0 35

5 वही, पृ0 32-33

6. हेरालाम्बो, मिशेल, 'सोशियोलॉजी : थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स', पृ0 456.

7. वही, पृ0 460

8 हेरालाम्बोस, मिशेल द्वारा उद्धृत, 'सोशियोलॉजी थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स', पृ0 463

9 लेनिन, वी0 आई, 'कलेक्टेड वर्क्स', खंड 10, पृ0 83.

10 मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, 'सामाजिक विचारधारा', पृ0 51

11 पासमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 56

12 मैनहीम, कार्ल, 'मैन एण्ड सोसाइटी', 1951, पृ0 114

13. हिक, जॉन, 'धर्म दर्शन', पृ0 39.

14. रूबिचेक, पॉल, 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', पृ0 139.

15 क्यूबर मार्टिन, 'आई एण्ड दाउ', एडिनबर्ग 1937, पृ0 11.

16 भद्र, एम. के, 'फेनोमेनोलॉजी एण्ड ऐक्जिशटेंशियलिज्म', पृ0 171.

17. वही, पृ0 168

18 वही, पृ0 170

19 वही, पृ0 170

20 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीव, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 20

21. सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 37-38

22. जैस्पर्स, कार्ल, 'द पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलॉसोफी', पृ0 36.

23. ब्लैकहम, एच0 जे0, 'सिक्स ऐक्जिशटेंशियलिस्ट थिंकर्स', पृ0 62.

24 मार्सल, गैब्रियल, 'बीइंग एण्ड हैविग', पृ0 572

25 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 572

26 टिलिक, पॉल, 'द न्यू बीइंग' - द गोल्डेन रूल
एस0 सी0 एम0 चीप ऐडिसन, लदन, 1964, पृ0 19.

27 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 118

28 बर्डिलेव, निकोलस, 'सोलिट्यूड एण्ड सोसाइटी', लेदन 1947, पृ0 39

29 वही, पृ0 41

30 पास्कल, बी0, 'पेसिस', पृ0 277

31 वही, पृ0 275

32 वही, पृ0 30

33 वही, पृ0 282

34 वही, पृ0 280

35. पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 562.

36 उद्घृत, रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 39

37 वही, पृ0 38

38 बीयर्डस्ले, एम0 सी0, 'द यूरोपियन फिलॉसोफर्स फ्रॉक डेकार्टनस टू नीत्शे', पृ0 863-65

39 उद्घृत, रूबिचेक पॉल, 'अस्तित्ववाद . पक्ष और विपक्ष', पृ0 31.

40. दास्तोएवस्की, 'द परसेस्ड', भाग - 2, एवरीमैन लाइब्रेरी, पृ0 255

41. सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 35.

42 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 240

43 उद्धृत, सार्त्र, जे0 पी0, 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 39

44 वही, पृ0

45. यशपाल, 'मार्क्सवाद', पृ0 44.

46 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 580.

अध्याय : 7

साहित्य में अस्तित्ववादी विचारधारा का स्वरूप, प्रादुर्भाव तथा प्रभाव।

साहित्य अनादिकाल से ही प्रवुद्ध मानव के जीवन का अभिन्न अग रहा है। चाहे कोई भी सभ्यता या सस्कृति रही हो, साहित्य उसके जीवन और जगत् का प्रधान प्रवक्ता रहा है। प्रत्येक साहित्य में तत्कालीन समाज का प्रतिविम्ब तथा उसके जीवन की प्रतिध्वनि विद्यमान है। संभवत. इसी कारण इस उक्ति पर प्राय सार्वभौम स्वीकृति है कि साहित्य समाज का दर्पण है। वस्तुत मनुष्य जबसे जीवन की आधारभूत अनिवार्यताओं से मुक्त हुआ तथा उसने लिपि और भाषा की खोज की, तभी से साहित्य सृजन की सतत् श्रृंखला शुरू हो गयी। यह श्रृंखला अव भी अविच्छिन्न रूप से जारी है। पहले जब मानव के जीवन में सवेदनाएं ही प्रवल थीं, विचार अपुष्ट थे तव भी साहित्य ने उसे अभिव्यक्ति दी और आज के वैज्ञानिक जीवन मे जव विचार ही प्रधान हो गये हैं और संवेदनाए दुर्बल पड गयी हैं, तव भी वह उसे मुखर अभिव्यक्ति दे रहा है। इसने न केवल भावनाओ के रागात्मक जगत् को कुशलतापूर्वक अभिव्यजित किया है, अपितु विचारो और सिद्धांतों की भी सशक्त प्रस्तुति की है। चाहे शुष्क निर्मम तर्कों से युक्त कोई दर्शन हो या सरस भावो से पूरित जीवन दृष्टि, सभी साहित्य के विस्तृत आयाम में समाहित हो जाते हैं।

साहित्य का स्वरूप क्या होगा, यह देशकाल और परिस्थितियो पर निर्भर करता है किन्तु साथ ही दूसरे छोर पर, साहित्य का स्वरूप रचयिता की दृष्टि पर भी निर्भर करता है। साहित्यकार जिस दृष्टिकोण से अपने समाज और समस्याओं को देखता है, उसका साहित्य भी उसी आयाम को अभिव्यक्त करता है। साधारण साहित्यकार के हाथों साहित्य समाज का केवल दर्पण रहता है, किन्तु एक दार्शनिक साहित्यकार के हाथों में आकर वह दर्शन भी बन जाता है। यहां आकर साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं उसका प्रदर्शन भी बन जाता है। तब समाज भी साहित्य को निर्धारित नहीं करता अपितु साहित्य भी समाज को निर्धारित करने लगता है। अस्तित्ववादी साहित्यकारों को हम इसी कोटि मे रख सकते हैं। अस्तित्वयादियों ने विपुल मात्रा मे साहित्य का सृजन किया है। अधिकांश अस्तित्ववादियों की यह स्पष्ट अवधारणा रही है कि सिद्धांतों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति दृष्टांतों के ही माध्यम से हो सकती है, तर्कों और प्रमाणों से नहीं। उन्होंने अपने विचारों को सामान्य जीवन की घटनाओं और साहित्यिक पात्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वे एक-एक छोटी घटना का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक निरीक्षण करते हैं और उस छोटी घटना में प्रच्छन्न रूप से निहित अस्तित्वपरक आधारों को स्पष्ट करते हैं। उनके

साहित्यिक पात्रो के चरित्र भी विचित्र होते हैं। कहीं वे यथार्थ की अति पर विद्यमान होते हैं, तो कहीं सर्वथा काल्पनिक मिथको पर आधारित। विशेषत सार्त्र, काफ्का, आन्द्रे जीद, इमाइल जोला आदि के चरित्र जहां अति यथार्थवादी विरूपता तक पहुंच जाते हैं, वहीं कीर्केगार्ड, कामू आदि के चरित्र अनेकश ग्रीक मिथको पर आधारित होते हैं। कीर्केगार्ड ने अस्तित्व की सवेदनात्मक कोटि को स्पष्ट करने के लिए तीन ग्रीक मिथकों डान जुआन, फास्ट तथा एहसेनरस का प्रयोग किया है। हाइडेगर ने मनुष्य की असुरक्षा की भावना को निदर्शित वृहस्पति, शनि और पृथ्वी की प्राचीन ग्रीक लोककथा की सहायता ली है। कामू ने सिसिफस, प्रोमोथियस और नेमेसिस के प्राचीन ग्रीक मिथको का प्रयोग साहित्यिक रूपक और दार्शनिक प्रतीक के रूप मे किया है। सार्त्र ने भी अपने नाटक The Flies मे क्लीट्मेनेस्ट्रा और ओरेस्ट्स की ग्रीक आख्यायिका को रूपायित किया है। अस्तित्ववादी लेखको का प्राचीन मिथको के प्रति आकर्षण कोई अतीत के प्रति आकर्षण नहीं है, बल्कि उनका तो हर प्रयास ही अतीत से मुक्त होने का, उससे स्वतंत्र होने का है। फिर इन मिथको के प्रति उनका आकर्षण क्यो है? वस्तुत हर मिथक एक सत्य का ही रूपक होता है। प्राचीन परम्पराओं ने अनेक गूढ सत्यो को मिथको और प्रतीको के रूप मे निहित कर दिया है। ये मिथक हमारी भावनाओ और संवेदनाओं से गहरे जुड़े होते हैं, यद्यपि तर्क बुद्धि की कसौटी पर आते ही ये झूठे दिखने लगते हैं। अस्तित्ववादियों का प्रयास इन मिथकों में अन्तर्निहित सत्य को प्रकट करना है। वे इन जीवन्त सत्यों को सीधे हमारी संवेदनाओं के धरातल पर अनुभूत कराना चाहते हैं। अस्तित्ववादियों के लिए ये मिथक एक रिक्त आकार मात्र हैं, इनकी अन्तर्वस्तु को वही भरते हैं। केवल शब्द प्राचीन होते हैं, उनके अर्थ सर्वथा नवीन होते है। कामू ने ठीक ही कहा है– "मिथक इसलिए गढे जाते हैं कि हमारी कल्पना उनको जीवन्त कर सके। हर लेखक मिथक में अपनी कल्पना से रंग भरता है।"[1] वे कहते हैं–"मिथक का अपना कोई अलग से अस्तित्व नहीं होता, मिथक को जीवित होने के लिए, सम्पूर्णता के लिए आदमी को प्रतीक्षा करनी पड़ती है–सार्थक समय सदर्भ की। हम इन मिथकों को इसलिए बचाये रखते हैं, ताकि समय संदर्भ मे वह पुनर्जीवित हो सके।"[2]

अस्तित्ववादियों द्वारा अपने दर्शन को साहित्यिक रूप देने के और भी कारण थे।

सर्वप्रथम तो यह कि हम साहित्यिक पात्रों और चरित्रों को सरलतापूर्वक अस्तित्ववादी आकार दे सकते हैं। इससे एक दार्शनिक अपनी जीवन दृष्टि को सफलतापूर्वक मूर्तरूप मे जीवन्त कर सकता है। इसके लिए उसे न तो सुव्यवस्थित दर्शन तत्र की जरूरत पड़ती है और न किसी तार्किक प्रमाण की। पुन अस्तित्ववाद स्वयं में एक प्रतिप्रज्ञावादी आंदोलन है। चूकि साहित्य भावनाओ का जगत् है, अत इसके माध्यम से वह मनुष्य की भावनात्मकता की शक्ति को सशक्त अभिव्यक्ति दे सकता है। वह हमारी संवेदनाओ के सत्यो को सीधे जीवन से जोड़कर दिखा सकता है। तीसरी महत्वपूर्ण वात यह है कि अस्तित्ववाद ने इस दिशा मे प्रबल प्रयास किया है कि उसका दर्शन कोरा सिद्धांत ही न बने, अपितु हमारे व्यवहार का आधार भी बने। यह स्पष्ट रूप से मार्क्स की Poverty of Philosophy की आलोचना से बची रहे। यह प्रबुद्धजनो का कोरा वाग्विलास न हो, अपितु जनसामान्य की जीवनशैली और उसकी क्रियाशीलता मे अभिलक्षित हो। अतः वे अपने दर्शन को साहित्य के ही माध्यम से अधिकाधिक लोकप्रिय बना सकते थे। इसी लोकप्रियता और जनसामान्य तक पहुंच को ध्यान में रखकर ही उन्होंने नाटक रूपी पतनोन्मुख साहित्यिक विधा को भी कहानियों और उपन्यासों के समतुल्य स्थान दिया।

इन दार्शनिको के साहित्य में एक विशिष्टता थी। इनमे एक ओर जहां जीवन की समस्याओं के प्रति गहन चिंता थी और दूसरी ओर दर्शन की अवधारणाओं का सूक्ष्म चिन्तन भी था। यह पहली बार हुआ कि दार्शनिक जिज्ञासा जिजीविषा से जुड़ गयी, चिन्ता और चिन्तन एकाकार हो गये। फलतः यहां आकर दर्शन स्वय एक दृष्टि वन गया। इनके साहित्य में जीवन की सत्यता भी है और दर्शन की सूक्ष्मता भी। इसी कारण इनके साहित्य की लोकप्रियता देश काल के बंधन तोड़कर वैश्विक हो चुकी है। विश्व की अधिकांश प्रमुख भाषाओं में ये साहित्य अनूदित हो चुके हैं। इनकी वैचारिक महत्ता सार्त्र और कामू को साहित्य के लिए मिले नोबल पुरस्कारों से स्वत. सिद्ध है।

यहां हम पुन. उस मूल विषयवस्तु पर आयें कि अस्तित्ववाद की सामाजिक पृष्ठभूमि को निदर्शित करने में साहित्य की क्या भूमिका रही। यहां इसकी सार्थकता हम इस रूप में देख सकते हैं कि हम किसी सामाजिक पृष्ठभूमि को केवल इतिहास के माध्यम से नहीं समझ सकते क्योंकि वह केवल बाह्य तथ्यों का निरूपण करता है उसके

आंतरिक संवेगात्मक तत्वों का नहीं। इतिहास तो केवल विजेताओं का होता है, शासकों का होता है। जनसामान्य किस मनोदशा से गुजर रहा है, इसका निदर्शन तो साहित्य ही कर सकता है। अत सामाजिक पृष्ठभूमि की पूर्ण परख के लिए हमे उसे इतिहास के साथ-साथ साहित्य के भी नजरिये से देखना होगा। पुन चूकि साहित्य समाज का निदर्शक ही नहीं, अपितु निर्देशक भी होता है। अत. यह स्वयं भी प्रकारान्तर से पृष्ठभूमि बन जाता है। वैसे भी स्वच्छंदतावाद (Romanticism) जो साहित्य की एक महत्वपूर्ण धारा रही है, के विरुद्ध घोषणा पत्र के समान ही अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुत अस्तित्ववाद मध्यकालीन काल्पनिक रूमानियत और आधुनिक भौतिक आडम्बर-दोनो के खिलाफ था। उसकी दृष्टि मे प्रकृतिपरक पलायनवादिता भी मनुष्य के लिए इतनी ही घातक थी, जितनी आज की भोगपरक प्रदर्शनवादिता। लेकिन चूकि अस्तित्ववाद का ध्यान मुख्यत समकालीन सकटो और समस्याओ पर केन्द्रित था, अत आधुनिक जीवन के खोखलेपन और उसकी निरर्थकता ही उनके साहित्य मे विशेष रूप से मुखरित हुई। दोस्तोवस्की, यास्पर्स तथा सार्त्र की रचनाओं में यह भाव प्रमुख रूप से अभिव्यन्जित हुआ है।

अस्तित्ववादियों की रचनाओं में एक चीज मुख्य रूप से आकर्षित करती है कि उनमें आंतरिक द्वन्द्वों, अतृप्त कामनाओं, अव्यक्त विक्षिप्तताओ, निरन्तर सालती निरर्थकताओं का बोध अधिक है। उसी काल में लिखी गयी समाजवादी रचनाओं मे इसके विपरीत बाह्य विसंगतियो, वर्गीय विरोधों और सामाजिक विकृतियों का वर्णन अधिक है। यह भेद वस्तुत. दोनो की अपने-अपने ढंग से समस्याओं को देखने के कारण हैं। किन्तु ऐसा नहीं है कि अस्तित्ववादी रचनाओं मे बाह्य समस्याओं को नहीं उठाया गया है, बल्कि महत्वपूर्ण तो यह है कि इनमें जिन बाह्य सस्याओं को उठाया गया है उनकी इतनी सशक्त और जीवन्त प्रस्तुति अन्यत्र नहीं है किन्तु इन समस्याओं की प्रकृति दूसरी है। इनमें दमन, शोषण, निर्धनता, विषमता, वर्ग-संघर्ष जैसी समस्याएं नहीं हैं, अपितु वे समस्याएं हैं जो सीधे-सीधे अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देती हैं। सच तो यह है कि इन्हें समस्या नहीं अपितु संकट की संज्ञा देना अधिक समीचीन है। इसमें तो सीधे जीवन के होने या न होने का प्रश्न है। यहां निर्मम मृत्यु के समक्ष निरीह अदम्य जिजीविषा का प्रश्न है। इसी कारण अस्तित्ववाद में युद्ध के, विध्वंस के, महामारी के, आसन्न

संकटों के चित्रण अधिक हैं। ये संकट ऐसे हैं कि इन्हे टाला नहीं जा सकता। इनके लिए आर-पार की लडाई लडनी पडती है। हमे इस या उसमें किसी एक को वरण करना पड़ता है। कीर्केगार्ड ने एक पुस्तक का नाम ही रखा है Either/or।

अस्तित्ववादियों के अनुसार अस्तित्ववाद कोई वाद नहीं, अपितु एक दृष्टि है। जीवन को जीने की दृष्टि, जीवन के यथार्थ को समझने की दृष्टि। उन्होने जीवन के यथार्थ को गहरायी से देखा है, उसके त्रास को, दु:ख को, पीड़ा को अनुभूत किया है। उन्होंने जीवन की निरर्थकता देखी है, जगत की कुरुपता देखी है, प्रकृति की निर्ममता देखी है, ईश्वर की निरीहता देखी है। इसी कारण वे बुद्ध की भांति "सर्वमनित्यं, सर्वमनात्म, सर्वं दु:खं" की अवधारणा की ओर अग्रसरित हो जाते हैं। जगत् की विरूपताओ और जीवन की कुरूपताओ का जितना व्यापक वर्णन अस्तित्ववादियो के साहित्य मे है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होने यथार्थ का नग्न चित्र प्रस्तुत किया है, चाहे उसमे कुत्सा हो, चाहे उद्वेग, चाहे घृणा या कुरूपता। सार्त्र और इमाइल जोला का साहित्य तो इस रूप में अत्यत चर्चित रहा है। सार्त्र ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक का नाम ही अत्यत गुप्साजनक रखा है- Nausea (उबकाई)।

वस्तुतः ये कुरूप और कुत्सित पक्ष भी हमारे जीवन के अभिन्न अग हैं, उनके प्रति आंखें बंद कर लेने से उनकी सत्ता समाप्त नहीं होती। हमारी शुतुर्मुर्गी मनोवृत्ति हमें इनसे मुक्त करने मे असमर्थ है। हम चाहें, न चाहें ये अनचाहे पहलू हमें उद्वेलित करते रहेंगे। पुनः जनसामान्य का अधिकांश न तो विशिष्ट्गुणों से पूर्ण होता है और न आदर्श मूल्यों का भक्त। यह वर्ग सर्वहारा ही नहीं, दिशाहारा भी है-हताश, कुंठित, अर्द्धविक्षिप्त, त्रस्त। आम साहित्यकार जिन आदर्श चरित्रों का सृजन करते हैं वे हमारे जीवन से कोसों दूर होते हैं। आम जीवन तो मिश्रित चरित्र का होता है जिसमें कुरूपता भी है, सुन्दरता भी है, आशा भी है, निराशा भी है, घृणा भी है, प्रेम भी, अत जीवन की कुरूपता और हताशा का चित्रण करने वाला साहित्य निरर्थक नहीं।

किन्तु अस्तित्ववादियों ने अपने साहित्य में जैसी कुरुपता और हताशा का चित्रण किया है, वह अतिरंजित है। जीवन मे अनेक अँधेरे, कुत्सित तथा विद्रूप पहलू तो हैं, किन्तु उसमे अनेक उज्ज्वल, गरिमापूर्ण और सुन्दर पहलू भी हैं। मानव की मानवता और उस मानवता की महत्ता उसके हेयताओं से ऊपर उठने के कारण है, अपनी प्राप्त

पशुता का अतिक्रमण करने के कारण है। सार्त्र कहते तो हैं–"मनुष्य जव पैदा होता है, तब वह तुरन्त मानवीयता प्राप्त नहीं कर लेता। वह मानवीयता अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके।"[3] किन्तु वे मानवीयता का उदात्त रूप केवल उसकी स्वतत्रता और प्रतिबद्धता मे देखने का प्रयास करते हैं, उसकी उदारता और प्रेमपूर्णता मे नहीं। वे सामान्य जीवन की अर्थहीनता और मूल्यहीनता तो देख लेते हैं, किन्तु इस सामान्य जीवन का अतिक्रमण कर आने वाली सुन्दरता, सज्जनता व शालीनता को चित्रित करना भूल जाते हैं, उसके शुभत्व और सौहार्द की महिमा की उपेक्षा कर देते हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'Nausea' का नायक राक्वेटीन एक अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति है, निरन्तर निरर्थक प्रलाप कर रहा होता है, किन्तु वे उसके इन निरर्थक कथनो से जगत् की निरर्थकता निगमित कर लेते हैं। राक्वेंटीन ट्रैपकार की सीट मे अर्थवत्ता खोजने का प्रयास करता है, उसके वस्तुगत गुणों में मानवीय प्रयोजनों और भावों को डालना चाहता है।[4] वह चेस्टनट की जड़ों में अस्तित्व और उद्देश्य खोजना चाहता है उसकी बेचैनी उसकी उबकाई के रूप में सामने आती है और सार्त्र इस उवकाई को भी ऐसे चित्रित करते हैं, जैसे यही जीवन का अनिवार्य सत्य हो। वे इसे ही पुस्तक का शीर्षक भी बनाते हैं। सार्त्र की ट्राईलॉजी का मुख्य पात्र जैनियल भी काफी कुछ राक्विंटन से मिलता है, उसकी प्रकृति कुछ अधिक ही असामान्य है और वह स्वयं एक केस हिस्ट्री वन जाता है। अपनी निरपेक्ष, अनियंत्रित स्वतंत्रता का सामना न कर पाना उसके जीवन को त्रासद बना देता है। उस त्रासदी को जीने में ही उसे अपने जीवन की नियति दिखायी देती है। जीवन की कोई भी अन्य उपलब्धि इसके सामने कोई मायने नहीं रखती। सार्त्र का विश्वास है कि असामान्य में भी सामान्य की झलक देखी जा सकती है, यद्यपि अपने विकृत रूप मे ही पर उसकी विकृति के सहारे उसके प्राकृत रूप की भी कल्पना की जा सकती है।

कैनियल की तरह मैथ्यू भी एक ऐसा पात्र है जो जीवन से जुड़कर भी उससे अलग ही अपने को रखता है। उसमें संस्थागत जीवन और उसकी मान्यताओ के प्रति वितृष्णा है क्योंकि उसे इस जगत् की निरर्थकता का भरपूर एहसास है। उसके जीवन की परिणति हिसा में होती है और इसके पीछे उसकी धारणा बनती है–"किसी मे कुछ भी सार्थकता नहीं, न मृत्यु में, न जीवन में।"[6] जीवन और जगत् में ऐसी निरर्थकता कि जन्म ही

नहीं, मृत्यु भी निरर्थक हो जाती है-निश्चित ही घातक और आत्मघातक स्थिति है।

राक्विटन भी ऐसी ही मन:स्थिति से गुजर रहा है। वह हत्या और आत्महत्या-दोनो विकल्पों पर निरर्थक विचार करता है। वह हाथ में चाकू लेकर स्वयं से बातें कर रहे आटोडाइडेक्ट की आँखों मे घोंप देने का विचार कर रहा है। यह जानते हुए भी कि इसका परिणाम भयावह होगा। वह अपने ही हाथ में चाकू भोककर आत्महत्या का रिहर्सल करता है। उसकी मनःस्थिति एक अघोरी सी है। हर तरफ, भीतर-बाहर उसे सड़ांध और वीभत्स कुरुपता दिखायी देती है। पेड़ की छाल उसे लगता है, उबला हुआ चमड़ा है, उसकी नाक में दुर्गन्ध भर जाती है। स्टेनों के रूप मे काम कर रही स्त्री उसे स्कर्ट के नीचे सड़ती हुई दिखायी देती है। स्त्री के साथ लेटे हुए उसे लगता है कि उस स्त्री का शरीर पार्क है, जिसमें चींटियां, कनखजूरे रेंग रहे हैं, वहां जानवर हैं जिनके शरीर टोस्ट के उन टुकड़ों के बने हुए हैं जो भुने हुए कबूतरों के नीचे रखे जाते हैं और ये जानवर केकड़ो की तरह टेढे-मेढे चलते हैं। सड़ते हुए शव से उसे वायलेट फूलों की गंध आती है और पार्क मे, स्त्री मे, सहवास में उसे कै की दुर्गन्ध आती है। उसे अपनी खोपड़ी ही लिजलिजी और गर्दन से अलग प्रतीत हो रही है। अंत में वह कहता है-"अन्त्वान राक्विंटन का अस्तित्व किसी के लिए नहीं है। सोचकर हँसी आती है और यह अन्त्वान राक्विंटन आखिर है क्या? एक निराकार धारणा। स्वयं की छोटी सी पीताम स्मृति चेतना में लहराती है-अन्त्वान राक्विंटन। और अचानक अहम् पीला पड़ता हुआ मुरझा जाता है और अंत में गायब हो जाता है।" जीवन का ऐसा कुत्सित चित्रण और उसका ऐसा अंत-कौन सी दिशा दे रहे हैं- समझ में नहीं आता। राक्विंटन आत्महत्या नहीं करता, किन्तु कल्पना में उससे मिलती जुलती स्थिति में पहुँच जाता है। उसके कार्यो का, चिंतन का विवेक से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए उसका जीवन सार्त्र के अस्तित्ववाद को असिद्ध करता है।[7]

सार्त्र के दर्शन के स्त्रोत और इसकी असफलता उसके नाटक "The Flies" में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जहां तक क्लीट्मनेस्ट्रा द्वारा एग्मेम्नन की हत्या करने और अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए ओरेस्टस द्वारा उसकी हत्या करने का सम्बन्ध है, यह यूनानी आख्यायिका पर आधारित है। इसके अतिरिक्त यह कथा पूर्ण रूप से रूपान्तरित है। इस नाटक के आरंभ में चूँकि क्लीट्मनेस्ट्रा अपने दोषों का

प्रायश्चित नहीं करती, अत दैवी दण्ड के रूप मे उसका शहर घृणित रूप में अनगिनत मक्खियों से भर जाता है। आरेस्टस केवल अपने वारे में ही चिन्तित है। उसकी मुख्य समस्या है- "मैं कौन हूं? शायद ही मेरा अस्तित्व है?" यह अधिकांश निरपेक्ष अस्तित्ववादियो की स्थिति को व्यक्त करती है। वे अपने दैनिक जीवन के अस्तित्व को अर्थ देने में असमर्थ हैं। उनका ख्याल है कि उनका जीवन निरर्थक और यथार्थ है, अत वे कोई महान कार्य करने का कठिन प्रयास करते हैं, और उनका यह प्रयास एक विचित्र दिशा में विचित्र रूप मे सामने आता है।[8] उसका न तो कोई औचित्य दिखायी पड़ता है और न कोई उद्देश्य। The Flies में ओरेस्टस अपनी माँ की हत्या कर देता है, लेकिन न तो इस उद्देश्य से कि वह पिता का बदला ले, न न्याय की पुनर्स्थापना करने के उद्देश्य से, प्रत्युत केवल अपने जीवन को अर्थ प्रदान करने के उद्देश्य से। वह स्पष्ट रूप से कहता है-"कोई शुभ और अशुभ नहीं है। मेरा कार्य शुभ था, क्योंकि मैंने इसे किया है प्रत्येक मनुष्य को अपना मार्ग ढूढना चाहिए।" अन्तत इस नाटक की विचित्र परिणति यह होती है कि शहर के दोष को ओरेस्टस का दोष वना दिया जाता है और वह भी बिना किसी प्रतिरोध के चुपचाप दोष स्वीकार कर लेता है और गर्वपूर्वक मक्खियों से भरा हुआ वहां से प्रस्थान करता है। यहां उसका यह उद्घोष कि "मुझे मेरी स्वतंत्रता मिल गयी है" वस्तुत· स्वतंत्रता को ही अर्थहीन बना देता है। स्वतंत्रता का ऐसा चित्रण एक विसंगति या विकृति ही कहा जायेगा। स्वतंत्रता का उद्देश्य तो मानव द्वारा जीवन निर्बाध रूप से अर्थवत्ता को प्राप्त करना है, किन्तु ऐसी स्वतंत्रता जो जीवन को अर्थहीन बना दे, स्पष्टत· व्यर्थ होगी। जिस प्रकार बार्कर ने मिल की स्वतत्रता की अवधारणा को "रिक्त स्वतंत्रता" कहकर आलोचना की है, उसी प्रकार हम सार्त्र की स्वतत्रता को भी "रिक्त, विरक्त, एवं विकृत स्वतंत्रता" कहकर आलोचना कर सकते हैं। इस स्वतत्रता में न तो नैतिकता है, न ही आध्यात्मिकता है, न सामाजिकता है और न सार्थकता है। इसमें कुछ है तो केवल एक विक्षिप्त अस्मिता की भावना, एक भग्न आशा का खोखलापन।

इस मुक्ति की अर्थहीनता, हत्या करने और जुगुप्सा के साथ आलिंगन करने के निष्कर्ष से ही स्पष्ट हैं। यह नाटक "फ्रेंच रेनेसा" को प्रोत्साहित करने के लिए लिखा गया था और पेरिस में इसे बड़े साहस के साथ दिखलाया गया जबकि फ्रांस पर नाजी

आधिपत्य था। लेकिन चूँकि न तो शुभ का अस्तित्व है, न अशुभ का, अत नाजियो द्वारा की गयी किसी भी हत्या का समर्थन करने के लिए इसका समान रूप से प्रयोग किया जा सकता है। स्पष्टत , अस्तित्व की यथार्थता यहा विभिन्न कार्यो के मूल्यो के बीच सभी भेदो को नष्ट करके ही प्राप्त की जाती है।[9]

अल्बैर कामू ने तो दार्शनिक विषयों पर लिखने की वजाय साहित्यिक रचनाए ही अधिक लिखी हैं। उनके उपन्यासो मे The Stranger, Plague, Fall, The First man आदि प्रमुख हैं। उसकी अन्य रचनाओं में Myth of Sysifus विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके लेखन मे वैचारिक विकास की तहें एक के बाद दूसरी किताव मे अधिक से अधिक खुलती चली जाती हैं। जहाँ वे The Stranger और Myth of Sysifus मे एक अस्तित्ववादी लेखक की तरह प्रतीत होते हैं, वहीं Plague एवं Rebel मे वह अपनी अस्तित्ववादी विचारधारा को लाँघ जाते हैं।

'प्लेग' में उन्होंने ओरान शहर में अचानक फैली इस महामारी की विभीषिका का विशद वर्णन किया है। 'मृत्यु का भय' अस्तित्ववादियों का प्राय. केन्द्रीय विषय रहा है। आरंभ में ही इस प्राणघातक बीमारी की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। लेखक स्वयं ओरान शहर का जिक्र करते हुए कहता है- "हमारे शहर की अगर कोई विशेषता है तो वह यह कि यहां आदमी को मरने मे कठिनाई का अनुभव करना पड़ता हैं। कठिनाई शब्द शायद अधिक उपयुक्त नहीं है, परेशानी सत्य के अधिक निकट है .. जरा सोचिए तो कि एक मरणासन्न व्यक्ति को यहां कैसा लगेगा, जो गरमी से तपती हुई हजारो दीवारो के बीच आ फँसा हो, तब स्पष्ट हो जायेगा कि मृत्यु के साथ कितनी परेशानी जुड़ी हुई है- हर आधुनिक मृत्यु के साथ, जब वह एक खुश्क जगह की इन परिस्थितियों में आपको पछाड़ के रख देती है। इन उल्टे सीधे विचारों से. दरअसल यह आभास करा देना ही हमारा उद्देश्य था कि इस शहर का बाहरी रूप और इसके अन्दर की जिन्दगी कितनी क्षुद्रतापूर्ण है।" [10] इस उपन्यास का मुख्य पात्र डा बर्नार्ड रियो प्लेग की वैश्विक विभीषिका की परिकल्पना करता है- "शहर में ऐसी आकस्मिक और विचारहीन शांति छायी थी, जो अनायास ही प्लेग की पुरानी तस्वीरों का खण्डन कर रही हो। एथेन्स, एक विशाल श्मशान, जिससे आसपास तक सड़ांध उठ रही थी और जिसे चिड़ियां भी वीरान करके उड़ गयी थी, चीन के शहर प्लेग के शिकार मरीजों से पटे हुए जो खामोशी

से अपनी यातना झेल रहे हैं, मर्साई, जहा पर कैदी खन्दको मे सडी हुई लाशो के ढेर जमा कर रहे हैं, प्रोवेन्स के इलाके में प्लेग की हवाओ को रोकने के लिए एक महान दीवार का निर्माण, कुस्तुन्तुनिया के कोढ़ी गृह, बदबूदार सड़ी चटाइयाँ मिट्टी के फर्श में धंसी हुई, जहां रोगियो को कुदालो से ठेलकर अपने विस्तरो से नीचे गिराया गया था, काली मौत को शात करने के लिए नकावपोश डाक्टरों का मेला, मिलान शहर के कब्रिस्तानों मे स्त्रियों और पुरुषो की खुली रतिक्रियाए, लन्दन की पिशाचो के भय से आक्रान्त अंधेरी सडको पर से लाशो से भरी गाडियो का चरमराते-लडखडाते गुजरना-हमेशा और हर जगह मनुष्य के दर्द से भरे चिर क्रन्दन से आक्रान्त राते और दिन।''[11]

प्लेग वस्तुत यहा एक सामान्य संकट का प्रतीक है-चाहे वह युद्ध का हो सकता है या महामारी का या प्राकृतिक आपदा का। उपन्यास का एक पात्र तारो कहता भी है- ''हममें से हरेक के भीतर एक प्लेग है, धरती का कोई आदमी इससे मुक्त नहीं है और मैं यह भी जानता हूं कि हमे अपने ऊपर लगातार निगरानी रखनी पड़ेगी ताकि लापरवाही के किसी क्षण में हम किसी चेहरे पर सांस डालकर उसे छूत न दे बैठें। ..प्लेग का शिकार होना बड़ी थकान पैदा करता है किन्तु प्लेग का शिकार न होना और भी ज्यादा थकान पैदा करता है। इसीलिए दुनिया में आज हर आदमी थका हुआ नजर आता है ऐसी थकान जिससे मौत के सिवा कोई चीज हमे मुक्ति नहीं दिला सकती। जब तक मुझे वह मुक्ति नहीं मिलती है, जानता हूं कि आज की दुनिया मे मेरे लिए कोई जगह नहीं है।''[12]

ईश्वर के प्रति विद्रोह भाव प्लेग मे अनेक स्थानों पर मुखरित होता है। फादर पैनलों की आस्था इस महामारी मे कम्पित हो जाती है और वह केवल ऊपरी तौर पर ईश्वरीय प्रेम और ईश्वरीय कृपा की बाते करता है। मर्साई शहर में आये प्लेग के समय मर्सी मठ के इक्यासी पादरियों में से सिर्फ चार लोग ही जिन्दा बचे, और ये वही थे जो अन्ततः मठ छोड़कर भाग गये थे। पादरी भागने वालों की भर्त्सना करता है और उस बिशप की इस बात के बावजूद कि उसने महामारी के समय स्वयं को प्रचुर खाद्यान्न के साथ महल में बंद कर लिया था, कोई निन्दा नहीं करता। यहां उसमें अस्तित्ववादी आस्था मुखरित हो उठती है। ''बचाव का कोई द्वीप नहीं है, न ही बीच का कोई रास्ता। हमें यह संकट स्वीकार करना ही पड़ेगा। हमें या तो खुदा से मुहब्बत करनी पड़ेगी

या नफरत करनी पड़ेगी। और खुदा से नफरत करने की जुर्रत किसमे है? मेरे भाइयो, खुदा से प्यार करना बड़ा मुश्किल है। यह प्यार सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की माग करता है, इसमे अपने मानवीय व्यक्तित्व को अत्यत तुच्छ समझना पड़ता है। फिर भी इस प्यार के कारण हम बच्चो की मंत्रणाओ और मौतो से समझौता कर लेते हैं, सिर्फ इसी प्यार के कारण हम उन्हे उचित ठहरा सकते हैं, चूंकि हम इन बातों को समझने मे असमर्थ हैं और खुदा की मरजी को ही अपनी मरजी बना सकते हैं। इसी को आस्था कहते हैं, जो इंसानों की नजर में जुल्म है और खुदा की नजरों मे वड़ी नाजुक चीज है। हमें हमेशा ही इसी आस्था को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।"[13] और अन्तत यह पादरी शीघ्र ही स्वय प्लेग की बलि चढ जाता है। उसकी आस्था डा रियो को कहीं से संगत दिखायी नहीं पडती।

कामू ने प्लेग की ही समकालीन अपनी रचना The Rebel मे सीधे ईश्वर को चुनौती दी है। यहा वे आस्था को दार्शनिक आत्महत्या की सज्ञा देते हैं और ईश्वर के प्रति इतने आक्रोशपूर्ण हो उठते हैं कि मानो वह ईश्वर को नेस्तनावूद करके ही दम लेंगे।[14] वे कहते हैं कि जीवन की यथार्थ शर्तों को स्वीकार करते हुए जीना भी उतना ही असंभव है। इसी कारण जीवन के प्रति उसकी उन शर्तों के प्रति जिन्हें स्वीकार करते हुए उन्हें जीना है, उनका हृदय बगावत कर उठता है और वह उन क्षणों में न केवल जीवन के प्रति, बल्कि जगत् के सृष्टा के प्रति भी विद्रोह से भर उठते हैं। यह सृष्टा रूपी परमसत्ता भी हमारी परिस्थितियों की ही भाँति प्रभावहीन सिद्ध होती है।[15]

प्रभा खेतान ने प्लेग को सार्वभौम और तत्कालीन-दोनों सकटो का प्रतीत माना है। उनकी दृष्टि में प्लेग की यह महामारी नाजियों का प्रतीक है, क्वारेंटाइम कैम्प नाजियो का कन्सेट्रेशन कैम्प है। डाक्टर और उसके सहायक स्वतंत्रता सेनानी हैं।[16]

कामू के लेखन का अधिकांश हिस्सा द्वितीय महायुद्ध के समय प्रकाशित हुआ था और उनकी रचना में बौद्धिक विश्लेषण के बदले आवेग झलकता है। उनकी रचनाओं में युद्ध और मृत्यु का व्यापक चित्रण भी है। स्वयं उनके पिता युद्ध मे मारे गये थे। उनकी अन्तिम और सद्य. प्रकाशित रचना "पहला आदमी" स्वयं उनकी आत्मकथा प्रतीत होती है और इसमें युद्ध के अनेक वीभत्स पहलुओं का जिक्र हुआ है। "अल्जीरियावासियों-अरबों और फ्रांसीसियों का विशाल जनसमुदाय चुस्त चमकदार रंगों के कपड़ों में सिर पर स्ट्रा

हैट, लाल और नीले निशान, जिन्हे मीटरों दूर से देखा जा सकता था, साथ के साथ उछल कर आग मे गिरे। पूरा समुदाय एक साथ जलकर भुन गया। जमीन के उस पतले से टुकड़े को उर्वर करने के लिए जहां चार साल तक सारी दुनिया से कीचड़ में रेंग रेंगकर आये लोग गोलों से निकली आग की लपटो, आदमियो के अधजले अंगो, धुओं, चीख – चिल्लाहट से भरे आसमान के नीचे एक-एक मीटर जमीन के लिए लडते रहे, जबकि भारी गोलाबारी उनके जीवट प्रयत्नो को निरर्थक सावित करती रही। लेकिन अभी भी वहां बंकर नहीं थे सिर्फ अफ्रीकी सिपाही थें, जो उस भीषण आग मे ऐसे पिघल रहे थे जैसे रंग बिरंगे मोम के गुड्डे हों और अल्जीरिया के हर कोने में हर सुबह बेटे-बेटियां अनाथ हुए जा रहे थे, जिन्हें अब बिना किसी के मार्ग निर्देशन के, बिना विरासत के जीना सीखना पड़ेगा।[17]

नायक का पिता कारमरी युद्ध में शत्रुओ द्वारा अपने सैनिको के क्षत-विक्षत शव को देखकर हतप्रभ रह जाता है-"उन्हे अपना साथी एक काटेदार हैज के किनारे सिर पीछे लटकाकर अजीब तरीके से ऊपर चाद देखता दिखायी दिया। शुरू मे वे उसका सिर पहचान नहीं पाये, क्योकि उसका आकार बहुत अजीब दिख रहा था। उसका गला काट दिया गया था और उसके मुंह में जो वह काली ठुसी हुई चीज दिख रही थी वह उसकी पृथक की हुई पूरी की पूरी जननेन्द्रिय थी। तब उन्हें लाश दिखी टांगे वीच में खोली हुई, जुआव पतलून चीरी हुई और उस खाली स्थान के बीच मे वह खून से भरा लोटा जो अब चांद की तिरछी आती रोशनी में साफ-साफ दिख रहा था।[18]

'पहला आदमी' वस्तुतः एक आदमी द्वारा स्वयं की खोज है, अपनी आदमियत की पहचान है, मृत्यु को देखने का साहस है। उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है-'पिता की खोज' तथा 'पुत्र'। पहले में व्यक्ति द्वारा अपनी पृष्ठभूमि और संदर्भ की तलाश है और दूसरे मे अपने भीतर स्वय की खोज है। दूसरे भाग मे मुर्गी काटने के दर्दनाक और निर्मम प्रकरण को उठाकर कामू ने प्रतीकात्मक रूप में मृत्यु की विभीषिका और उसके प्रति जगत् की निर्ममता अमानवीयता का प्रश्न उठाया है। उसके तुरन्त बाद अपने आपसे छिपा हुआ' प्रकरण में नायक सौन्दर्यपरक और यौनपरक भावों मे जीवन की सार्थकता तलाशता है, किन्तु नितान्त असफल रहता है। शायद उसके मन में प्रारंभ से ही यह भाव बैठ गया है कि "जीवन अपनी समग्रता में उस दुर्भाग्य से बना है जिसका कुछ

किया नहीं जा सकता, जिसे सिर्फ सहा जा सकता है।[19]

जीवन के निर्मम सघर्ष में भी उसकी जिजीविषा मन्द नहीं पड़ती। "वह जी रहा है, उसने खुद अपने आपको बनाया था, वह अपनी सामर्थ्य और ऊर्जा पहचानता था, आत्मलीन और आत्मावलबी था, वह मूर्ति, जिसे प्रत्येक आदमी खडी करता हे, समय की भट्ठी पकाता है और फिर उसके अन्दर घुस जाता है, वहां जाकर अपने आखिरी चूर-चूर होकर गिरने के इतजार मे, अब तेजी से तडक रही थी, ढहना शुरू हो गयी थी, अब जो बाकी बचा था, वह था जीने की असाधारण लालसा लिए उसका दु:खी मन।"[20]

कामू प्रतीकीकरण और प्राचीन मिथकों पर विशेष बल देते थे विशेषत उन्हें प्राचीन ग्रीक मिथको से बेहद अनुराग था। ग्रीक साहित्य मे वर्णित तीन मिथकीय चरित्रो के आधार पर उन्होने तीन रचनाएं की हैं और ये रचनाए वस्तुतः उनके साहित्यिक जीवन यात्रा के तीन पड़ाव हैं। पहले कालखण्ड मे वे ग्रीक योद्धा सिसिफस से प्रभावित हैं। Myth of Sysıfus में जीवन की निरर्थकता और अदम्य जिजीविषा को चित्रित किया गया है। इसमे सिसिफस अपनी मृत्यु के बाद मृत्यु देवता से कुछ दिनों की अनुमति लेकर पुन पृथ्वी पर आ जाता है और फिर वापस नहीं जाता। इससे वहा के प्रमुख देवता वृहस्पति रुष्ट होकर उसे दण्ड देते हैं कि वह निरन्तर एक भारी पत्थर लेकर पर्वत के शिखर पर चढ़े, किन्तु पर्वत पर पहुचते ही पत्थर लुढक कर नीचे चला आता है, बार-बार उसका ऊपर चढ़ना ओर पत्थर का लुढककर नीचे आ जाना उसकी नियति बन जाता है। सिसिफस का पुत्र ओडियस उसकी दशा का वर्णन कर रहा है।

मैंने सिसिफस को असहाय पीड़ा में छटपटाते हुए देखा। उसके दोनों हाथो मे एक भारी चट्टान का टुकड़ा था और वह अपनी पूरी ताकत से उस चट्टान को पहाड़ी पर ले जाना चाहता था, किन्तु जैसे ही वह पत्थर को पहाड़ की चोटी पर ले जाता है वह भारी चट्टान लुढककर जमीन पर चली आती है। वह पसीना पसीना हो रहा है, उसके कदम लड़खड़ा रहे हैं, वह हॉफ रहा है, मगर पूरी ताकत से वह फिर चेष्टा करता है कि किसी तरह उस चट्टान को पहाड़ की चोटी पर स्थापित कर दे। उसके सिर पर धूल का बवंडर उड़ रहा है और वापस गड़गड़ाते हुए वह चट्टान समतल मैदान की ओर लुढकने लगता है। यहां सिसिफस प्रतीक है-आदमी की बेतुकी जिन्दगी का, उसके

निरन्तर व्यर्थ होते प्रयासो का और अन्तहीन अतृप्त जिजीविषा का।

दूसरे कालखण्ड मे वे ग्रीक महानायक प्रोमोथियस का चित्रण करते हैं। प्रोमोथियस देवत्व के विरुद्ध मनुष्यत्व की श्रेष्ठता का उद्घोष है। एक अकेले मानव का देवों के विरुद्ध विद्रोह है। जब धरती पर बर्फ ही बर्फ जमी थी और अग्नि देवताओ के आधिपत्य में थी, तब प्रोमोथियस वृहस्पति के घर से अग्नि को चुराकर मानव कल्याणार्थ पृथ्वी पर लाते हैं। वृहस्पति इसके दण्ड स्वरूप उन्हे पत्थर से वंधवा देते हैं और उनका मॉस चील-गिद्ध नोंचकर खाते रहते हैं। हर रोज दिन मे ये पक्षी उनका मॉस खाते हैं, किन्तु रात होते ही प्रोमोथियस जजीरे छुडाकर फिर स्वर्ग से अग्नि चुराकर पृथ्वी पर ला देते हैं। यह नित्य प्रति का क्रम हो जाता है। प्रोमोथियस का बलिदान, आत्म त्याग वस्तुत आदमी के औदार्य और सकल्प का अछूता प्रतीक है। इस मिथकीय प्रतीक के विषय में कामू लिखते हैं-"इसमे कोई शक नहीं कि समकालीन मनुष्य के लिए देवताओ को चुनौती देने वाली प्रोमोथियस की भूमिका बडी प्रेरक है, लेकिन हम आज भी मानवीय विद्रोह की उस महानता को पूरी तरह समझ नहीं पाये हैं। प्रोमोथियस वह अधिनायक है, जो आदमी को आग भी देना चाहता है और स्वतंत्रता भी। वह तकनीक भी लाना चाहता है पर इसके साथ सृजन की क्षमता को भी जीवित रखना चाहता है, जबकि आज का आदमी भाव पक्ष को नकारकर केवल तकनीक की ही जरूरत समझता है। वह दिन प्रतिदिन और अधिक यांत्रिक होता जा रहा है। प्रोमोथियस की विशेषता है कि वह कला को यांत्रिकी से अलग नहीं पाते। वह शरीर और आत्मा की मुक्ति की एक साथ ही कामना करते हैं। आधुनिक मानव भौतिक उपलब्धि के पीछे स्वयं अपनी आत्मा का हनन करने से नहीं चूकता। यदि आज भी प्रोमोथियस धरती पर लौटें, तो आधुनिक मानव उनसे वही क्रूर एवं निर्मम व्यवहार करेगे, जैसा कि वृहस्पति ने किया था। प्रोमोथियस मानवता का दूसरा नाम होते हुए भी स्वयं मानव द्वारा चट्टानों पर सॉकलो द्वारा जकड़ दिये जायेंगे।" [22]

तीसरे काल खण्ड में वे नेमेसिस का वर्णन करते हैं। यहां वे संतुलन और शाति की आकांक्षा रखते प्रतीत होते हैं। इसमें वे नियंत्रण और नियमन पर बल देते हैं। आदमी को उराकी शक्ति और सामर्थ्य की सीमा जानने पर बल देते हैं। यहां तक आते-आते उनमें सिसिफस के जीवन के बेतुकेपन का बोध तो कम हुआ ही है, साथ-साथ

प्रोमोथियस के उत्साह की भावना भी मन्द पड गयी है। सार्त्र "मिथ ऑफ सिसिफस" को महान रचना बताते हुए कहते हैं यह जिन्दगी के बेतुकेपन और बेतुकेपन के खिलाफ लिखी गयी सशक्त कालजयी रचना है। वस्तुत प्रथम रचना मे कामू नियतिवाद की ओर झुके हैं तो दूसरी रचना मे पुरुषार्थ की ओर। तीसरी रचना में दोनो का समन्वय हो जाता है।

परवर्ती काल मे उनकी एक लघु उपन्यासिका The Fall प्रकाशित हुई। इसका नायक क्लेमैन है और वह अपनी त्रासदी और एकाकीपन को आत्मलाप के रूप में अभिव्यक्त करता है। यहां वह हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त और श्रेष्ठता का भाव रखने वाला व्यक्ति है। वह आलोचनाओं से त्रस्त होकर स्पष्ट घोषणा कर देता है कि वह बुर्जुआ है। उसका कहना है-"अकेलेपन में और वह भी जब आदमी थका हुआ हो, आखिर किसी से भी क्या अपेक्षा हो सकती है? यही न कि वह खुद को मसीहा समझे"। उसकी सरलता मे भी एक दम्भ है, एक चुनौती है- "हम अपनी मासूमियत को किसी भी कीमत पर स्थापित करना चाहते हैं, चाहे इसके लिए खुले आकाश के नीचे सारी मानवता को ही क्यो न अपराधी घोषित करना पड़े।"

यहा हम कामू के साहित्य की समीक्षा करें, तो पायेंगे कि उन्होंने संकटों और संघर्षों का, जीवन और जिजीविषा का, पीडा और एकाकीपन का, यथार्थ चित्रण किया है। किन्तु उस चित्रण मे शायद उनका दार्शनिक निष्कर्ष खो गया है। मार्ग सही है, किन्तु वह लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाया है। पीड़ाओं का चित्रण करते-करते वे मानव को परपीड़क की भूमिका दे बैठते हैं। उदाहरणार्थ - उनके नाटक कैलीगुला का नायक कैलीगुला अपनी सहृदयता और सदाशयता छोड़कर अन्तत. क्रूरता और विध्वंस पर उतारू हो जाता है और इसी में अपनी स्वतंत्रता समझता है। वह कहता है- "मैं ऐसा राज्य बसाऊंगा, जहां असंभव संभव होगा। मैं चाहता हूं आकाश को समुद्र में डुबो दूं। सुन्दरता के चेहरे पर कुरुपता की कालिख मल दू और पीड़ा के चरम से खुशिया निचोड़ लू। .. इतिहास मे मेरे जैसे दो या तीन ही व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने वास्तव में स्वतंत्रता हासिल की है, जिनको सच में ऐसी पागल खुशी मिली है।"[23]

इस नाटक में कैलीगुला का अपनी बहन शीला से अवैध सम्बन्ध, उसका बर्बर अत्याचार उसके विकृत निर्णय जैसे वेश्यालयों को प्रोत्साहन आदि का व्यापक वर्णन किया

गया है। यह किस प्रकार की स्वतत्रता है? मृत्यु के प्रति विद्रोह भाव को सर्वसंहारक की भूमिका द्वारा हल करना एक मूढता ही है। Rebel का सृजनात्मक विद्रोह कामू के किसी भी पात्र मे सृजनात्मक नहीं लगता सिवाय प्रोमोथियस के। और सबसे बडी बात तो यह है कि वह जिन्दगी के बेतुकेपन का इतने शिद्दत के साथ चित्रण करते हैं कि वह वर्णन नियतिवाद की ओर अग्रसरित हो जाता है। वस्तुत यथार्थवाद को यदि आदर्शवाद से समन्वित न किया जाये, तो वह स्वय यथास्थितिवाद बनकर रह जाता है। कैलीगुला की राक्षसी मनोवृत्ति किसी भी प्रकार से अस्तित्ववादी दृष्टि नहीं हो सकती। Fall के क्लेमैन की दर्पोक्ति अस्तित्ववादी सूक्ति नहीं हो सकती। सिसिफस की नियति मानव की नियति नहीं हो सकती। मनुष्य अपने सृजन द्वारा, अपनी कल्पना द्वारा अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध करता है। इस चार अरब वर्ष पुरानी पृथ्वी पर प्रबुद्ध मनुष्य के आये मात्र चालीस हजार वर्ष हुए हैं और मात्र चार हजार वर्ष पूर्व उसने नगरीय सभ्यता विकसित की है किन्तु इसके बाद के अत्यंत छोटे काल मे उसने जो विकास किया है, उसे निरर्थक नहीं कहा जा सकता। पिछले करोड़ों वर्षों से पशु वहीं का वहीं है, उसकी चेतना में रत्तीमात्र का फर्क नहीं पड़ा है, किन्तु मात्र हजार वर्षों में मनुष्य की प्रबुद्ध चेतना ने धर्म और विज्ञान की चरम ऊँचाइयां छुई हैं और अब वह अतिमानव तथा अतिचेतन बनने की ओर अग्रसर है। वह सिसिफस नहीं, स्वय जीयस (वृहस्पति) बन चुका है। अत· उसकी नियति को ऐसे निराशावादी ढंग से अभिव्यक्त करना स्वयं अस्तित्ववादी दर्शन के ही खिलाफ है।

प्रख्यात रूसी लेखक दास्तोएवस्की घोषित अस्तित्ववादी तो नहीं हैं किन्तु उनकी रचनाओं में उसकी भावभूमि स्पष्ट दिखायी पड़ती है, ठीक वैसे ही जैसे-ब्लेजी पास्कल के दर्शन में अस्तित्ववादी विचारधारा स्पष्टत· परिलक्षित होती है। दास्तोएवस्की की रचना "अपराध और दण्ड" विश्व के पांच श्रेष्ठ उपन्यासों में परिगणित है। आइंस्टीन ने स्वयं इनकी प्रशंसा में कहा था कि दास्तोएवस्की की रचना में मैं किसी वैज्ञानिक विचारक से अधिक अर्थवत्ता पाता हूं।

दास्तोएवस्की की एक प्रसिद्ध रचना है- "My uncles dream" यह रचना हमारे सभ्य जीवन की प्रदर्शनप्रियता, मिथ्यावादिता, आडम्बर परकता और धनलोलुपता का मार्मिक चित्रण करती है। उपन्यास की नायिका जेना अपनी मां मारया अलेक्जेंड्रोव्ना

की महत्वाकांक्षाओ को ध्यान में रखते हुए अपने प्रेमी वास्या को छोड़कर वूढे, जर्जर, विकलांग काउंट ले से शादी करने को राजी हो जाती है। उसका प्रेमी वास्या उसे याद करते हुए दम तोड़ देता है और उससे शादी की इच्छा रखने वाला मोजगल्याको व उसकी मां द्वारा रची गयी सारी कूटनैतिक योजना को सरेआम पार्टी मे उद्घाटित कर मसूबो पर पानी फेर देता है। अन्तत· जेना एक बुजुर्ग गवर्नर जनरल से विवाह कर उसी विलासितापूर्ण और प्रदर्शनप्रिय जीवन मे ढल जाती है। एक रोमाटिक सी प्रारभ होने वाली कथा की परिणति अत्यंत गैर-रोमांटिक ढंग से होती है। सवके अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थ हैं, सबके अपने-अपने मुखौटे। अन्तिम समय में वास्या द्वारा कहे गये कथन-''सब चीजे मर जाती हैं, जेना, यहा तक कि स्मृतिया भी और हमारे उदात्त से उदात्त विचार भी मर जाते हैं''[24] में मृत्यु और नश्वरता की तीक्ष्ण और स्पष्ट स्वीकृति है किन्तु जिजीविषा प्रबल है, दुर्दम्य है। अपनी बीमारी स्वत चुनने वाला वास्या भी अपनी धीमी मृत्यु ही चुनता है। तभी तो वह अंत में कहता है- "जिन्दगी का आनद लो जेना। अगर तुम्हे प्यार करना ही हो तो किसी और से प्यार करना। कोई भी मरे हुए आदमी से प्यार नहीं कर सकता।... दुनिया मे आखिर किसी की मौत क्यों हो? ओह अपनी जिन्दगी वापस पाकर मुझे कितनी खुशी होगी।''[25]

दास्तोएवस्की की यह पूरी कथा आत्मप्रवंचना में भूले हुए समाज की कथा है, अपनी अस्मिता को खो बैठे लोगों की कथा है। किन्तु इसे पूरी तौर पर अस्तित्ववादी रचना भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि इसमें स्वयं को जानने की कोई अभीप्सा नहीं है, अपने अस्तित्व का, दायित्व का कोई बोध नहीं है और सवसे बडी बात तो यह है कि इसमें सारी कथा बाह्यपरक है-अंतर्मन की कहीं भी पड़ताल नहीं है, जो कि अस्तित्ववाद की आधारभूत विशेषता मानी जाती है। इस अर्थ में उनकी रचना Notes from Underground जो दो भागो में विभक्त है, अधिक महत्वपूर्ण रचना है। नीत्शे ने इस रचना की अत्यत प्रशंसा की है। पुस्तक के प्रथम भाग के बारे में उसका कहना है-''इस पुस्तक मे संगीत की ध्वनि है-एक ऐसा विशिष्ट संगीत, जो जर्मनी में तो देखने को नहीं मिलता।''[26] इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि इसकी पृष्ठभूमि समाज से पृथक होने की एकाकी हाने की पृष्ठभूमि है, नायक का वर्णन प्रथम पुरुष में है, वह समाज में होने और परितः परिजनों से घिरे होने के बावजूद एकाकी है। उसके

एकाकीपन मे एक आंतरिक वेदना है, एक उदासी है, गहन निराशा है। लेखक ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए उसकी 'दन्त पीड़ा' की घटना को वर्णित किया हैं। इस पीड़ा की चीख पर न तो पड़ोसी ध्यान देते हैं और न ही वह अपनी चीख को सार्थक समझता है।

यह नायक साधारण प्रकृति का है और जनसामान्य का प्रतिनिधि माना जा सकता है। इस रूप मे वह अत्यंत दीनहीन, रुग्ण तथा घृणित है। उसमें न कोई आकर्षण है, न कोई विशिष्ट व्यक्तित्व। वह किसी जटिल वीमारी से त्रस्त है, किन्तु स्वयं ही अपने रोग को नहीं जानता। वह न तो रोग का कारण ढूंढने का प्रयत्न करता है और न उपचार करने का। इस प्रकार निरन्तर उसकी स्थिति विगड़ती जाती है। वह एक शिक्षित व्यक्ति है, किन्तु रूढ़िवादी है, यह जानते हुए भी कि रुढ़ियां खोखली हैं, वाधक हैं। वह एक सरकारी पद पा लेता है, किन्तु लोग इससे घृणा करते हैं। वह एक विकट सामाजिक द्वन्द्व में है। यदि वह घूस नहीं लेता, तो लोग उसे मूर्ख समझकर उसका उपहास करते हैं और यदि वह घूस लेता है तो लोग उसे भ्रष्ट मानकर अपमान करते हैं। वह केवल दुविधा से ही ग्रस्त नहीं, अपितु हीनता से भी पीड़ित है। उच्च अधिकारी उसे त्रस्त करते हैं, तो वह निम्न कर्मचारियों को त्रस्त करता है। कुल मिलाकर उसकी हीनता, एकाकीपन, दुविधा, आंतरिक संत्रास आदि सभी एक आधुनिक मनुष्य के जीवन की विकृतियों को प्रतिबिम्बित करते हैं किन्तु इसमें भी कहीं अस्तित्वबोध की वह अन्तःप्रेरणा नहीं है जो इसे एक अस्तित्ववादी रचना के रूप में प्रतिष्ठित करे।

यदि हम दास्तोएवस्की के लगभग समकालीन और प्रारंभिक अस्तित्ववादी कीर्केगार्ड की रचनाओं में तुलना करें तो पायेंगे कि इनमें साम्य कम है, विरोध अधिक। वस्तुतः दोनों न तो एक दूसरे से परिचित थे न एक दूसरे की रचनाओं से दोनों का व्यक्तित्व भी एक दूसरे की रचनाओं से दोनों का व्यक्तित्व भी एक दूसरे से भिन्न हैं। कीर्केगार्ड जहां ईश्वरवादी तथा आस्थावान व्यक्ति है, वहीं दास्तोएवस्की अनीश्वरवादी तथा रूढिविरोधी व्यक्ति है। कीर्केगार्ड की चेतना में व्यक्ति केन्द्रीय है, जबकि दास्तोएवस्की की चेतना में विश्व केन्द्रित है। इसी कारण कीर्केगार्ड के साहित्य में संकीर्णता किन्तु आंतरिक गहनता है, जबकि दास्तोएवस्की के साहित्य में व्यापकता किन्तु वाह्यपरकता है। दोनो ही में साम्य यह है कि वे मनुष्य की हीनता को समझते और मुखरित करते

हैं उसके पतन और पतन में ही सुख खोजने वाली मनोवृत्ति पर चोट पहुंचाते हैं। दोनो आधुनिक जीवन के खोखलेपन में मनुष्य की तुच्छता को प्रकट करने में रुचि रखते हैं। किन्तु कीर्केगार्ड मे मनुष्य की अस्मिता मुखरित हो जाती है, जबकि दास्तोएवस्की मे उसकी अस्मिता प्रच्छन्न ही रह जाती है।

किन्तु बीसवीं सदी के आरभ से ही साहित्य जगत् मे अस्तित्ववाद के बीज विकसित होने लगे। इनकी अस्तित्ववादी दृष्टि कुछ तो स्वत स्फूर्त थी, कुछ अस्तित्ववादी दर्शन का परिणाम। स्वतः स्फूर्त अस्तित्ववादी साहित्य को हम इस कारण उपेक्षित नहीं कर सकते कि यह किसी दार्शनिक तंत्र या वैचारिक आंदोलन की भांति प्रादुर्भूत नहीं हुआ। वस्तुतः जिन युद्ध जन्य विभीषिकाओं और विज्ञानजन्य विसगतियो की प्रतिक्रिया मे दर्शनशास्त्र में अस्तित्ववादी क्रान्ति हुई, उन परिस्थितियों और विसंगतियों का साहित्य में स्वत और प्रत्यक्ष कोई प्रभाव नहीं पड़ता, यह असंभव था। साहित्य ने भी इसे प्रखर रूप मे प्रतिबिम्बित किया। जर्मनी फ्रांस और कुछ यूरोपीय देशों को छोड़ दें तो विश्व के अन्य देशों में इस दृष्टि का फैलाव दर्शन के माध्यम से कम साहित्य के माध्यम से ही अधिक हुआ। सार्त्र, कामू, काफ्का आदि से प्रभावित लेखको का भी अधिकाश वर्ग उनकी दार्शनिक रचनाओं के माध्यम से नहीं, अपितु साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से प्रभावित हुआ था।

एक तथ्य रूचिकर है कि विश्व के देशों में जैसे-जैसे राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना का विकास हुआ, वैसे-वैसे अस्तित्ववादी दृष्टि का भी विस्तार हुआ। वरना यदि युद्ध ही प्रधान कारण रहा होता तो प्राचीन राजतंत्रात्मक युगों में जितने युद्ध होते थे, उतने आधुनिक काल में नहीं हुए। भारत तो सदियों नहीं, अपितु सहस्त्राब्दियों से युद्ध और आक्रमण का साक्षी रहा है, किन्तु यहां के साहित्य में अस्तित्ववादी भावना बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तब मुखरित हुई, जब स्वतंत्रता की भावना अपने प्रखर और चरम रूप में थी। सही मायने मे तो भारत न तो प्रथम विश्व युद्ध का सक्रिय भागीदार था न द्वितीय विश्वयुद्ध का। वैज्ञानिकता ने भी तब तक केवल उनकी अर्थव्यवस्था को ही नष्ट किया था, उनकी आंतरिक व्यवस्था को नहीं। अतः हम मान सकते हैं कि अस्तित्ववाद की जो सर्वाधिक प्रधान सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि है, वह है-स्वतत्रता।

भारत में भी स्वातंत्र्य बोध के साथ ही अस्तित्वबोध की भावना विकसित हुई।

साहित्य जगत् मे इसके अग्रदूत रहे सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। इनके अतिरिक्त जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण, मुक्ति वोध आदि रचनाकारों ने भी इसके सवर्द्धन मे प्रचुर योगदान दिया। यहा एक तथ्य ध्यातव्य है कि इन कवियों में सार्त्र और फ्रायड का व्यामिश्रित प्रभाव रहा है। यद्यपि ये प्रगतिवादी साहित्यकारों की भांति मार्क्स से अत्यधिक अभिभूत तो नहीं हैं, किन्तु उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त भी नहीं हैं। वस्तुत व्यक्ति जिस सामाजिक व्यवस्था की विसगतियों के कारण स्वयं को एकाकी अनुभूत कर रहा है, वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अपनी तमाम व्यक्ति निष्ठा के बावजूद अस्तित्ववाद सामाजिकता की उपेक्षा नहीं कर सका है। यह अलग बात है कि इन साहित्यकारो में विद्रोह भाव व्यवस्था के प्रति कम, व्यवस्थापक (ईश्वर) के प्रति अधिक है। उन्हे सामाजिक दमन से मुक्ति की अपेक्षा मानसिक दमन से मुक्ति अधिक अपरिहार्य प्रतीत होती है और यही कारण है कि इनके साहित्य में जीवन की पीडा, स्वय की हीनता, एकाकीपन और उपेक्षा की वेदना के साथ-साथ यौन कुण्ठाओ और सामाजिक वर्जनाओं का भी प्रचुर वर्णन मिलता है। एक सीमा तक हम इसे स्वातंत्र्य अभिव्यक्ति का ही एक रूप कह सकते हैं। समाज के दबावों से मुक्ति यदि सामाजिक बधनों और सामाजिक वर्जनाओ से भी मुक्ति का रूप ले ले तो कुछ अप्रत्याशित नहीं है। स्वयं सार्त्र ने Being and Nothingness मे यौन शब्दावलियों और प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग किया है। जान पॉसमोर ने उसकी समीक्षा करते हुए कहा है-''वह इस कोटि का तर्कवादी है कि अस्तित्व की प्रासंगिकता से इसके बेहूदा, तर्कविहीन तथा यहां तक कि अश्लील होने का निर्णय कर लेता है।[27]...ज्यों-ज्यों सार्त्र आगे लिखता है हम उसकी तत्वमीमांसा को फ्रायडकृत व्याख्याओं द्वारा समझने को विवशीकृत पाते हैं .वह वस्तुत. फ्रायडकृत व्याख्या हम पर लाद रहा है। उदाहरणार्थ वह चिप-चिपे के बारे में जो लिखते हैं, उसमे बहुत ही स्पष्ट रूप से यौन शब्दावली है।''[28]

ऐसा लगता है कि सार्त्र मानव अस्तित्व के एकाकीपन उसके जीवन की निरर्थकता तथा जगत् की आकस्मिकता के बीच कहीं यदि क्षीण सी सार्थकता और उद्देश्यपरकता पाते हैं तो वह यौन भावो में ही पाते हैं। इसी कारण वह यौनभावों को सत्तामीमांसीय प्रश्नों से जोड़ देते हैं। सार्त्र ने इस बात को प्रकारान्तर से स्वीकार भी किया है।

अज्ञेय के भी तीन उपन्यासों मे से एक 'नदी के द्वीप' मे अनेक स्थलो पर यौन भावों का उन्मुक्त चित्रण है। जैनेन्द्र रचित –'सुनीता' भी यौन मुक्ति विषयक सशक्त उपन्यास है। फिर तो ऐसे उपन्यासो की एक सुदीर्घ श्रृखला ही शुरू हो गयी। सबसे बड़ी बात यह है कि स्त्री उपन्यासकारो ने इसमें सर्वाधिक बढचढकर भाग लिया। कान्ता भारती, चित्रा, मुद्गल, कृष्णा सोवती, मृदुला गर्ग से लेकर शोभा डे, तस्लीमा नसरीन, अरुन्धती राय आदि तक मे ऐसी प्रवृत्ति हम सरलतया देख सकते हैं। किन्तु यहा हमारा उद्देश्य मूलतः अस्तित्ववाद के केन्द्रीय तत्वों–स्वातंत्र्य, व्यक्तित्वबोध, निरर्थकता बोध पर ध्यान देना है। अज्ञेय की सभी रचनाओं में यह भाव प्रखर रूप मे विद्यमान है। व्यक्ति की अर्थवत्ता को व्यक्ति में ही निरुपित करते हुए वे कहते हैं–

अर्थ हमारा

जितना है, सागर मे नहीं

हमारी मछली मे है

सभी दिशा मे सागर जिसको घेर रहा है।[29]

'मछली' अज्ञेय का प्रिय प्रतीक है और ऐसा ही प्रिय है उन्हे 'हारिल' पक्षी। उसे संबोधित करते हुए वे कहते हैं–

कॉप न, यद्यपि दसो दिशा में

तुझे शून्य नभ घेर रहा है।[30]

यहां मछली और हारिल दोनों मनुष्य के प्रतीक हैं और सागर तथा शून्यनभ क्या है? यह या तो खोखला संसार या खारा जीवन या तो अस्तित्व की इकाई को घेरता हुआ समाज या फिर सामाजिक नैतिक वर्जना है।[31]

इस वर्जना के विरोध में ही अज्ञेय की कविता जन्मती और खड़ी होती है–

"खोल दो सब वंचना के दुर्ग के ये रूद्ध सिंहद्वार।"[32]

मृत्यु और मुक्ति–दोनो अज्ञेय के चिन्तन के केन्द्रीय विषय रहे हैं। अपने–अपने अजनबी में तो मृत्यु बोध, अस्तित्वबोध और मुक्तिबोध की भावना अत्यंत प्रखर है। हिमस्खलन मे फॅसी दो स्त्रियो की कथा के माध्यम से वे हमारी जिजीविषा और जीवन के प्रति दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। दोनों के लिए बाह्य परिस्थितियां एक हैं, किन्तु जहां बूढ़ी सेल्मा मृत्यु की चुनौती को अत्यंत शान्तिपूर्वक और सहर्ष लेती है, वहीं युवती योके

उससे भयाक्रान्त और अत्यंत उद्वेलित दिखती है। वस्तुत: वहां मृत्यु का भय कम, कैद होने की स्थिति अधिक है। किन्तु योके तो सतत् रूप से मृत्यु भय से ग्रस्त है। यहा एक विडम्बना स्पष्ट रूप से दिखायी पडती है-वह यह है कि सुशिक्षित और प्रबुद्ध योके जीवन को समग्रता पूर्वक नहीं ले पाती जबकि साधारण दूकानदार रह चुकी सेल्मा उसे पूरी जीवन्तता के साथ जीती है। वह अपने शरीर में कैंसर जैसा मृत्यु का दूत पाकर भी क्रिसमस मनाना चाहती है, जागना चाहती है, गाना चाहती है, और अपने गाने को कराहने के रूप में पहचाने जाने पर अपनी विवशता पर दु:खी भी होती है। मृत्यु को देखकर भी उसकी जीवन के प्रति आस्था खत्म नहीं होती। दूसरी ओर योके काठघर को कब्रघर समझती है, क्रिसमस में संत निकोलस के स्थान पर शैतान के आगमन की कल्पना करती है, निरन्तर अनागत मृत्यु से आक्रान्त रहती है। जब सेल्मा उससे पूछती है- "तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यो रहता है तो वह रुखाई से कहती है-क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है-क्योंकि हम सबको मरना है।"[33] और इसी मृत्युबोध ा से ग्रस्त वह विक्षिप्त सी हो उठती है. "व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्युगन्ध नहीं दबती न दबेगी सब जगह फैली हुई है, सब कुछ मे बसी हुई है। सब कुछ मरा हुआ है। सड़ रहा है, घिनौना है, बेपना है। केवल मृत्यु की प्रतीक्षा-मरने की प्रतीक्षा, सड़ने और गन्धाने की प्रतीक्षा . वह गन्ध पहले ही सब जगह और सब कुछ में है और हम सर्वदा मृत्युगन्ध से गन्धाते रहते हैं। वह और मृत्युगन्ध-अकेली वह और सर्वत्र व्यापी हुई मृत्यु गन्ध-गन्ध के साथ अकेली वह।"[34]

यहां अज्ञेय की पूरी शैली और शब्दावली सार्त्र के Nausea से प्रभावित लगती है। हाइडेगर ने अपने साहित्य में जिस ऊब का वर्णन किया है वह भी बहुत कुछ ऐसा ही है। फिर वैसा ही जीवन और जगत की निरर्थकता का बोध भी विद्यमान हैं।"हम जड़ें कहीं नहीं फेंकते, या कि सतह पर ही इधर-उधर फैलाते जाते हैं।. मैं मानों एक काल निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूं- वह क्षण काल की लड़ी में से टूटकर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है-अन्तहीन और अर्थहीन।"[35]

अज्ञेय की सभी रचनाओ में ईश्वर के प्रति विद्रोह भाव विद्यमान है वे कहते हैं-

"इस विकास गति के आगे है कोई दुर्दम शक्ति कहीं

जो जग की सृष्टा है, मुझको तो ऐसा विश्वास नहीं।"[36]

यद्यपि उनमें आस्तिक अस्तित्ववादियों की भाँति रहस्यवादिता है, किन्तु यह रहस्यवाद किसी ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

मैं भी एक प्रवाह मे हूं

लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है

मैं उस असीम शक्ति से

सबंध जोड़ना चाहता हू

अभिभूत होना चाहता हू

जो मेरे भीतर है।[37]

'नदी के द्वीप' नाम से उन्होंने उपन्यास और कविता दोनो लिखी है। इस कविता में अज्ञेय कहते हैं कि हम नदी के द्वीप हैं। 'द्वीप' शब्द स्वय मे ही व्यक्तित्व तथा एकाकीपन का बोधक हो जाता है। द्वीपरूप मे विद्यमान हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होना है और रेत बनकर सलिल को गंदला बनाना है, अनुपयोगी बनाना है।

यही अस्मिताबोध 'शेखर एक जीवनी' में अत्यंत मुखर है-'' अपने ही पूछे हुए एक प्रश्न ने, अपनी ही कही हुई एक बात ने, शेखर के जीवन की गति बदल दी। उसने देखा-समझ लिया कि कोई किसी का नहीं है यानी इतना नहीं है कि उसका स्वामी निर्देशक, भाग्य विधायक बन सके। कोई ऐसा नहीं है, जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात मे पूर्ण अचूक माना जा सके। यदि किसी का कोई है, तो उसकी अपनी बुद्धि। मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है।''

सार्त्र की भांति अनेक स्थलो पर अज्ञेय ने यौन प्रतीको का प्रचुर प्रयोग किया है। भूमि के कंपित उरोजों पर मेघों का झुकना, लाल गुलाब की तपती पियासी पंखुड़ियों के होंठ, हरियाली का बादलो के चुम्बन से खिल उठना, कली का शरद की धूप में नहाकर निखर उठना, मंदिर के भग्नावशेष पर चंचुक्रीड़ा करते दो वन पारावत, नदी की जांघ पर सोया अंधियारा, डाह भी चोर पैरों से उझककर झाकती चांदनी, छातियों के बीच घर की तलाश आदि-अज्ञेय के काव्य में प्रयुक्त यह शब्दावली यौन वर्जनाओं के विरुद्ध यौन मुक्ति की ही शब्दावली है। 'नदी के द्वीप' में तो उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं, वे अश्लील प्रतीत होते हैं। किन्तु वे स्वयं श्लीलता-अश्लीलता के आरोपों को खारिज करते हुए कहते हैं कि एक रचनाकार के रूप में वे कला की समस्या ही प्रमुख मानते

हैं-अन्य प्रश्नों को गौण। नैतिकता के प्रश्न को वे कला से सम्बद्ध नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में- "श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है। साहित्य का प्रश्न वह नहीं है। उसी प्रश्न को जब सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न बनाकर हम साहित्य की मर्यादा में लाते हैं, तब वास्तव में प्रश्न वही रहता ही नहीं, दूसरा ही हो जाता है।"[38] इसी निर्नैतिकता के ही समर्थन में वे कई बार सार्त्र और फ्रायड की भांति सहज वृत्तियो का भी समर्थन करते हैं-

जिधर से आ रही है लहर

अपना रुख

उधर को मोड़ दो

तरी अपनी चिर असंशय

लहर पर छोड़ दो।[39] (लहर)

पर क्या हम जीवन मे आवेगो और सवेगों पर इतना विश्वास कर सकते हैं, अथवा उन्हें अपना दिशा निर्देशक बना सकते हैं। संवेग जीवन में सौंदर्य और शान्ति लाने के लिए अपरिहार्य हैं, किन्तु यदि हमने उन्हें ही नौका सौंप दी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि भावनाओं के किसी तूफान में अथवा पीड़ाओ के किसी भँवर में कितनी जल्दी वह डूब जायेगी।

किन्तु अज्ञेय की रचनाओं में सर्वत्र भावो और विचारों की एकता नहीं है। जब उनकी भावुकता उच्च शिखर पर होती है तो प्रेम भी वासनामुक्त, बंधनरहित सिद्ध होता है। वे कहते हैं-"प्यार एक कला है और कला संयम का दूसरा नाम है। किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्‌देश्य की गुंजाइश न रह जाये- कि जीवन एक स्वतत्र इकाई है और यदि वह बिल्कुल पराधीन हो जाये तो यह कला नहीं है क्योंकि कला के आदर्श से उतरकर है।" [40]

इसी भावातिरेक में वे कहते हैं-

"नहीं चाहें प्राण, तुम प्रत्येक स्पन्दन की

बनो बेबस फेनसी उच्छ्‌वसित समभागी।

बल्कि, चेतना की दो पृथक धारों सी

जो कि संगम के अनन्तर भी

रग अपने पृथक रखती हैं और जिनके

धुले परस्पर वलयित द्रवित देहो में

शान्ति मे गति से, परम कैवल्य में संवेदना से

आगे फिर वृहत्तर ऐक्य मे दोनो

पृथक अस्तित्व होते लीन अनजाने।।"

लेकिन फिर आगे वे जीवन की नश्वरता मे प्रेम की क्षण जीविता को जीवन्त करते हैं–उनका यह उद्धरण

I want to dıe whıle you love me,

Oh who would care to lıve

Tıll love has nothıng more to ask,

And nothıng more to gıve

इसी भाव मे तो वे कह पाते हैं–

"फूल को प्यार करो, पर झरे तो झर जाने दो।"

शायद, अज्ञेय की यही विशिष्टता उनका प्राण है। तमाम विसंगतियो, व्यथाओं, हताशाओं, हीनताओं के बावजूद उनमें जूझने का साहस है, उठ खड़े होने की चेष्टा है। चाहे उनका शेखर एक जीवनी हो, अपने-अपने अजनबी हो या 'नदी के द्वीप' सभी जगह एक उत्कण्ठित जिज्ञासा, एक उद्वेलित जिजीविषा और एक उद्दाम युयुत्सा विद्यमान है, जो हर चुनौती में सबल होती है, हर संकट में जागृत होती है–

"यहीं पर सब हॅसी, सब गान होगा शेष।

यहां से एक जिज्ञासा, अनुत्तर जगेगी अनिमेष।।"[41] (जीवन)

इसी आत्म विश्वास के सहारे वे जीवन की चुनौतिया स्वीकार करते हैं–

"द्वीप हैं हम, यह नहीं है शाप।

यदि ऐसा कभी हो यह स्त्रोतस्विनी ही/ काल प्रवाहिनी बन जाये तो हमे है स्वीकार यह भी

उसी रेत में होकर/ फिर छनेंगे हम / जमेंगे हम / कहीं फिर पैर टेकेगे कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।" (नदी के द्वीप)

अज्ञेय की परम्परा से काफी सीमा तक अनुप्राणित डा. धर्मवीर भारती ने मानव

के अस्तित्व की समस्या को अपने ढग से उठाया है। अज्ञेय ने अपने साहित्य मे मृत्यु की समस्या को वैयक्तिक स्तर पर देखने का प्रयास किया था, किन्तु डा भारती ने सामूहिक विनाश के सकट पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस अर्थ में उनकी प्रसिद्ध रचना 'अधा युग' एक सशक्त रचना है। इसमें उन्होंने महाभारत युद्ध के अन्तिम दृश्य के माध्यम से मानव सभ्यता के महाविनाश को रूपान्कित करने का प्रयास किया है। इस महायुद्ध ने भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के आसन्न महाविनाश का दर्शन करा दिया। वह आधुनिक विश्वयुद्ध का ही आरम्भिक प्रारूप सिद्ध हुआ। धर्मवीर भारती ने इस पौराणिक युद्ध को आधुनिक युग के संदर्भ मे देखने का प्रयास किया है। साथ ही युद्ध के अवशेष पात्रों के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की मनोदशा को भी चित्रित किया है। युयुत्सु का अंध आत्मघात, अश्वत्थामा की निर्मम अमानुषिकता, संजय की पंगु निष्क्रियता, सभी एक आधुनिक दिशाहारा मनुष्य के प्रतिनिधि है। इस नाटक मे मिथकों को जीवित करने का वैसा ही प्रयास किया गया है। जैसा फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों ने किया था। पूरी कथा मे घोर हताशा और वेदना का भाव है, किन्तु उस हताशा और वेदना मे भी एक आशा की किरण है।– "एक नशा होता है– अंध ाकार के गरजते महासागर की चुनौती स्वीकार करने का पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का अनमापी गहराइयो में उतरते जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के प्रकाश के सत्य के मर्यादा के कुछ कणो को बटोर कर बचाकर धरातल तक लाने का"[42]

उनके खंडकाव्य 'कनुप्रिया' में अस्तित्ववादी प्रवृत्ति का आशावादी रूप विशेषतया उभर कर सामने आया है। अंधायुग में जो दर्शन निषेधात्मक रूप में व्यक्त हुआ है, उसका विधेयात्मक रूप इसमें विद्यमान है। अतीत को भुलाकर और भविष्य से कटकर वर्तमान को अधिकाधिक भोगना ही यह जीवन –दर्शन है। राधा द्वारा कृष्ण की महाभारत कालीन भूमिका को नकारने के पीछे यही चिन्तन काम करता रहा है। यहाँ प्रेम और भोग की तन्मयता में अधायुग का सकट तिरोहित हो जाता है।

यद्यपि धर्मवीर भारती में अज्ञेय जैसी प्रखर व्यक्तिवादिता और मुखर विद्रोह भाव तो नहीं है, किन्तु जहाँ भी व्यक्ति की महत्ता का प्रश्न आता है, वे उसका पुरजोर समर्थन करते हैं। उनका यह व्यक्ति कोई दुर्धर्ष क्रान्तिकारी नहीं, कोई दुर्जेय शक्तिशाली नहीं है,

किन्तु उसमें एक गहन आत्मविश्वास है, अपने अस्तित्व की सजग अनुभूति है। उनका यह व्यक्ति अज्ञेय का एकान्तिक व्यक्ति नहीं है, अपितु टैगोर का वह व्यक्ति है जो एकाकी संघर्ष में विश्वास रखता है, अकेले चलने का साहस रखता है-

''यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे, तबे एक्ला चलो रे

एक्ला चलो, एक्ला चलो, एक्ला चलो रे।।''[43]

धर्मवीर भारती व्यक्तित्व का मण्डन करते हुए कहते हैं-

यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता।

उनका यह व्यक्ति ईश्वर को सीधे चुनौती देता है-

''हमको कुछ ऐसा लगता प्रभु !

ऐसे कोई भी नहीं चरण जिनमे मिल पाये हमे शरण।

तुम भी केवल निष्क्रिय पथ हो

चलना तो हमको ही होगा

चलने मे ही हम टूटो और अधूरो का शायद होगा

कुछ नया गठन

आश्रय देंगे हमको अपने जर्जर पर अपराजेय चरण।।''

वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक प्रकार की द्विविध प्रकृति विद्यमान है। एक ओर व्यक्ति की महत्ता का गुणगान, उसकी अस्मिता की खोज, उसकी प्रामाणिकता पर बल है जबकि दूसरी ओर उसके जीवन की तुच्छता उसके प्रयासो की असफलता उसके जगत् की नश्वरता उसकी भावनाओं की क्षणिकता, उसके विचारों की द्वन्द्वात्मकता उसके संकल्पो की दुर्बलता का तीक्ष्ण और मर्मभेदी चित्रण है। मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के व्यामिश्र से उनमें समाज के प्रति विद्रोह भी है और विश्व के प्रति विवशता भी है। उनके साहित्य में आज के आदमी की व्यथा भी है, और आज की दुनिया के प्रति असंतोष भी।

हिन्दी के प्राय. सभी आधुनिक कवियों में इस दुनिया के प्रति असंतोष का भाव दिखता है। कुँवर नारायण में प्राचीन रूढ़ियों के साथ-साथ अर्वाचीन विकृत्तियों से, डा भारती में पुरातन जीवन के साथ साथ अधुनातन संकटों से, नरेश मेहता में व्यक्तित्व

के द्वैत के साथ साथ व्यक्ति के अधूरेपन से, श्रीकान्त वर्मा में अस्तित्व के संकट के साथ साथ स्वयं की विलुप्त होती पहचान से। उदाहरणार्थ श्री वर्मा की यह कविता –

मैं एक अदृश्य दुनिया मे जी रहा हूँ
और अपने को टटोलकर कह सकता हूँ
दावे के साथ
मैं एक साथ ही मुर्दा भी हूँ और ऊदबिलाव भी
मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी मे दबा हुआ
अपने को खोद रहा हूँ।[44]

कुँवर नारायण की कविताओ मे जीवन और जगत् की निरर्थकता का बोध अत्यधिक है– " पागल से लुटे–लुटे जीवन से घुटे – घुटे
ऊपर से सटे–सटे अन्दर से हटे–हटे
कुछ ऐसी भी दुनिया जानी जाती है।"
तथा, हर अलौकिक रूप पृथ्वी पर बिगड़ता ही रहा
एक धब्बा हर उजाले पर सदा पडता ही रहा
आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता ही रहा।[45]

इसी प्रकार वियानिवास मिश्र की कविता मे जीवन की अर्थहीनता का घुटन है–
अर्थ ही शब्दों का कुहरा
जम रहा अर्थहीन जीवन की जडता पर
स्वयं निर्वासन की शब्दहीन पीड़ा के
धूम के स्तोभ मे घुट रहे प्राण।[46]

नरेश मेहता ने द्वन्द्वग्रस्त मनुष्य के खण्डित और अप्रामाणिक व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहा है–

दो सत्य , दो संकल्प , दो दो आस्थाएँ

व्यक्ति में ही अप्रामाणिक व्यक्तित्व पैदा हो रहा है (संशय की रात) मादकता के कवि बच्चन भी मधुशाला के बाद यथार्थवादी और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हो गये तथा जीवन की निरर्थकता और नश्वरता उनके केंद्रीय विषय हो गये जैसे–

संसृति के जीवन में सुभगे, ऐसी भी घड़ियाँ आयेगी

जब दिनकर की तमहर किरणें तम के अन्दर छिप जायेंगी

जब निज प्रियतम का शव रजनी तम के चादर से ढँक देगी

तब रवि-शशि पोषित यह पृथ्वी कितने दिन खैर मनायेगी

जब इस लम्बे चौड़े जग का अस्तित्व न रहने पायेगा

तब हम दोनों का नन्हा सा संसार न जाने क्या होगा?

वस्तुत· हिन्दी साहित्य में मार्क्सवाद की भाँति अस्तित्ववाद से भी प्रभावित कवियो की एक सुदीर्घ श्रृखला है। यहाँ दृष्टांतस्वरूप उपर्युक्त कवियों का उल्लेख मात्र एक झलक ही प्रस्तुत करता है। ऐसे सभी कवियो का सांगोपांग उद्धरण अथवा उदाहरण देना न तो सम्भव होगा और न ही समीचीन होगा । इसी सातत्य मे कुछ रचनाओ ने साहित्य की बजाय दर्शन की दृष्टि से विशेष छाप छोड़ी है। इस दृष्टि से अस्तित्ववादी रचना के रूप मे डा0 देवराज लिखित उपन्यास 'अजय की डायरी' का भी उल्लेख यहाँ अवश्य समीचीन होगा । देवराज एक साहित्यकार से बढकर एक दर्शन शास्त्री रहे हैं। अत हम उनकी रचना मे अस्तित्ववादी भावो के अधिक स्पष्टता से उभर कर आने की उम्मीद रख सकते हैं। उपन्यास का प्रधान पात्र अजय है। वह अस्तित्ववादी विचारो का समर्थक है और सिद्धान्त ही नहीं व्यवहार में भी अपने दार्शनिक विचारों को चरितार्थ करना चाहता है । वह प्रबुद्ध तथा रूढिमुक्त व्यक्ति है। उसे शुष्क तार्किकता और निर्मम वैज्ञानिकता से अरूचि है, किन्तु साथ ही वह रूमानी भावुकता से भी दूर है। वह न तो जीवन को कोई उच्च-उपलब्धि अथवा पवित्र वस्तु मानता है और न ही जीवन के सबधो को शाश्वत और संवेगपूर्ण । वह कहता है कि समाज के अधिकांश संबध लेन - देन पर अथवा निर्वैयक्तिक सेवा विनिमय पर आधारित है निरर्थक सिद्ध होते हैं। वे जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं किन्तु पर्याप्त नहीं। हमें अस्तित्व नहीं सार्थक अस्तित्व चाहिए -ऐसा अस्तित्व, जो निरन्तर उच्चतर परिणति की ओर उन्मुख होता रहे। अपनी इसी मान्यता के कारण वह अपने वैवाहिक संबंधों में भी असंतुष्ट बना रहता है। अपनी पत्नी शीला से सपर्क के दौरान भी उसमें एकाकीपन और अलगाव की भावना विद्यमान रहती है। वह कल्पना करता है कि उसकी स्थिति ठंढे अँधेरे में रखे शीशे के बर्तन में बन्द उस पौधे की तरह है, जिसके हरित रक्त को प्रकाश की ऊष्मा और हृदय को हवा

की ताजगी नहीं मिलती। उसकी यह आत्मनिष्ठता वैयक्तिक ही नहीं अपितु सार्वत्रिक है। समाज की भीड़ उसके लिए बंधन प्रतीत होती है। तभी तो वह कहता है-मैं जब-जब मनुष्यों के बीच गया हूँ कुछ खोकर कुछ अस्वच्छ होकर लौटा हूँ।'' कुछ ऐसी ही मनोदशा उपन्यास की दूसरी पात्रा दीपिका की है। भेद केवल यह है कि अजय जहाँ प्रबुद्ध होने के कारण अपनी चिन्ता को हर वेदना को बौद्धिक और दार्शनिक रूप मे व्याख्यायित करता रहता है, वहीं दीपिका उस वेदना को अपनी सवेदना और भावावेग में असमाधेय पाती है। वह एकाकीपन हताशा और व्यथा से अत्यन्त संतप्त है। उसे अपना जीवन अत्यन्त अर्थहीन और उद्देश्यहीन प्रतीत होता है। कश्मीर मे नदीतट पर बैठी वह उसके निर्मल और कलकल करते छिछले जल के सौन्दर्य से मुग्ध नहीं होती अपितु वह सोचती है कि इस नदी में कैसे आत्महत्या की जा सकती है नदी गहरी तो है नहीं । उसे हर तरफ मृत्यु की अनिवार्य नियति का ही बोध है इसी कारण वह कहती है मेरी और सबकी केवल एक ही डेस्टिनी है यानी मृत्यु की शून्यता।''

'मृत्यु' प्राय सभी अस्तित्ववादियो के समक्ष गंभीरतम चुनौती बन कर आयी है। दार्शनिकों में हाइडेगर ने तथा भारतीय साहित्यकारों में अज्ञेय ने इस पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। अपने-अपने अजनबी में असन्न मृत्यु का अवसादपूर्ण चित्रण करते हुए वे लिखते हैं- ''एक अन्तहीन परिवर्तनहीन धुँधली रोशनी, जो न दिन की है न रात की, न संध्या के किसी क्षण की ही है- एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आयी हूँ कि कब्र में बड़ा अन्धेरा होता है लेकिन यहाँ उसकी भी असंपूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है, जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है अच्छे बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना संपूर्ण हो सकता ।

इस मृत्यु बोध से व्युत्पन्न व्यथा का कोई निदान नहीं है, सिवाय इसके कि उसका साहसपूर्वक सामना किया जाय। नास्तिक अस्तित्ववादियों ने इसे ही प्रामाणिक जीवन माना है किन्तु आस्तिक अस्तित्ववादी धार्मिकता और आध्यात्मिकता का मार्ग अपनाते हुए अन्ततः ईश्वर की शरण मे चले जाते हैं। किन्तु क्या ईश्वर या स्वर्ग या मोक्ष की

अवधारणा इस समस्या का सार्थक समाधान कर पाती है। धर्म दर्शन मे यह बात स्पष्ट तौर पर स्वीकृत की जा चुकी है कि मरणोपरान्त जीवन अर्थात् आत्मा की अमरता की अवधारणा मनुष्य के लिए तबतक सार्थक नहीं हो सकती जबतक कि वैयक्तिक अमरता कि अवधारणा न अपनायी जाय। कोई भी निर्वैयक्तिक अमरता हमारी सत्ता को भले कायम रखे हमारी अस्मिता को कायम नहीं रख सकती। अज्ञेय ने ठीक ही कहा है–

जब मेरा अपनापन होगा चिरनिद्रा में मौन
मुझमें जो है रह ·शील, वह कह पायेगा कौन।।[48]

दूसरी तरफ, यदि हम वैयक्तिक अमरता की अवधारणा अपनाते हैं तो वह स्वय ही अत्यन्त कल्पनामूलक प्रतीत होने लगता है क्योकि हमारा व्यक्तित्व एक मनोशारीरिक समष्टि है और इसके शरीर के नष्ट होने पर एक वैयक्तिक आत्मा की कल्पना प्राय असंभव सी दिखती है। हिन्दी के अस्तित्ववादी कवियो मे कुँवर नारायण ने अपने खण्डकाव्य 'आत्मजयी' मे औपनिषदिक नचिकेतोपाख्यान के माध्यम से मृत्यु की समस्या को अपने ढंग से उठाया है। किन्तु उनका भी पात्र अन्तत· कोई वास्तविक मुक्ति या अमरता नहीं प्राप्त करता । यमराज के वरदान तथा उनके समाधान नचिकेता के प्रश्नों का सार्थक उत्तर नहीं दे पाते और अन्तत· आध्यात्मिकता भी मनुष्य के लिए निष्फल प्रतीत होती है। ब्रह्मात्मैक्य या ईश्वर का अंश बन जाना यदि संभाव्य भी है तो भी हमारे अस्तित्व के लिए स्वीकार्य नहीं होता । अज्ञेय कहते हैं– ''मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते है। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तबतक नहीं पहचान सकते जबतक कि मृत्यु मे ही उसे पहचान न लें।''[49]

ऐसी आस्तिकता पिछले दरवाजे से वरण- स्वातंत्र्य को नष्ट कर देती है। शायद यही कारण है कि उपन्यास की पात्रा सेल्मा सदैव नियतिवादी है। वह कहती है-और स्वतन्त्रता -कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतंत्र हूँ कि बीमार न रहूँ या कि अब बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतत्र हूँ कि मर जाऊँ। तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं न स्वतंत्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते इसलिए स्वतंत्र नही हैं और इसलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।[50] और नास्तिक योके भी कुछ न कुछ ऐसी ही मन स्थिति में है- ''एक ठिठका हुआ

नि:संग जीवन मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है मानों एक छोटी सी मशीन ने जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे में इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाभी न दे घड़ी को रूक जाने दे। ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दे अपने को स्वतंत्र घोषित कर दे।"[51]

प्रायः सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने व्यक्ति और व्यक्ति की स्वतंत्रता पर सर्वाधिक बल दिया है, किन्तु उनका साहित्य प्राय· ही उनके दर्शन से मेल नहीं खाता । उनके दर्शन में या तो विचित्र नियतिवाद दृष्टिगोचर होता है या विकृत स्वच्छन्दतावाद। अस्तित्ववाादियों का दावा है कि दनका दर्शन मानववादी है किन्तु व्यक्तित्व निर्माण पर जरा भी बल नहीं देते । यही कारण है कि कामू के Myth of Sysiphus का Sysiphus सार्त्र के Nausea का राक्वेंटीन, अज्ञेय के अपने अपने अजनबी की सेल्मा तथा योके देवराज कृत अजय की डायरी का 'अजय' सभी एक विरोधामासी तथा विचित्र प्रकृति के व्यक्ति दिखते हैं। उनमे कहीं भी वह स्वातंत्र्य भाव नहीं दिखता, जो अस्तित्ववाद का प्राण है फिर इनमें कहीं से भी ऐसी सक्रियता नहीं दिखती कि इन्हे अस्तित्ववादी प्रतिबद्धता का आदर्श माना जाये। जब इनकी प्रतिबद्धता दिखती भी है, तो वह विचित्र अथवा विकृत मूल्यों के प्रति दिखती है।

कहीं न कहीं अस्तित्ववादी साहित्य और दर्शन में भेद है, एक प्रकार का द्वंद्व है। यह द्वंद्व शायद दो भिन्न व्यक्तियो या विचारको का कम, दो विधाओं का अधिक है। यह भी संभव है कि इन अस्तित्ववादी लेखकों ने अस्तित्ववाद के एक खास आयाम को लेकर ही रचना करने का विचार किया हो अथवा सम्भव है कि यह भेद संदर्भ और प्रसंग का हो।

वस्तुतः अस्तित्ववाद की साहित्यिक विधा का विवेचन करते हुए हमें सदैव एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए और वह यह कि दर्शन और साहित्य मे सदैव एक भेद बना रहता है। सार्त्र, जिन्होने सदैव साहित्य को अपनी साधना माना, ने भी कहा है कि कोई अच्छा साहित्य दर्शन के हेतु नहीं लिखा जा सकता। इसी मान्यता का यह भी निहितार्थ निकाला जा सकता है कि किसी दर्शन को साहित्य के माध्यम से पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। अतः हम अस्तित्ववादी साहित्य में व्यक्त दर्शन को प्रमाणिक अस्तित्ववाद नहीं मान सकते। जब कोई साहित्यकार किसी पात्र या चरित्र की

रचना करता है, तो यह आवश्यक नहीं होता कि यह पात्र या चरित्र साहित्यकार का प्रतिनिधित्व करे ही। वह एक साहित्यकार की कल्पना से जन्म लेता है और किसी दार्शनिक के आदर्श के अनुरूप चलने को बाध्य नहीं होता। साहित्यिक लेखकों के तो मनोवैज्ञानिक अनुभव अत्यत विचित्र रहे हैं। उनके अनुसार जैसे-जैसे कथा आगे बढती जाती है, पात्र लेखक से स्वतंत्र होते चले जाते हैं। उनका एक स्वतत्र और विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित हो जाता है और उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्वयं लेखक पर ऐसा पड़ जाता है कि वह उस पात्र को उसके व्यक्तित्व के बाहर कोई दिशा नहीं दे पाता। फिर सृष्टा और सृष्ट में सदैव एक दूरी भी तो बनी रहती है। इलियट ने तो इस दूरी को ही श्रेष्ठ लेखकीय प्रतिभा का मानदण्ड माना है।

खैर, इस बात को स्वीकार किया जाये अथवा नहीं, किन्तु इतना तो निश्चित है कि साहित्यकार अपने पात्र को अपने दर्शन का प्रवक्ता या अपने भावो का अभिनेता बनाने के बाध्य नहीं है। साहित्य की अपनी अपेक्षाए होती है और उन अपेक्षाओ को पूरा करने मे प्राय दर्शन से समझौता भी करना पड़ता है। साहित्य का पाठक वर्ग केवल प्रबुद्ध वर्ग ही नहीं, जनसामान्य भी होता है और जब जनसामान्य की दृष्टि से किसी बात को रखना होता है तो उसमें सरलीकरण के कारण हल्कापन आ ही जाता है। सार्त्र ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। चूंकि एक तरफ तो दर्शन की प्रतिबद्धता सत्य से होती है, किन्तु दूसरी ओर साहित्य की प्रतिबद्धता जनमत से होती है,। अत. जनमत और लोकप्रियता के ध्यान में यदि सत्य अनभिव्यक्त रह जाता हो, तो इसमें कुछ अप्रत्याशित नहीं है। साहित्य समाज का दर्पण होता है दर्शन नहीं। साहित्य जिन समस्याओं को उठाता है, जिन यथार्थों का चित्रण करता है वह तो प्रायः सम्यक् होता है किन्तु साहित्यकार उसके माध्यम से आदर्शों का भी निरूपण करे, मूल्यों की स्थापना करे, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं होता। प्लेटो और अरस्तू ने तो साहित्यकारो को 'झूठों के झूठ का सर्जक' मानकर अपने आदर्श राज्य से बहिष्कृत कर दिया, किन्तु हम यहां प्लेटो के मत का समर्थन नहीं करते। हाँ। साहित्य को दर्शन का रूप भी नहीं मानते। दोनों का अपना गौरव है, अपनी महत्ता है, दोन्हों के अपने-अपने उद्देश्य तथा अपनी-अपनी सार्थकता है। अतः हम साहित्य को दर्शन का साधक और सहायक की भूमिका में सर्वथा महत्वपूर्ण मानते हैं। उसमें जो दृष्टि प्रस्तुत की गयी है, वह अपूर्ण

भले ही हो, असत्य नहीं है। उसकी सार्थकता केवल पृष्ठभूमि के ही रूप में नहीं है, अपितु अस्तित्ववाद की प्रभावभूमि के विस्तारक के रूप में भी है। इस साहित्य ने ही इस दर्शन को इतनी शीघ्रता के साथ जन-जन तक पहुंचाया है, जनमन को अनुप्राणित किया है। अत अस्तित्ववाद के सन्दर्भ मे साहित्य की भूमिका अनुपेक्षणीय तथा अविस्मरणीय है।

साथ ही साथ साहित्य एक और सशक्त वैशिष्ट्य है जिसके कारण यहाँ दार्शनिक प्रसंगों में उसका उल्लेख आवश्यक समझा गया। साहित्य का यह वैशिष्ट्य है- उसका सजीव प्रस्तुतीकरण दर्शन में कोई भी विचार वह चाहे जितना मौलिक और ज्वलंत क्यो न हो, सदैव शुष्क और मृत पड़ा रहता है, किन्तु साहित्य में आते ही वह विचार सरस और जीवन्त हो उठता है। जब तक कोई विचार दर्शनशास्त्र की विषय वस्तु बना रहता है तब तक वह सदैव बाह्य और सूचनापरक बना रहता है, किन्तु साहित्य की शक्ति पाते ही वह सद्य· हमारे जीवन से जुडा हुआ तथा जीवन का अंग प्रतीत होने लगता है। साहित्य के क्षेत्र मे आकर दर्शन स्वय दृष्टि बन जाता है। अत अस्तित्ववाद जो स्वय को दर्शन नहीं अपितु दृष्टि कहलाना चाहता है की गहरी समझ के लिए हमारा इसके साहित्यिक स्वरूप को देखना आवश्यक था।

वस्तुत साहित्य दर्शन मे पूर्णता नहीं जीवन्तता लाता है, कोरी वैचारिकता नहीं, अपितु हार्दिक संवेदनशीलता लाता है। इस संवेगात्मकता अथवा संवेदनशीलता के माध्यम से हम व्यक्ति के अन्तर्मन की झलक पा सकते हैं। उसके बाह्य संघर्ष के सापेक्ष भीतरी संघर्ष को परख सकते हैं। इसके द्वारा हम सीधे व्यक्ति के जीवन से जुड़ सकते है और यह जीवन से जुड़ाव ही अस्तित्ववाद का उद्घोष है। दर्शन की इस जीवन्तता में ही अस्तित्ववाद की महत्ता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 खेतान, प्रभा – अल्वेयर कामू वह पहला आदमी, पृ0 93

2 वही, पृ0 111

3. शर्मा, रामविलास, 'नयी कविता और अस्तित्ववाद', पृ0 105

4 सार्त्र, जे0पी0, 'नॉसिया', पृ0 180

5 वही, पृ0 183

6 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 191–92

7 शर्मा, रामविलास, 'नयी कविता और अस्तित्ववाद', पृ0 114

8 रूबिचेक, पॉल 'अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष', पृ0 126

9 वही, पृ0 127

10. कामू, अल्बेयर, 'प्लेग' पृ0 9–10

11 वही, पृ0 49

12. वही, पृ0 281

13. वही, पृ0 254

14 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 251

15 क्रूकशक, जॉन, अल्वर्ट कामूज एण्ड द लिटरेयर ऑफ रिवोल्ट', ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लदन पृ0 30

16. खेतान, प्रभा, 'अल्वेयर कामू . वह पहला आदमी, पृ0 107

17. कामू, अल्बैर, 'पहला आदमी', राजकमल प्रकाशन, पृ0 73

18. वही, पृ0 69

19. वही, पृ0 78

20 वही, पृ0 36

21 उद्धृत, खेतान प्रभा, 'अल्बेयर कामू : वह पहला आदमी', पृ0 33

22 वही, पृ0 110

23 कामू, अल्बेयर, 'कैलीगुला (नाटक), पृ0 16, 71

24. दास्तोएवस्की, 'वासना', पृ0 150

25. वही, पृ0 150

26. कॉफमन, वाल्टर, 'ऐक्जिशर्टेशियलिज्म फ्रॉम दोस्तोवस्की टू सार्त्र', पृ0 52

27 पॉसमोर, जॉन, 'दर्शन के सौ वर्ष', पृ0 574

28 वही, पृ0 580

29 अज्ञेय, 'अरी वी करुणा प्रभामय', पृ0 168

30 अज्ञेय, 'पूर्वा', पृ0 125

31 तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद, 'अज्ञेय', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1994,पृ0 60

32 अज्ञेय, 'इत्यलम्', पृ0 189

33 अज्ञेय, ' अपने-अपने अजनबी', पृ0 21

34 वही, पृ0 76

35 वही, पृ0 16

36, अज्ञेय, 'पूर्वा', पृ0 125

37 अज्ञेय, 'इत्यलम्', पृ0

38 अज्ञेय, 'आत्मनेपद', पृ0 78

39 तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद, 'अज्ञेय', पृ0 68

40 अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी' (द्वितीय भाग), पृ0 238

41 अद्धृत - जवरीमल्ल पारख, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका पृ0 11

42 वही, पृ0 11-12

43 उद्धृत, 'द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 'अशोक के फूल', पृ0 114

44 उद्धृत-जवरीमल्ल पारख, 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका, पृ0 13

45, नारायण, कुँवर, 'नयी कविता, भाग-2', पृ0 36

46. मिश्र, विद्यानिवास, 'धर्मयुग', 11 मार्च 1968, पृ0 15

47. अज्ञेय, 'अपने-अपने अजनबी', पृ0 15

48 अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ0 43

49. अज्ञेय, 'अपने-अपने अजनबी', पृ0 40

50 वही, पृ0 36, 45

51 वही, पृ0 15

अध्याय : 8

अस्तित्ववाद की सार्थकता और उसका सामाजिक-राजनीतिक चेतना पर प्रभाव

''अस्तित्ववाद की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि'' के समीक्षात्मक अध्ययन के सातत्य में इस शोध के अन्तिम खण्ड में आकर हमें उक्त विषयवस्तु विषयक अपने समस्त अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत करने के साथ, उसकी व्यापक समीक्षा भी प्रस्तुत करनी होगी। यद्यपि प्रत्येक खण्ड में तत्सबधी समालोचना विद्यमान है, किन्तु वह समालोचना इसके पृथक-पृथक अगों पर है, सर्वसमावेशी नहीं। इस खण्ड में हमारी समीक्षा विश्लेषणात्मक ही नहीं, सश्लेषणात्मक भी होगी। वस्तुत अस्तित्ववादी दर्शन की प्रकृति स्वयं भी ऐसी पृथक समीक्षा की अपेक्षा रखती है। यह एक विरोधाभासी दर्शन रहा है जो एक साथ व्यष्टिवादी और समष्टिवादी दोनो है। व्यक्ति और व्यक्तित्व पर बल देने के कारण व्यष्टिवादी तथा व्यक्तित्व की अविभाज्यता और जीवन की समग्रता पर बल देने के कारण समष्टिवादी।

अस्तित्ववाद की संतुलित समीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसका मूल्याकन सैद्धातिक तथा व्यावहारिक दोनो स्तरों पर किया जाये। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसकी समीक्षा का प्रश्न इसकी तार्किकता से कम, इसकी सार्थकता से अधिक जुड़ा हुआ है, क्योकि यह स्वय दर्शन की सार्थकता जीवन से जुड़ने मे मानता है। अत इसकी सार्थकता देखने के क्रम में हम इसके सैद्धांतिक पक्ष-विपक्षों का तो विवेचन करेगे। साथ-साथ इसके व्यावहारिक परिणामों का भी विवेचन करेंगे। इसके लिए हमें इसकी पृष्ठभूमि से आगे जाकर प्रभावभूमि तक का अवलोकन करना होगा।

वस्तुत· अस्तित्ववाद न केवल एक विशेष सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत हुआ है अपितु उसने गहराई तक सामाजिक-राजनीतिक चेतना को प्रभावित भी किया है। प्रारम्भ में इसके प्रभाव इस दर्शन के केन्द्रीय स्थल जर्मनी तथा फ्रांस में ही देखने मे आये, किन्तु शीघ्र ही इसका विस्तार सम्पूर्ण विश्व मे होगया। मार्क्सवाद के बाद यदि किसी विचारधारा नें मानव चेतना को इतना अधिक प्रभावित किया है, तो वह अस्तित्ववादी विचारधारा ही है। वस्तुत· इन दोनो विचारधाराओं में प्रबल वैषम्य के बावजूद कुछ प्रमुख साम्य बिन्दु भी थे। दोनो मे दर्शन को जीवन से जोडने, बाह्य परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करनें, मनुष्यता को पुनर्परिभाषित करने, और अन्ततः जीवन को रूपान्तरित करने के मुद्दों पर पूर्ण सहमति है। यह अलग बात है कि दोनो नें समस्याओं और समाधानो को दो भिन्न दृष्टियों से देखा। किन्तु इतना तो था ही

कि दोनो मे जीवन से जुडने और जीवनचर्या को प्रभावित करने के प्रचुर तत्व विद्यमान थे। मार्क्सवाद को तो राजनीतिक शक्ति मिली, किन्तु अस्तित्ववाद को कभी ऐसी शक्ति नहीं मिल पायी, जिससे इसे जन सामान्य का दर्शन बनाया जा सके। फिर अस्तित्ववाद के पास राजनीति के क्षेत्र मे कोई शासन पद्धति देने के लिए बहुत कुछ था भी नहीं। कामू, हाइडेगर, सार्त्र आदि की राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के बावजूद उनका राजनीतिक सिद्धान्त निजी मत ही बन कर रह गया, उसका अस्तित्ववाद से कोई प्रत्यक्ष तार्किक सम्बन्ध नहीं जुड पाया। हाँ इतना तो हम कह ही सकते हैं कि यदि राजनीति को समानता के आदर्श पर बल देने में सामयवाद की भूमिका रही है, तो उसमें स्वतन्त्रता और सहअस्तित्व की भावना लाने मे अस्तित्ववाद का भी कुछ न कुछ योगदान अवश्य रहा है।

अस्तित्ववाद के प्रभाव को हम इसके पक्ष मे हुए आन्दोलन से नहीं, अपितु इसके विपक्ष मे हुए प्रतिक्रियाओ से भी देख सकते हैं। क्योकि यदि किसी विचारधारा की उपेक्षा असम्भव हो और उसका विरोध अपरिहार्य हो, तो वह निश्चित ही अपनी महत्ता रखता है।

वस्तुतः अस्तित्ववाद एक व्यक्तिवादी तथा सामान्यीकरण विरोधी दर्शन रहा है, अतः एक अर्थ में यह स्वयं ही किसी सामूहिक आन्दोलन का विरोध सुनिश्चित कर देता है। कम से कम हम इसके पक्ष में ऐसी सामूहिक अपील की आशा तो नहीं ही कर सकते। इसका यही पक्ष इसकी सबलता और दुर्बलता दोनो बन गया। चूंकि इसके पास मार्क्सवाद या तार्किक भाववाद की भांति कोई एक समन्वित घोषणा पत्र नहीं था, अत. इसमें स्वयं मतैक्य का अभाव था। फलतः इसका सभी विचारको ने अपने अपने ढंग से प्रतिपादन और समर्थन किया। फिर इसके समर्थको ने इसे अपने अपने ढग से व्याख्यायित या रूपायित कर निरर्थक सा बना दिया। 'अस्तित्ववाद और मानववाद' में सार्त्र का इस विषय में कहना नितान्त उचित है – जो लोग इस शब्द का उपयोग करते हैं उन्हें अगर इसका अर्थ बताने की आवश्यकता पडे तो उनमें से अधिकांश बेतहाशा उलझन में पड जायेंगे। चूंकि जब से यह फैशन में शुमार हो गया है, लोग प्रसन्नता से यह कहते फिरते हैं कि अमुक संगीतकार या चित्रकार 'अस्तित्ववादी' है। वास्तव में अब इस शब्द को बहुत सी वस्तुओं पर सरलता से लागू किया जाता है कि इसका

कोई अर्थ नहीं रह गया है।[1]

वस्तुतः अस्तित्ववाद के विरोधियो की भी एक विपुल सख्या रही है। परम्परागत दर्शन, धर्म और विज्ञान के विरोध मे व्युत्पन्न इस दर्शन नें स्वयं भी अन्तर्विरोध और विरोधों का सृजन किया गया है। इनमे से कुछ प्रतिक्रियाये तो सर्वथा एकांगी अथवा सतही हैं। संभवतः ये प्रतिक्रियायें इसकी जनसामान्य में व्याप्त अवधारणओं के आधार पर आई है। अनेक आलोचको ने इसे निराशा, कुण्ठा, भय, परिताप, एकाकीपन और बेहूदापन का दर्शन कहा। कुछ ने इसे अकर्मण्यता का समर्थक माना तो कुछ ने उच्छृंखलता का प्रवर्तक सिद्ध किया। कैथोलिक चर्च के दक्षिण पंथियों ने इसे अनैतिक और मूल्यहीन दर्शन माना, तो वामपंथियों ने इसे स्वच्छन्दतावादी और बुर्जुआ दर्शन बताया।

किन्तु हम देख सकते हैं कि ऐसे आरोप पूर्णत नहीं, तो भी काफी सीमा तक निराधार रहे हैं। वस्तुत. जिस प्रकार हम नक्सलवाद के आधार पर मार्क्सवाद का मूल्यांकन नहीं कर सकते, उसी प्रकार स्वच्छन्दतावाद के आधार पर अस्तित्ववाद का मूल्यांकन नहीं कर सकते। प्राय ही ऐसा होता रहा है कि प्रवर्तको के चिन्तन की जो प्रकृति रही है, वह समर्थकों के जीवन में आकर विकृति बन जाती है। बुद्ध की नास्तिक आध्यात्मिकता वज्रयान तक आते आते आस्तिक तांत्रिकता बन गयी। ईसा मसीह की प्रेम और त्याग की भावना परवर्ती काल में हिंसा और योग की भावना बन गयी। गॉधी की अहिंसा अन्ततः कायरता का पर्याय मानली गयी। अतः यह कुछ आश्चर्यजनक नहीं था कि अस्तित्ववाद का ऐसा विद्रूप रूप सामने आया। उसके सामान्य परकता के विरोध को जनसामान्य का विरोध समझ लिया गया,उसकी व्यक्तिवादिता को बुर्जुआपरकता मान लिया गया, उसकी धार्मिक आन्तरिकता को रूढ़िवादिता सिद्ध कर दिया गया, उसके प्रतिप्रज्ञावादी दर्शन को बुद्धिहीनता का समर्थक कह दिया गया, जीवन में विज्ञान की अतिशयता के विरोध को जीवन में विकासशीलता का अवरोध सिद्ध कर दिया गया, उसकी स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता में, उसकी आध्यात्मिकता को पलायनवादिता मे और उसकी यथार्थवादिता को निराशावादिता में परिणत कर दिया गया। जिस प्रकार धर्महीनता को साम्यवाद का पर्याय मान लिया गया, उसी प्रकार मूल्यहीनता को अस्तित्ववाद का पर्याय समझ लिया गया। किन्तु अस्तित्ववाद इस विरोध को भी तथ्य समझता है और

इस विरोध में भी ऊर्जा प्राप्त करता है। फिलीप मैरे के शब्दो मे – 'इस आन्दोलन की परिणति के बारे में या अन्तिम मूल्य के बारे मे कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। वे प्रबल विरोध, जिसे स्वय इसने प्रेरित किया है तथा जिनमें कुछ विरोध दार्शनिक और आलोचनात्मक मूल्य भी रखते हैं, वे इसकी जीवन शक्ति के प्रतीक हैं।[2]

किन्तु यह भी एक सत्य है कि हम इन सारे विरोधों को अनुचित और अयुक्त कह कर उपेक्षित नहीं कर सकते। विभिन्न दर्शनो और मतो की भाति यह भी अनेक स्थलों पर त्रुटिपूर्ण रहा है। यदि व्यावहारिकता की भी दृष्टि से देखें, तो भी हम कह सकते हैं कि यदि इसका व्यवहार मे सार्थक निरूपण नहीं हो पाया, तो किसी न किसी सीमा तक यह अव्यावहारिक अवश्य था। अस्तित्ववाद की ही दृष्टि के अनुसार हम अपनी जिम्मेदारी से नहीं बच सकते'। अत· हमें इसके पक्ष–विपक्षों का, प्रभावों–दुष्प्रभावों का सम्यक् मूल्याकन करना होगा, तभी हम इसकी सन्तुलित समीक्षा कर सकते हैं तथा इसकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक सार्थकता तलाश सकते हैं।

सर्वप्रथम हम इसके ऋणात्मक पहलुओं को ही देखें। अस्तित्ववाद सामान्यतया जीवन और जगत् को निरर्थक मानता है, उसे असंगत (Absurd) कहता है। यद्यपि उसके कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन और जगत् में स्वयं में अर्थवत्ता नहीं है, यह अर्थवत्ता हमे अपने प्रयोजनो के अनुरूप उसमे डालनी पड़ती है तथा वह अपनी विविधता और अप्रत्याशितता के कारण बुद्धि से असंगत है।

अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य दोनो मे इस असंगति और निरर्थकता का प्रचुर चित्रण हुआ है। संसार की विसंगतियों का तो निरूपण अनेक साहित्यकारों तथा विचारकों ने किया है, किन्तु उसके असंगत और अर्थहीन होने की घोषणा अस्तित्ववादियो ने ही की। जीवन की दु·खात्मकता पर अनेक दार्शनिको ने बल दिया था, किन्तु उसकी निरर्थकता पर बल देने वाला दर्शन अस्तित्ववाद ही था। किन्तु इस निरर्थकता को निरूपित करने के लिए अस्तित्ववादियों ने जिस कुरूपता का चित्रण किया है, वह अतिरंजित है। हमारा जीवन सर्वथा सुन्दर तो नहीं, किन्तु सर्वथा कुरूप भी तो नहीं है। वह तो सुन्दरता और असुन्दरता का सम्मिश्रण है। यह हमारी दृष्टि पर निर्भर है कि हम कांटें गिनते हैं या फूल। जो फूल गिनते हैं वे लाइबनिट्ज के समान यह कहते हैं कि यह संसार सभी संभव संसारों में श्रेष्ठतम है। जो कांटे गिरते हैं, वे शापेनहॉवर

के समान यह कहते हैं कि यह संसार सभी संभव संसारों में निकृष्टतम है। इस विषय में स्वयं अस्तित्ववादी मनोविज्ञान रूचिकर तर्क प्रदान करता है। हम जानते हैं कि नास्तिक अस्तित्ववादी हुसर्ल की फेनोमेनोलॉजी से प्रभावित है, जो कि गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का प्रतिरूप है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान यह मानता है कि प्रत्येक दृश्य वस्तु में अर्थ मूलतः दो आयामों पर निर्भर करता है-पृष्ठभूमि तथा उत्कीर्ण भाग। हम किसी भी चित्र को उसकी पृष्ठभूमि मे ही देख पाते हैं। यदि किसी चित्र में उत्कीर्ण भाग जैसे फूल अपनी पृष्ठभूमि उपवन से अलगाव न रखता हो तो हम उसे नहीं देख सकते। कई बार ऐसा होता है कि किसी चित्र में एक ही साथ दो चित्र छिपे होते हैं, एक पृष्ठभूमि में दूसरा उत्कीर्ण भाग में। हमारी विडम्बना यह है कि हम एक बार में एक ही चित्र देख सकते हैं। हम जब पृष्ठभूमि के चित्र के देख रहे होते हैं तो उत्कीर्ण भाग को चित्र नहीं दिखायी देता। वस्तुत उत्कीर्ण भाग ही पृष्ठभूमि बन जाता है और पृष्ठभूमि उत्कीर्ण भाग। इसी प्रकार जब हम उत्कीर्ण भाग को देख रहे होते हैं तो पृष्ठभूमि दिखायी नहीं पड़ती। जीवन और जगत् के साथ यह बात लागू होती है। सार्त्र के समर्थक अस्तित्ववादी मॉरिस मार्लियो पांती अपनी एतद्विषयक प्रसिद्ध पुस्तक Phenomenology of Perception में कहा है- "यह विश्व वैसा नहीं है जैसा हम सोचते हैं, अपितु वह वैसा है, जैसा हम उसमें जीते हैं, जिस प्रकार से हम उसके प्रति उन्मुक्त होते है।"[3] यदि हमारा ध्यान केवल कुरूपताओं पर ही रहा, तो सुन्दर से सुन्दर वस्तु में हम कुरूपता खोज लेगे। यदि हमारी दृष्टि निरर्थकता के प्रति ही उत्सुक रही, तो फिर सार्थक और सोद्देश्य जीवन भी निरर्थक ही प्रतीत होने लगेगा। वस्तुतः जीवन एक रिक्तता है, इस बात को अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं। यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम इस रिक्तता को कैसे भरते हैं। हम इस रिक्तता को वस्तुओ से नहीं भर सकते, क्योंकि वस्तुएं सदैव व्यक्ति से बाहर हैं; वे रिक्तता की पूर्ति का आभास करा सकती हैं, किन्तु पूर्ति नहीं कर सकतीं। अब विकल्प यही है कि हम उसे या तो नैतिक मूल्यों से अर्थपूर्ण बनायें अथवा सुखद सुन्दर संवेगों से। किन्तु अस्तित्ववादी, विशेषतः नास्तिक अस्तित्ववादी तो दोनों के प्रतिकूल हैं। नैतिकता उनके लिए मूल्यहीन है। (यहां वे स्वयं नैतिकता को मूल्यहीन सिद्ध करने के लिए तार्किकता का सहारा लेते हैं।) और कोई भी मूल्यहीन जीवन दिशाहीन होने को बाध्य हैं। मूल्य और आदर्श ही हमारे जीवन

का लक्ष्य निश्चित करते हैं। यदि हम इन्हीं का निषेध कर दे, जो सरल भी है, तो जीवन एक निरर्थकता के सिवाय क्या रह जायेगा?

दूसरा विकल्प यह है कि जीवन में प्रेम, करुणा, सौन्दर्य, सौहार्द आदि भावनाओं को स्थान दिया जाय। किन्तु नास्तिक अस्तित्ववादी इस विकल्प की भी स्वीकृति नहीं देते। सार्त्र तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्रेम एक अपर्याय साध्य है। [4] वे कहते हैं कि प्रेम के तीन रूपो-परपीडक, आत्मपीडक तथा तटस्थ मे से कोई भी प्रेम की आदर्श स्थिति को व्यक्त नहीं कर सकता। वस्तुत व्यक्ति मे अस्मिता-बोध के साथ ही जिस अहंमन्यता और अधिकार-भावना का प्रादुर्भाव हो जाता है, वह उसे प्रेम की आदर्श स्थिति से वंचित कर देता है। परपीड़क प्रेम में व्यक्ति अन्य को अपने अधिकार में रखने का प्रयास करता है, जबकि आत्मपीडक प्रेम में व्यक्ति स्वय को अन्य के अधिकार मे ला देता है। दोनो ही स्थितियां व्यक्तित्व-स्वातंत्र्य और वरण-स्वातंत्रय को प्रतिहत करती हैं, अतः दोनों ही स्थितियां अनैतिक हो जाती हैं।

यहां सार्त्र एक गलती पर है। वह प्रेम को संबंध की कोटि में देखते हैं, और इसी कारण वे इसके औचित्य को निरर्थक सिद्ध करते हैं। वे मानते हैं कि मानव अपनी निजता में नितांत एकाकी है, अत. मानवीय संबंधो को बनाये रखने के सभी प्रयास अंतत असफल होने को बाध्य हैं। [5] सार्त्र का स्पष्ट उद्घोष है-'दूसरा व्यक्ति नरक है।' सार्त्र का यह निष्कर्ष उनके आत्यंतिक स्वातंत्र्यभाव का परिणाम है जब 'मनुष्य स्वतंत्र होने को अभिशप्त है, तो वह असंबद्ध (सम्बन्ध विहीन) रहने को भी अभिशप्त है। फिर उसके सारे संबंध बाह्य और अभिशप्त होंगे। किन्तु वास्तविकता यह नहीं। प्रेम को मूलत सबध नहीं, अपितु मनोदशा की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। अपनी आदर्श स्थिति में यह वैयक्तिकता को छोड़कर निर्वैयक्तिकता की ओर अग्रसर हो जाता है। प्रेम की असफलता वस्तुतः हमारे स्वार्थपरक संबंधों की असफलता है, इसकी क्षणभंगुरता हमारे क्षुद्र आकांक्षा भरे संबंध की क्षणभंगुरता है फिर, यदि कोई भाव क्षणिक भी हो तो भी वह कम मूल्यवान नहीं हो जाता। बल्कि इसके विपरीत वह अपनी क्षणजीविता के कारण ही और अधिक मूल्यवान हो जाता है, क्योंकि पता नहीं फिर अगले क्षण वह अनुभूति रहे न रहे। अज्ञेय ने शायद इसी अनुभूति से अभिभूत होकर कहा-

एक क्षण भर और

रहने दो मुझे अभिभूत।

यहां उनमें प्रत्येक क्षण को स्वयं में जीवन्त करने की अदम्य लालसा है। 'आत्मने पद' में वे कहते हैं– "क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है।" ऐसी मनास्थिति मे ही प्रेम सबद्ध होकर भी आबाद्ध नहीं होता।" समर्पण है तो वह न बाँधता है, न अपने को बंद अनुभव करता है, केवल एक व्यापक कृतज्ञता मन मे भर जाती है कि तुम हो कि मैं हूँ।"[7] इसी प्रकार कीर्केगार्ड कहते हैं कि "प्रेम कला की तरह ही नहीं है, जो ऐसे कुछ व्यक्तियो के लिए है, जो इसमें निपुण हैं। यह प्रत्येक उस व्यक्ति को मिला है, जो प्रेम करना चाहता है।[8] किन्तु कोई भी यह आसानी से कह सकता है कि यह प्रेम की, प्लेटोनिक परिभाषा हुई, यह रूमानी कल्पना मात्र है, यथार्थ नहीं। हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं किन्तु हम यहा प्रत्युत्तर मे कहना चाहेगे कि यदि प्रेम का यह उच्चतर रूप यथार्थ नहीं, तो इसका काम के निम्नतर स्तर तक अपघटित रूप भी यथार्थ नहीं। काम और प्रेम में प्राय व्यामिश्र होता है और एक की चरम परिणति प्राय दूसरे मे पर्यवसित होती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों में कोई भेद नहीं है। काम पर आश्रित होना काम स्वरूप हो जाना नहीं है, फूल जड़ों से ही ऊर्जा लेते हैं, किन्तु वे जड़ नहीं। यह प्रकृति की विडम्बना है कि प्रत्येक उच्चतर चीज को निम्नतर पर निर्भर रहना पड़ता है, फूलों को जड़ों पर निर्भर रहना पड़ता है। किन्तु इससे निम्न को उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता और न ही उच्च को निम्न स्तर पर अपघटित किया जा सकता है। इस अपघटन की प्रवृति के विकृत निष्कर्ष आये हैं। जीवन काममय हो गया और हर प्रेम संबंध काम संबंधों तक ही सीमित हो गया। फ्रायड द्वारा काम का मनोवैज्ञानिक मण्डन दार्शनिको के हाथ मे तार्किक मण्डन भी बन गया। अज्ञेय प्रेम का क्षणिक और वासना को शाश्वत मानते हुए कहते हैं– "प्रेम अमर नहीं होता, वासना अमर होती है। प्रेम एक बार मर जाता है, तो सदा के लिए मर जाता है किन्तु वासना मरती है फिर जन्म लेती है।" फिर वे दोनों का घनिष्ठ अंतसम्बन्ध दिखाते हुए कहते हैं– "वासना मुरझा जाती है और तब प्रेम तंतु ही जीवन की स्थिरता बनाये रखता या शायद्द इसके उल्टा। जब प्रेम मर जाता है तब वासना उसके शव को उठाये-उठाये फिरती है और उससे अपने को धोखे में छिपाना चाहती है।"[9]

सार्त्र तो फ्रायड से इतने प्रभावित हैं कि Being and Nothingness मे उनकी सत्तामीमांसीय अवधारणाए भी यौन शब्दावलियो में व्याख्यायित हैं। यहा हम भारतीय दर्शन की शरण लेते हुए कह सकते हैं कि जैसे हमारे सकाम जीवन मे सिवाय दुःख के कोई उपलब्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार सकाम प्रेम में हमें सिवाय पीड़ा के अन्य किसी सार्थक चीज की उपलब्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार जीवन स्वयं मे मूल्यवान है, उसकी सार्थकता के लिए अन्य तथ्यो की सहायता लेना जीवन की उपेक्षा करना है, उसी प्रकार प्रेम भी स्वयं में मूल्यवान है उसके लिए अन्य तर्कों की तलाश वस्तुत· उसका उपहास है। हमारा सारा जीवन इतना वंचनापूर्ण और हमारा समस्त प्रेम इतना आत्म प्रवंचनापूर्ण हो गया है कि हम इस अनुभूति से अभिभूत नहीं हो पाते, इसकी सार्थकता को आत्मसात नहीं कर पाते। सार्त्र ने आत्म प्रवंचना के उदाहरण में स्वय को प्रेमी के समक्ष वस्तुरूप समझने वाली युवती का उदाहरण देकर एक सटीक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

एक विचित्र विडम्बना यह है कि सभी नास्तिक अस्तित्ववादी प्रतिबद्ध होने पर इतना बल देते हैं किन्तु प्रीतिबद्ध होने की इतनी खिलाफत करते हैं। वे संबद्धता को आबद्धता के रूप में देखते हैं किन्तु क्या तब किसी कार्य के प्रति प्रतिबद्ध होना भी उससे आबद्ध होना नहीं होगा? सत्य तो यह है कि हम जिसे बाँधते हैं, स्वयं भी उससे बँध जाते हैं।

यहां हम पुराने विषय वस्तु पर आते हुए यह कहना चाहेंगे कि जगत् की असंगतता और जीवन की निरर्थकता का प्रतिपादन प्रकृति के एक कठोर सत्य का उद्घोष है, जिसे हम विलियम जेम्स की शब्दावली में "निर्मम तथ्य" कह सकते हैं। किन्तु यह कठोर सत्य पूर्ण सत्य नहीं है। इसका एक दूसरा पहलू है कि जीवन अर्थहीन होकर भी अर्थग्राही है, जगत् अयुक्त होकर भी जीवन के उपयुक्त है। जिस प्रकार लॉक ने मन को कोरी पट्टिका कहा था, उसी प्रकार हम जीवन को भी कोरी पट्टिका कह सकते हैं। इसकी सार्थकता हमीं तय करते हैं, इस पर चित्र भी हमी बनाते हैं और उसमें रंग भी हमी भरते हैं। जगत् की सार्थकता भी जीवन की प्रयोजनात्मकता में है। यदि हमने इस जगत् का आभार महसूस किया होता, इसके सौन्दर्य को अनुभूत किया होता, तो शायद हम इसे निरर्थक और असंगत नहीं कह पाते।

अस्तित्ववाद की विसंगति यह है कि यह स्वयं ही जीवन की पट्टिका के सुन्दर रंगों को धोने का प्रयास करता है और फिर कहता है कि जीवन निरर्थक है। जीवन की

पट्टिका के उखड़े-अधछूटे चित्र कुरुप ही तो होगे, इसी प्रकार वह जगत् और, व्यक्तियों से अलगाव के भाव को प्रमुखता देता है और फिर कहता है, इस जगत् में कोई अर्थवक्ता नहीं, संबंधों मे कोई सार्थकता नहीं। बर्कले ने लॉक की आलोचना में कहा था कि "वे स्वय धूल उड़ाते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि वे देख नहीं सकते।"[9] उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी स्वयं ही जीवन से मूल्यो को निष्कासित करते हैं और फिर कहते हैं कि जीवन अर्थहीन और मूल्यहीन है।

सार्त्र कहते हैं कि "मनुष्य एक निरर्थक वासना है" यह अर्थहीन है कि हम पैदा हुए थे, यह भी अर्थहीन है कि हम मरते हैं। किन्तु उन्हीं के सहधर्मी हाइडेगर मृत्यु को भी एक सम्भावना के रूप में देखते हैं, उसे भी अस्तित्व का अंग बना देते हैं। यद्यपि हाइडेगर और सार्त्र की मौलिक मान्यताएं लगभग समान हैं किन्तु इस बिन्दु पर आकर हमें हाइडेगर का मत अधिक आशापरक प्रतीत होता है। सचमुच, मृत्यु की सुनिश्चित सम्भावना ही जीवन को सार्थक बनाती है।

सार्त्र ने "अस्तित्वसार का पूर्वगामी है"- इस कथन को अस्तित्ववाद का प्रस्थान विन्दु माना है। उसके अनुसार मानव अस्तित्व एक ऐसी सत्ता है, जो अपना सारा तत्व स्वयं निर्धारित करती है। वह स्वयं में एक रिक्ति है, अवस्तुता है। जिस सीमा तक वे इसे मनुष्य की नि सीम सम्भावनाओं का उद्घोष करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, वहाँ तक शायद ही किसी को आपत्ति हो। किन्तु जब वे इसकी इस असारता से उसके जीवन की नि·सारता निगमित करते हैं, तब वह आपत्तिजनक हो जाता है। हम यदि यह मान भी लें कि मानव एक रिक्ति है, उसमें पहले से कोई सार नही है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि आगे भी उसमें कोई सार नहीं होगा। मनुष्य एक बार जिन वस्तुओं से इस रिक्ति को भर देता है, वे वस्तुएं ही उसका सार बन जाती हैं। यद्यपि वे हटायी जा सकती हैं, किन्तु जब तक वे विद्यमान होती हैं तब तक वे सार की भूमिका निभाती रहती है। अत· उक्त तथ्य से इस नि·सारता का निगमन उचित नहीं प्रतीत होता। यद्यपि मनुष्य को पूर्णत· असार अस्तित्व मानना भी अयुक्त है, किन्तु उनके द्वारा मनुष्य की स्वतंत्रता और सम्भावनाओं पर बल दिये जाने के आधारभूत कारण को ध्यान में रखते हुए इस आपत्ति को उठाना उचित नहीं समझते।

किन्तु अस्तित्ववाद में स्वतंत्रता की समस्या भी सरल नहीं है। नास्तिक अस्तित्ववादी

जहाँ इसे पूर्ण स्वछंदतावाद की सीमा पर ला देते हैं, वहीं आस्तिक अस्तित्ववादी इसे अन्ततः ईश्वर के हांथों सौप देते हैं। सच तो यह है कि आस्तिक-अस्तित्ववादियों ने स्वतत्रता को बहुत कुछ आध्यात्मिक मुक्ति का रूप दे दिया है। यह एक ऐसी स्वतत्रता है, जो स्वयं को तथ्यों से तो मुक्त रखती है किन्तु रूढियो एव भ्रान्तियो से स्व्य को आबद्ध कर लेती है। यह ऐसी मुक्ति है जिसमें व्यक्ति अपने पैरों की वेडिया तो काट ले किन्तु उन बेड़ियो को ही गले का फन्दा वना लें। वस्तुत स्वतत्रता सर्वप्रथम भीतरी स्वतन्त्रता के रूप मे ही प्रस्फुटित होती है ओर यह तभी संभव हो सकती है जब मनुष्य स्वयं को बाह्य दशाओं ही नहीं, आन्तरिक मान्यताओ, विश्वासो, पूर्वाग्रहो और मताग्रहों से मुक्त कर सके। यदि वह एक पूर्व निर्धारित ईश्वरी अवधारणा या स्वर्निर्धारित ईश्वरीय आस्था मे आबद्ध रहता है, तो भी मुक्त नहीं कहा जा सकता है ।

ग्रैबियल मार्सल ने स्वतंत्रता के लिए उन्मुक्तता (Opening out) शब्द का प्रयोग किया है। उनकी स्वतंत्रा की अवधारणा निरपेक्ष अस्तित्ववादियों की आत्यंतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक संतुलित है। मार्सल स्वतत्रता को सापेक्षिक रूप प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य सर्वथा एकाकी हो तो उसकी स्वतंत्रता का कोई प्रशन ही नहीं उठता । पूर्णतया एकाकी जीवन तो स्वयं में ही बन्धन है, जिसमें व्यक्ति अपने से ही बँध कर रह जाता है, स्वयं में ही सिमटकर रह जाता है। किन्तु स्वतंत्रता का चरम रूप तो यह है कि व्यक्ति स्वय का ही अतिक्रमण कर जाय, स्वयं से परे जाने की शक्ति अर्जित कर ले। इसी कारण मार्सल स्वतंत्रता को एक अलग रूप देने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार उन्मुक्त होने का अर्थ है –स्वयं को सभी आयामों के लिए खोल देना, अपनी चेतना को इतना ग्रहणशील और व्यापक बना देना कि उसमें 'अन्य आत्मा' ही नहीं, 'परमात्मा' भी समाहित हो जाय। यह स्वतंत्रता एक सृजनात्मक, किन्तु रहस्यात्मक रूप ले लेती है। कबीर दास ने भ कहा था–

हेरत–हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराइ।
बूँद समानी समुन्द में, सो कत हेरी जाइ।।

किन्तु कुछ दिनों बाद उन्होंने अन्तिम पंक्ति को परिवर्तित कर यह कहा–

"समुन्दर समाना बूँद में, सो कत हेरा जाइ।"

अर्थात विराट स्वयं ही लघु में समाहित हो गया, समाष्टि स्वयं ही व्यष्टि में विलीन

हो गया। मार्सल भी वस्तुत ऐसी ही बात कहते हैं। वे कहते हैं कि यह उन्मुक्तता तब प्राप्त होती है जब हम अन्य से वस्तु परक नहीं अपितु आत्मपरक सबंध जोड़ते हैं, जिसमें पाने (To Have) की भावना नहीं अपितु होने (To be) की भावना है। यह संबंध मार्टिन व्यूवर के शब्दों मे –" 'मै –वह' का सबध नही, अपितु 'मैं तू का संबंध है।

मार्सल की यह अवधारणा स्वयं एक संवेगात्मक पक्ष को समाहित किए हुए है, जो सरलता से जीवन के आदर्श प्रवृत्ति को छू जाता है। उनका यह स्पष्टीकरण इसे और भी मूल्यवान बना देता है। वे कहते हैं कि उन्मुक्तता "पूर्ण तटस्थता" और "पूर्ण प्रतिबद्धता" दोनों से ऊपर उठने की अवस्था है, क्योंकि तटस्थता मूलत पलायनवादिता है जबकि प्रतिबद्धता स्वय ही एक प्रकार का बन्धन है। निश्चय ही मार्सल यहाँ स्वतंत्रता को एक संतुलित रूप मे देखते हैं।

किन्तु क्या यह उन्मुक्तता इतनी सरल है। कम से कम यह व्यावहारिक जीवन में तो सहज संभाष्य प्रतीत नहीं होती। मार्सल और मार्टिन ब्युवर जिस 'मैं-तू' सबंध ा पर इतना बल देते हैं, क्या वह व्यावहारिक जीवन मे ' तू-तू, मैं-मै'का संबध नहीं बन जाता है। मार्सल कहते हैं कि यह भेद रहस्मय हो सकता है और रहस्य स्वयं ही प्रकाश का स्त्रोत है।[12] किन्तु व्यवहार में यही रहस्यात्मकता क्या समस्यात्मक होने को विवश नहीं है। यह रहस्यवादी तथा आदर्शवादी अवधारणा क्या व्यावहारिक समस्याओं के लिए कोई सार्थक समाधान प्रस्तुत करती नहीं दिखती।

अस्तित्ववाद पर एक गम्भीर आरोप इसकी ' वैयक्तिकता' को लेकर है। आलोचको का कहना है कि यह दर्शन एक अतिवैयक्तिक दर्शन बन रह जाता है। यह वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता से वैयक्तिक सत्यों की प्रामाणिकता की ओर अग्रसर हो जाता है, फलतः सत्य स्वय ही विखण्डित होकर एकांगी तथा अपूर्ण सत्य बन जाता है और विभिन्न अपूर्ण सत्य मिलकर सत्य का नहीं अपितु असत्य का ही निर्माण करते हैं। उनका कहना है कि वह सत्य जो सार्वजनिक नहीं है, वह सार्वभौम नहीं और वह समाजोपयोगी भी नहीं रहता। इनकी आलोचना में दम भी नजर आता है। जब हम एक बार सत्य को वैयक्तिक मान ले या वैयक्तिक सत्य को प्रामाणिक मान लें, तो फिर हमारे पास सत्यता का कौन सा आधार रह जायेगा। फिर हिटलर द्वारा नाजियो

की हत्या, नादिरशाह के कत्लेआम, औरंगजेब गजनवी और महमूद के विध्वस, गाँधी की हत्या, ब्रूनों और जान ऑफ आर्क का जिन्दा जला दिया जाना, पूँजीपतियो का शोषण, तानाशाहों का शासन, सभी कुछ तो वैध हो जाता है, क्योकि सभी के पास अपने वैयक्तिक सत्य है। यह भी एक ध्रुव सत्य है कि हम जितना ही सत्य की व्यक्तिनिष्ठता पर बल देते हैं, उतनी ही सत्य निष्ठता विनष्ट होती है। इस सन्दर्भ मे रघुवीर सहाय की यह उक्ति अत्यन्त समीचीन है कि–

"वह सत्य, जो हम पायेगे, हमारा होगा। पर वह हमारा तभी होगा, जब वह हमारा नहीं रह जायेगा। जो उपलब्धि केवल हमारी है, वह एक निम्न बौद्धिक स्तर की रचना है। जिस सत्य को हम देख आए हैं, उसे सबमें देखे, जिनके हम हितैषी हैं। . . वह हमारा स्वानुभूत तो हो, सहानुभूत भी हो।"[13]

किन्तु इस आलोचना को हम उचित नहीं मानते। कीर्केगार्ड ने सत्य को व्यक्तिनिष्ठ नहीं, अपितु व्यक्तिनिष्ठ कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि सत्य का ज्ञान तबतक नहीं हो सकता है जबतक वह व्यक्ति की अपनी अनुभूति नहीं बन जाता। उन्होंने कहा भी है कि मैं सत्य को तबतक नहीं जान सकता जबतक कि वह मेरे भीतर जीवन्त नहीं हो जाता । जब नीत्शे ने कहा था कि सारे सत्य हमारी रगों में समाएं हुए सत्य हैं तो उसका भी तात्पर्य यही था। अतः व्यक्तिनिष्ठता की यह आलोचना सार्थक नहीं है। पुन जिस दर्शन की वैयक्तिक प्रतिबद्धता की प्रशंसा होनी चाहिए, उसे अति वैयक्तिक कहकर खारिज करना उसके साथ न इंसाफी होगी।

अस्तित्ववाद पर कभी–कभी 'निरर्थक दुःखवाद' का भी आरोप लगाया जाता है। भारतीय दर्शन में दुःखवाद तो एक सामान्य और सर्वमान्य तथ्य है, किन्तु पाश्चात्य दर्शन में जीवन के दु·खो, पीड़ाओं, वेदनाओं पर जितना बल इस विचारधारा में दिया गया है, उतना अन्य किसी सम्प्रदाय मे नहीं दिया गया है। यह प्रवृति आस्तिक और नास्तिक –दोनों अस्तित्ववदियों मे समान रूप से पायी जाती है। समग्र अस्तित्ववादी दर्शन में सर्वत्र भय, सत्रास, चिन्ता, परिताप, उद्वेग, ऊब, एकाकीपन, पतन, हताशा, हीनता इत्यादि दु·खो का विशद वर्णन और विवेचन है। प्रत्येक अस्तित्ववादी ने इन वेदनापूर्ण वृत्तियों के चित्रण में बढ़चढ़ कर रूचि दिखलाई है चाहे उनकी दार्शनिक कृति हो या साहित्यिक कृति, सबमें मानव को अस्त–व्यस्त, त्रस्त–सतृप्त, अभिशप्त रूप मे चित्रित

किया गया है। यह दु:खवाद अपनी अति के कारण कुछ वितृष्णाजनक तथा असगत प्रतीत होता है। यह ठीक है कि इस दर्शन का जन्म युद्ध और सकट के काल में हुआ, किन्तु यह शापेनहावरी रूदन कहाँ तक उचित माना जायेगा?

किन्तु हमे सर्वाधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब हम पाते हैं कि इसके अधिकाश दु:ख न तो शारीरिक है और न सामाजिक और न आर्थिक, बल्कि वे मात्र मानसिक दुःख है। इन्हें तो दुःख की बजाय क्लेश की संज्ञा देना अधिक उचित है। इनमें से बहुत से क्लेश तो ऐसे हैं कि जो अत्यन्त क्षणिक तथा सूक्ष्म हैं और यदि अस्तित्ववादी वार-बार इनका ध्यान न दिलाये तो शायद जन सामान्य का उन पर ध्यान भी न जाय। ऐसे सहज और सहरलह्य दु:खो के व्यापक वर्णन के कारण तथा उद्देश्य क्या हैं? यदि कोई आलोचक इसे 'निरर्थक दु खवाद' की संज्ञा दे, तो क्या वह अनुचित होगा, क्योकि इसके अधिकांश दुख तो यथार्थ जगत की बजाय मानसिक और काल्पनिक जगत में ही अस्तित्ववान् प्रतीत होते हैं। यदि आलोचक सही हैं तो क्या इतना विलाप और प्रलाप क्या सर्वथा निरर्थक है?

इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देना कठिन नहीं है। सर्वप्रमुख कारण तो यह है कि प्रत्येक दर्शन एक नूतन और मौलिक दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वह उन समस्याओं को उठाने का प्रयास करता हैं जो अब तक अछूती रही हैं। अस्तित्ववाद ने जिन समस्याओ को उठाया है, जिन पीड़ाओं और वेदनाओ को अभिव्यक्ति ही है।, वे अब तक उपेक्षित पड़ी रहीं। अस्तित्ववाद की ये समस्याएँ सूक्ष्म होकर भी तीक्ष्ण हैं, क्षणिक होकर भी गहन है वे इस विचित्र रूप से जीवन को उद्वेलित कर जाती हैं कि व्यक्ति अपनी व्यथा किसी से कह भी नहीं सकता और किसी के सामने रो भी नहीं सकता। इन दुःखों की पीड़ा "अन्तर्गूढ़घनव्यथा" है। वह ऐसी अशरणता की स्थिति में होता है कि उसका रूदन भी अरण्य रूदन बनकर रह जाता है। अत हमे हमारे ऐसे दुःखों का बोध कराना, उनका सूक्ष्म विवेचन करना नितान्त सार्थक और समीचीन हैं।

पुन, अस्तित्ववाद व्यक्ति निष्ठा और प्रतिष्ठा का दर्शन है, उसकी चेतना मूलत व्यक्ति केन्द्रित है। अत· व्यक्ति के इन आतरिक दुःखों का वर्णन स्वभावत· उसकी प्रकृति और दृष्टि के अनुरूप ही है। चूँकि की प्रतिष्ठा करने वाला दर्शन है।, अत· यदि वह

व्यक्ति को उसके सूक्ष्म आतंरिक क्लेशों का बोध न कराये, तो फिर वह प्रमाणिक व्यक्तित्व का रास्ता कैसे दिखला सकता है?

किन्तु एक प्रश्न फिर भी उठता है कि क्या अधिा गहन अनुभूति और मुखर अभिव्यक्ति हुई। इसका भी उत्तर इसकी अन्तमुखी प्रकृति सामान्यतया बाहा जगत् के दु.खो को ही प्रधान समझता है तथा अपने अस्तित्व की आंतरिक वेदनाओ की उपेक्षा करता रहता है। इनके प्रति उसमें एक प्रकार का मूर्च्छा का भाव, एक प्रकार के बोध का अभाव होता है। किन्तु जब उसकी चेतना अंतर्मुखी होती है तब उसके लिए इनकी उपेक्षा कर पाना असंभव हो जाता है। अब उसे ये दु.ख ही मूल और प्रधान प्रतीत होने लगते हैं क्योंकि ये सीधे अस्तित्व से जुड़े होते है। चूँकि अस्तित्ववादी दर्शन का केन्द्र विन्दु ही मानव का अस्तित्व और उसकी आंतरिकता है, अतः उसमें इन आंतरिक वेदनाओं और पीड़ाओं का भाव अधिक गहन तथा मुखर है।

पुनः, यदि हम भरतीय दर्शन की मान्यता को स्वीकारें, तो हमे मानना पड़ेगा कि अस्तित्ववाद की वेदना और पीड़ा का मूल कारण उसकी अहंता, उसकी अस्मिता के बोध में ही छिपा है। भारतीय दर्शन सदैव से अहंता को दुःख का कारण मानता रहा है और इसी कारण वह अहंता के निषेध को ही मूल मुक्ति मार्ग मानना रहा है। चाहे ज्ञान मार्ग हो,ा या भक्तिमार्ग या कर्म मार्ग–सभी इस "मैं–पन" की भावना, अहमन्यता की भावना के ही उन्मुलन पर बन देने हैं। चूँकि अस्तित्ववादी चेतना का केन्द्रबिन्दु ही "अहं" है, अत इसके साथ दु ख, पीड़ा और वेदना का निरन्तर जुड़ जाना कुछ अप्रत्याशित नहीं था।

अस्तित्ववाद पर जिस बात को लेकर बड़ी आपत्ति लगायी जाती है, वह है उसका–तर्क बुद्धि निषेध और विज्ञान विरोध। अधिकांश अस्तितत्व वादियो ने अपने–अपने ढंग से कमोवेश इनका निषेध किया ही है। यद्यपि उनके पास इनके निषेध हेतु सबल कारण मौजूद रहे हैं, किन्तु यह निषैध जिस अति पर पहुँच गया है, वह बहुत कुछ मध्यकालीन अंधयुग की भी याद दिलाता है। विज्ञान की वस्तु निष्ठता, बाहापरकता, यांत्रिकता और विध्वसात्मकता का तो विरोध करना उचित था, किन्तु उसकी सृजनात्मकता, अन्वेषणात्मकता प्रयोग धर्मिता , विकाससाकारिता का निषेध सर्वथा अवांछनीय हो जाता

है। वस्तुतः ये दोनो पहलू एक दूसरे से जुड़े हुए हैं एक के निषेध से दूसरे का भी स्वयमेव निषेध हो जाता है। और इनका निषेध शायद मानवता के इतिहास की सबसे बड़ी भूल होगी। आज पिछले 40 हजार वर्षो से यह प्रबुद्ध मानव (होमोसैपियंस) पृथ्वी पर विद्यमान है, किन्तु विज्ञान के द्वारा पिछले 4000 वर्षो में उसने जो ऊचाइयाँ तय की वह 40000 वर्षो तक नहीं कर पाया था। और फिर इन चार सौ वर्षो में उसने जो प्रगति की है, वह चार हजार वर्षो की प्रगति पर भारी है। यह चक्रवृद्धिय विकास विज्ञान की ही देन है। निश्चय ही इस विकास में वहुत कुछ नष्ट भी हुआ है, किन्तु हमे सदैव यह सोचना चाहिए कि इसमें दोष विज्ञान का नहीं, अपितु मनुष्य की विध्वंसात्मक चेतना का है। हमने विज्ञान के अनुपात में यदि चेतना भी विकसित की होती, तो शायद परिणाम इतने विध्वसक नहीं होते। अस्तित्ववाद भी हमारे आदर्शो और मूल्यो को छीनकर कुछ सार्थक नहीं दिखा पा रहा है। आज का मूल्यहीन मानव दिशाहीन हुआ है, तो इसमें विज्ञान को दोष नहीं, अपितु वैचारिक खोखलेपन का दोष है। क्या मूल्यो,आदर्शो, जीवन और जगत् की निरर्थकता अन्ततः सिद्धान्तों वादों और दृष्टियों की निरर्थकता का भी आपादन नहीं करती। फिर वह दृष्टि,चाहे अस्तित्ववाद की ही क्यों न हो।

नहीं। विज्ञान को नहीं रोका जा सकता, विज्ञान को रोकना, मूलत· हमारे ज्ञान को रोकना है। ज्ञान-जिसके कारण मनुष्य की महत्ता है, जगत् मे सप्रभुता है। ज्ञान, वस्तुत· बोध अथवा दृष्टिका ही तो दूसरा नाम है, जिसका अस्तित्ववाद निरन्तर मण्डन करता रहा है।

अत· विज्ञान का विरोध और तर्क बुद्धि का विरोध न तो सार्थक है और न समीचीन। पहली चीज तो यह कि हमें इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना है कि यदि हमें विज्ञान के लाभ प्राप्त करने हैं, तो कुछ न कुछ हानियाँ सहने के लिए भी तत्पर रहना होगा। यदि हम समुद्र मंथन करते हैं, तो हमें अमृत के साथ-साथ विष के लिए भी तैयार रहना होगा। वैसे भी, यह सार्वभौभ और शाश्वत नियम है कि बिना कुछ खोये, कुछ पाया नहीं जा सकता। हमारा यह खोना ही हमारे पाने की आधारभूमि बनता है। यह वेदना यह विध्वंस बहुत कुछ उस प्रसव पीड़ा के समान है जो नये के

जन्म के लिए आवश्यक है। वस्तुत विज्ञान के दोषों को हम विज्ञान के ही द्वारा दूर कर सकते है? जरूरत सिर्फ उससे उच्चतर और विकसित विज्ञान की है। विज्ञान का अवरोध कोई मार्ग नहीं, पीछे कोई विकल्प नहीं।

फिर अस्तित्ववाद तर्क बुद्धि के निषेध और भावना की स्वीकृति का जो दावा प्रस्तुत करता है, वह भी पूर्णत सती नहीं है। कीर्केगार्ड बार-बार हृदय के विवेक पर बल देते हैं। किन्तु भावनाएँ भी तो मूलतः मन के ही खेल हैं। हृदय की कोई भावना नहीं होती। उसका कार्य रक्त शुद्ध करना और उसे शरीर में प्रवाहित करना है। हमारे संवेग, हमारी संवेदनाएँ, हमारी भावनाएँ सभी मन की ही कियाएँ हैं। वस्तुत तर्क बुद्धि और संवेग-दोनों मन की सक्रियता की ही कोटियाँ हैं। यह मात्र काव्यात्मक अवधारणा है कि भावनाओं का उद्‌गम हृदय है। यह भी एक भ्रांति है कि जिसे तर्क बुद्धि से नहीं पाया जा सकता, उसे भावनाओ के द्वारा पाया जा सकता है।वस्तुत भारतीय दर्शन मे सत्य के ज्ञान हेतु जिस ''विवेक'' का मण्डन किया गया है, वह तर्क बुद्धि और भावना दोनों से ऊपर की अवस्था है, उसमे दोनों का ही अतिक्रमण है। पुन , इस बात की क्या गारंटी हो सकती है कि भावनात्मक आंतिरकता सदैव उदान्त ही होगी। हम यह दावा तो कर ही नहीं सकते कि उसमें क्रूर और निर्मम भावनाएँ समाहित नहीं होगी। सत्य तो यह है कि अब तक तर्क बुद्धि द्वारा भावनाओ का परिष्कार नहीं होता, तब तक भावनाएँ सहज वृत्ति के ही रूप में विद्यमान होती है, जिसे हम पाशविकता का ही स्वर कह सकते हैं। भावना हमारी बौद्धिकता और नैतिकता को ऊर्जा देती है, किन्तु हमारी बौद्धिकता और नैतिकता ही हमारी भावनाओं को दिशा देते है। हमारा संतुलित जीवन इन तीनों के समन्वय में है, तीनों के पार्थक्य में नहीं। कीकैगार्ड ने जिस आंतरिकता को बौद्धिकता से परे बताया है और जिस धार्मिकता को नैतिकता से परे बताया है, वह कथमपि वरेण्य नहीं है। सार्त्र, हाइडेगर, कामू, पोन्ती आदि की प्रामाणिकता भी नैतिकता या मूल्ययात्मकता से मुक्त होने पर मूल्यहीन हो जाती है।

अपेक्षाकृत अल्प प्रसिद्ध अस्तित्ववादी निकोलस बर्डियेव ने प्रसिद्ध नीति शास्त्री हार्टमैन की इस बात के लिए प्रशसा भी की है कि उन्होने नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का समन्वय किया तथा नीतिशास्त्र के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान की। उनके शब्दों में,'' हार्टमैन इस बात में पूर्णत· सही हैं कि उन्होंने नीतिशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत किया

और उसमें सभी प्रकार के मूल्यों को समाहित किया, चाहे वे सज्ञानात्मक हो या सौदंर्यपरक। मनुष्य का सत्य और सौंदर्य से संबंध नि संदेह नैतिक चरित्र रखता है, क्योकि वह सत्य और सौंन्दर्य के प्रति एक नैतिक बाध्यता का अनुभव करता हैं।[14]

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने पहली बार सत्यं, शिव, सुन्दरम् **(The Truth, The beauty, The Good)** के समन्वय का उदघोष किया था और यह उद्घोष सर्वथा सार्थक है हम अपने जीवन को कुरूप सत्यों पर आधारित नहीं कर सकते और न ही उसे शिवत्न की नैतिकता के बिना कोई दिशा दे सकते हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक सत्य को व्यक्ति निष्ठता मानते हैं और स्वयं ही व्यक्ति के अतंस् को निरर्थक और निष्प्रयोजन बना देते है।। वास्तव मे यह निष्ठा व्यक्ति के प्रति निष्ठा नहीं रह जाती।यह मानव वाद तो मानव की ही निरर्थकता स्थापित करता है। निश्चय ही, यह एक अनुचित और असुंदर स्थिति है। सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य का सार उसके बाहर होता है, तो फिर उसमें कुरूपता, निन्ता, दुरास्था, परिताप, एकाकीपन, उद्वेग आदि दुर्वृत्तियो के बीज कहॉसे आ जाते हैं। इन बीजों को भी तो हमीं बोये हैं।''बोया पेड़ बबूलका आम कहॉसे होये'' हम वासना के बीज बोकर सार्थकता के फल नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि हर वासना,हर कामना अन्त निष्फल होने को बाध्य है। हम अहंता के बीज बोकर आनद के फूल नहीं खिला सकते, क्योंकि अहंता मे केवल दु.ख के कॉटे ही आ सकते है। जिस प्रकार स्वतंत्रता के बीज से अस्तित्ववाद ने स्वत· प्रामाणिकता और उत्तरदायित्व का फल प्राप्त कर लिया, उसी प्रकार वह यदि सौन्दर्य और मूल्यों के बीज बोये, तो उसमें स्वत· ही आनन्द और शिवत्व के फूल खिल

किन्तु इन आलोचनाओं का यह अर्थ नहीं कि अस्तित्ववाद एक सर्वथा असंगत और अनुपयोगी दृष्टि है। वास्तविकता यह है कि समकालीन दर्शनों में यह सर्वाधिक समुपयुक्त और व्यापक दृष्टि है और इसी कारण इसे सर्वाधिक लोकप्रियता भी मिली। इसकी महत्ता को स्वीकारने में जहॉ मनोविज्ञान जैसे शुद्ध कलात्मक विषय ने भी इसे अपनाया है। अस्तित्ववाद की दृष्टि के द्वारा हम जीवन के निर्मम तथ्यों को नग्न रूप मे देख सकते हैं। हम उन सत्यो का साक्षात्कार कर सकते है, जिनकी ओर अभी किसी की दृष्टि नहीं गयी थी।हम उस स्वतन्त्रता की अनुभूति कर सकते है, जो हमें न तो

राजनैतिक स्वतंत्रता में मिली थी, न सामाजिक स्वतंत्रता में। यह हम चेतना के विज्ञान और जीवन की कला तक पहुँचने में सहायक सिद्ध हो सकता है। सार्त्र ने कला की महत्ता उसकी पारदर्शिता के द्वारा निर्धारित की है कोई कला उस प्रत्यक्ष चित्र सा मूर्त रूप में नहीं होती,अपितु उसके पीछे जो अव्यत्कं भाव या दृश्य होता है उसका प्रत्यक्ष कराने में निहित होती है। अधिकतम पारदर्शिता का मतलब है उस भाव की अधिकतम अभिव्यन्जना। इस प्रकार कला यथार्थ के चित्रण में नहीं उसके अतिक्रमण में निहित हो जाती है। सार्त्र की इस परिभाषा को हम जीवन जीने की कला पर आरोपित करते हुए हम कह सकते है कि अस्तित्ववादी दृष्टि की सार्थकता यथार्थ के चित्रण मे नहीं, अपितु उसके अतिक्रमण मे है। यदि हम यथार्थ की निरर्थकता और कुरूपता का अतिक्रमण कर एक सार्थक और सुन्दर जीवन दृष्टि पा लेते है। तो इसी में अस्तित्ववादी विचारधारा की सार्थकता है।

अस्तित्ववाद की सार्थकता को हम उसके प्रभाव क्षेत्र के द्वारा भली प्रकार से देख सकते है। इस विषय मे हम सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण दे दें कि जिन क्षेत्रो में हम अस्तित्ववाद के प्रभाव का जिक्र करेंगे, उनमें केवल अस्तित्ववादी दर्जन का योगदान नहीं रहा है।सही मायने में ~~कहें, तो~~ इसमें उन परिस्थितियों या शक्तियों का ही योगदान अधिक है, जिन परिस्थितियों या शक्तियों ने अस्तित्ववाद को जन्म दिया। इस अर्थ में इन परिणामों को अस्तित्ववाद की सन्तान की बजाय अनुज कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनमे तो अनेक परिणाम अस्तित्ववाद के अग्रज ही हैं, किन्तु इनके विकसित होने मे अस्तित्ववाद ने भी योगदान किया व्यावहारिक नहीं तो कम से कम सैद्धांतिक समर्थन अवश्य दिया।

सामाजिक-राजनीतिक संदर्भो में स्त्री-स्वातंत्रय, और स्त्री सशक्तिकरण की भावना को विकसित करने में अस्तित्ववादियों की प्रबल भूमिका रही। सार्त्र की प्रमिका पत्नी ''सीमेन 6 बोडवार'' की रचना (The Second Sex) तो इस अर्थ में स्त्रियों की बाइकिल ही मानी जाती है। जर्मेन ग्रियर की रचना (The Female Eunach) भी इस अर्थ में एक सशक्त प्रस्तुति है। फिर तो नारीबाजी लेखिकाओं की एक सुदीर्घ श्रृंखला ही खड़ी हो गई। अंग्रेजी में नादिन गार्डियर बंग्ला में तस्लीमा नसरीन, उर्दू में तहमीना दुर्रानी, हिन्दी में चित्रा मुइगल, मृदुला गर्ग, उषा प्रियंवदा, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा सोवती

आदि तो अत्यन्त बल लेखिकाएँ सिद्ध हुई हैं। इनमे अपनी अस्मिता को लेकर दैन्य भाव नहीं है, वेदना भाव नहीं है, अपितु एक ज्वलत विद्रोह का भाव है। इनमे स्त्री पर पुरूष के अनधिकृत अधिकारो से निकलने की चेष्टा है, प्रजनन और पालन के कार्यो से आगे बढ़ने की अदम्य आकाक्षा है, दमित भावनाओ और कुण्ठाओ के उन्मुक्त अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति है। हम इनकी स्वतंत्रता और अस्मिता बोध मे सार्त्र को, समानता के लिए संघर्ष में मार्क्स के तथा अपनी देह पर अधिकार और यौन-स्वातंत्रय में फॉयड को कहीं न कहीं अभिव्यज्जित होता हुआ पाते हैं। इनमें इस सभी का व्यामिश्रित सा प्रभाव है।

इन सभी के प्रमाण मे उद्धरण देना बहुत समीचीन नहीं है, क्योकि हमारे यहाँ ही नहीं, अपितु समस्त विश्व वाड्‌मय मे विपुल नारीवादी साहित्य विद्यमान है और आज भी यह सर्वाधिक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति बनी हुई है। पुन इनका वर्णन भी हमारे विषय-क्षेत्र से बाहर चला जाता है, अत· यहाँ हम उल्लेखमात्र करना ही उपयुक्त समझते हैं।

नारी मुक्ति-चेतना के समानान्तर ही आधुनिक विश्व में जिस दलित-चेतना का विकास हुआ उसमें भी हम अस्तित्ववादी प्रकृति की अभिव्यक्ति पा सकते हैं। आधुनिक युग में जो सबसे बड़ी सामाजिक क्रान्ति हुई है, वह यह कि विश्व में जितने भी दलित ?-शोषित, दनित-प्रताड़ित वर्ग है, उनमें अपनी अस्मिता की पहचान कायम हुई है। इन्होने आर्थिक शोषण से मुक्ति पायी है, जातीय,और प्रजातीय भेदभाव से स्वतंत्रता पायी है और आज वह राजनीतिक सत्ता को अर्जित कर चुका है। यद्यपि अस्तित्ववाद का ध्यान सामाजिक विसंगतियों के प्रभावों की अपेक्षा क्या व्यक्तिगत प्रभावों पर अधिक है किन्तु जो दर्शन व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और प्रतिबद्धता को जगाने मे भी सहायक होगा, इसमें किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। आज की विश्व-राजनीति सार्वभौम सह-अस्तित्व की राजनीति है। सभी देशों को उनकी अखँडता और संप्रभुता का समान अधिकार है! कोई बड़ा देश किसी छोटे से छोटे देश के भी आतंरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सर्वाधिक विस्तृत भूभाग वाले रूस, सर्वाधिक जनसंखया वाले चीन (और सर्वाधिक शक्ति वाले चीन) और सर्वाधिक शक्ति वाले अमेरिका को भी एक ही वोट

की मध्यता है, जितनी की मात्र 10 हजार जनसंख्या वाले नौरू को साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की जगत में विश्व शासन की धारणा बलवती हो रही है, सभी राष्ट्रो के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकृति मिल चुकी है ऐसे मे हम एक राजनीतिक अस्तित्ववाद की परिकल्पना कर सकते है।

वस्तुत, अस्तित्ववाद जहाॅ से प्रारम्भ करता है, वह बिन्दु सर्वथा सही है, किन्तु जहाॅ वह समाप्त करता है, वह बिन्दु सही नहीं है। अस्तित्ववाद को वैयक्तिक अस्तित्ववाद से आगे बढकर सामाजिक और राजनीतिक अस्तित्ववाद का मार्ग प्रदर्शित करना होगा। बल्कि, इससे भी आगे बढकर उसे सार्वभौम सह-अस्तित्ववाद का आदर्श निर्धारित करना होगा, जहाॅ विभिन्न विचारों का स्वातंत्र्य हो, विभिन्न मतो का सह-अस्तित्व हो, विभिन्न पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का भी संतुलित सह-अस्तित्व हो। वास्तव में अस्तित्ववाद की सार्थकता केवल स्वतंत्र अस्तित्ववाद बनने में नहीं है अपितु संपूर्ण अस्तित्ववाद बनने मे है और वह संपूर्ण तभी हो सकता है, जब उसमें मानवता के सभी आयाम समाहित हो। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब हम सह-अस्तित्व के आदर्श को अपनायें। ऐसा सह-अस्तित्व जो शान्तिपूर्ण, सहयोगपूर्ण, और संवृद्धिपूर्ण हो, जो सतत् सतुलित और शाश्वत अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त करता हो। तभी अस्तित्ववाद सर्वागंपूर्ण अस्तित्ववाद होगा, तभी अस्तित्ववाद वास्तव मे मानववाद का रूप होगा।

.... और अन्तत., प्रस्तुत शोध के विषय ''अस्तित्ववाद की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि'' के इस समीक्षात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष कथमपि नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह दर्शन किसी खास पृष्ठभूमि या परिस्थिति से बॅधा हुआ दर्शन है। किसी विशेष पृष्ठभूमि से उद्भूत होना, उससे आबाद्ध होना नहीं है। यह एक विडम्बना है कि अस्तित्ववाद को सामान्यतया शुद्ध काल या सकंट काल का दर्शन मान लिया जाता है। किन्तु सत्य यह है कि इसमें जो समस्याएॅ उठायी गयी है, वे सार्वभौम और शाश्वत हैं। आधुनिक काल मे ही इस दर्शन के मुखरित होने का मूल कारण यह था कि शुद्ध और आक्रमण से त्रस्त तथा संक्रमण अवधि के कारण अस्त-व्यस्त इस काल में उन समस्याओ की अनुभूति गहरी हो गयी। अतः अस्तित्ववादी दृष्टि की सार्थकता

सार्वकालिक है। समाजवाद के विषय में कहा जाता है कि जहाँ भी सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध वर्ग-संघर्ष होगा, वहाँ जाने -अनजाने समाजवादी दृष्टि अवश्य विद्यमान होगी। ठीक इसी प्रकार हम अस्तित्ववाद के विषय मे कह सकते हैं कि जहाँ भी सामाजिक विकृतियों के विरूद्ध वैयक्तिक संघर्ष होगा। वहाँ जाने-अनजाने अस्तित्ववादी दृष्टि अवश्य विद्यमान होगी। जब भी मानवता को अपने निरन्तर सपन्न होते जीवन में भी खालीपन की अनुभूति होगी, निरन्तर समृद्ध होते बौद्धिक ज्ञान के बावजूद वैचारिक खोखलेपन की अनुभूति होगी, जब सुसज्जित और सुव्यवस्थित सभ्यता में भी कुरूपता की अनुभूति होगी, जब जगत् की अर्थसंपन्नता जीवन को अर्थहीनता की ओर अग्रसरित करती दिखेगी, जब विकास की उच्चतम ऊँचाइयाँ तय करता विज्ञान मानव को भी एक उपकरण के समान बना देगा, जब सुविधा के ही यन्त्रो के कारण जीवन यन्त्रणा पूर्ण प्रतीत होने लगेगा और समस्त प्रगति मानवता की अधोगति की भाँति आभासित होने लगेगी, अब द्वंद्वग्रस्त चेतना सर्वथा विखण्डित व्यक्तित्व का सृजन करती दिखेगी, जब सवेदनशून्य होते मानव मे एकाकीपन, उद्वेग और संताप की भावना उठेगी, जब प्राणो का संकट अपनी विभीषिका से उसे अन्तरतम तक झकझोर जायेगा, जब दोहरा चरित्र जीता समाज प्रामाणिक व्यक्तित्व की तलाश करेगा, तब वहाँ कही न कहीं, किसी न किसी रूप में अस्तित्ववाद हमारा मार्ग दर्शन करता नजर आयेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 सार्त्र, ज्याँ पॉल – 'अस्तित्ववाद और मानववाद', पृ0 33

2 मैरे फिलिप, सार्त्र कृत 'अस्तित्ववाद और मानववाद' की भूमिका, पृ0 27

3 उद्रधृत – सक्सेना लक्ष्मी और मिश्र सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 222

4 वही, पृ0 212

5 वही, पृ0 212

6 अज्ञेय, आत्मनेपद, पृ0 169

7 अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ0 334

8 कीर्केगार्ड, सोरेन, 'वर्क्स ऑफ लव', प्रिंसटन 1946, पृ0 289

9 अज्ञेय, 'शेखर एक जीवनी' भाग–1, पृ0 33–34

10 शर्मा, चन्द्रधर, 'पाश्चात्य दर्शन', पृ0 146

11 सार्त्रा, जे0पी0, 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ0 631

12 मार्सल, ग्रैबियल, 'बीइंग एण्ड हैविंग', पृ0 199

13 सहाय, रघुवीर, 'सीढ़ियो पर धूप में', 1960 आरंभिक भाग

14 बर्डियेन, निकोलस, 'सोलिट्यूड एण्ड सोसायटी', 1947 पृ0 39

15 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत, 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ0 212

ग्रन्थ-सूची

English Books :

1.	Blackham, H.J.	:	'Six Existentialistic Thinkers", Routledge and cagonpaul, London.
2.	Vishvas, A.K.	:	'History of Science movement in India'.
3.	Car, E.H.	:	'What is History'.
4	Croche,	:	'The theory and practice of Historiography'.
5.	Colingwood	:	'The idea of nature'.
6	Sartre, J.P.	:	'Being and Nothingness' Mathuen and co Ltd. London, 1966.
7.		:	'Nausea' Tr. Baldice, Penguin Books, 1965.
8.	Wood, Paul	:	'Philosophy of Science in relation to history of science'
9.	Hegel, G.W.F.	:	'Philosophy of history', Bon Library
10.	Bretal, R.W.A. (Ed.)	:	'Keirkegard-Anthology-Philosophical Fragment'.
11	Stace, W T		'A critical history of Greek Philosophy
12.	Copleston, F.	·	'Contemporary Philosophy'
13.	Zellor,	:	'Outline of the history of Greek Philosophy'.
14.	Addy	:	'Christianity and Existentialism'.
15.	Pascal, V.	.	'Pensis'.
16.	Speilberg, H.	:	'Phenomenological movement'.
17	Woodworth, R S.	:	'Contemporary Schools of Psychology'.
18.	Ponty, M.M.	:	'Phenomenology of Perception'.
19.	Keirkegard, Soren	:	'Training in christianity'.
20.		.	'Concluding unscientific postscript', Tr. D. Swenson and W. Lourie, Princeton University press, Princeton, 1944.
21.		:	'Works of Love' Princeton, 1946.
22	Titus, H.H.	:	'Living Issues in philosophy'
23.	Spencer, Herbert	:	'The principles of Sociology'. vol I, Appleton and co., New york, 1914 .
24.		:	'First principles' Appleton and co. New York, 1900.
25.	MacIver and page	:	'Society', Mac Millan and co. Ltd. England.
26.	Herlambos, M and Hiald, Robin	:	'Sociology', oxford University press, Delhi.
27.	Botomor, T.B.	:	'Sociology', Blacky and Son (India) Ltd., 1986.

28. Joad, C.E M. . 'Guide to philosophy of Morals and politics'

29. Bradley, F.H. : 'Ethical Studies'. Second Edition-Oxford At the clarendon press, 1927.

30. Plat and Durand : 'World History'.

31. Langsom . 'The world Since'.

32. Punidor and clog : 'Making Fascists'.

33. Alfredo, Rocho : 'Political doctrine of Fascism'.

34. Bierdsley, N.C. : 'The European Philosophers from Descartes to Nietzsche'.

35. Nietzsche, F. : 'The will to power'. The complete works, Vol 15

36. : 'Beyond Good and evil'

37. : 'The Twilight of the ideals', The complete works, vol. 16.

38. : 'Human all to Human', Part-1

39. : 'The Genelogy of Morals'.

40. Marx and Engels, : Selected correspondence', 1844-95', progress publication, Moscow.

41. : 'The German Ideology' Progress publication, Moscow.

42. Engels, F. : 'The origin of the Family, Private property and the State', progress publication Moscow.

43. : 'Anti Duhering'. Progress pub. Moscow.

44. Woods, F.A. : Mental and Moral Heredity in Royalty'.

45. Bohanan, P. : 'Social Anthropology'.

46. Jackoves and Sterno : 'General Anthropology.'

47. Montesque : 'Spirit of Law'.

48. Hutington : 'Civilization and climate'

49. Sorokin, Pitirim, : 'A contemporary Sociological theories, Harper and Bros, New York, 1928.

50. Bierstead, R. : 'The social order', 1957.

51. Dastoor, J.A. : 'Man and his environment'.

52. Jangbill, P. : 'An introduction to modern psychology'.

53. Barth, John : 'End of the road', Garden city, New York, 1967.

54. Stevenson, C.L. : 'Ethics and Language'.

55. Novel Smith, P.H. : 'Ethics'.

56. Camu, Albert : 'The Rebel', penguin modern classics, New York, 1954.

57. : 'The Stranger'.

58. · 'Lirical'.

59 Fey, S.B · 'The origins of the world war', 1975

60. Frenz, Newmon : 'Behmath', Second edition, Oxford University press, Delhi, 1942.

61. Hitler, A. · 'Mein Kamf', Newyork, 1939

62. Adger, A Morer : 'Germany puts the clock back'.

63. Lenin, V.I. : 'The three sources and three components of Marxism', collected works, vol 19, progress publication, Moscow.

64. : 'Collected works, vol. 10, p.p. Moscow.

65. Heidegger, M. : 'Being and Time', trans. John Macquarreic and Edward Robinson, Harper and Row publisher, Newyork, 1962.

66. Hobsbom, E.J. · 'The Age of Revolution'. 1992.

67. Waper 'Political Thought'

68. Waber, Max · 'Essays in Sociology', translated by H.H. Gerth and C.W. Mills, 1946

69. Dostovasky · 'The brother's camzov everyman'

70. : 'The persesd' part-2, Everyman Library.

71. Chase, Stuart : 'The proper Study of Mankind' 1956.

72. Pearson, Karl : 'The Grammar of Science' A&C Black, London, 1911.

73 Vindalband : 'History of Philosophy'.

74. Jallaluddin, A.K. and Mallik, Utpal (ed.) : 'Science and Man-An anthology', NCERT.

75. Camblis, Rolin : 'Social Thought', 1954.

76. Martindel, D and Monachesi, E. : 'Elements of Sociology', Harper and Bros, Newyork, 1951.

77. Thonless, R.N. : 'The study of society'.

78. Wolf, A. . 'Essentials of scientific method'.

79. Willian, Baret, : 'Philosophy in the twentieth century-An anthology'.

80. Patric, G. : 'Life and work of Sir Jagdish chandra Boss' 1920.

81. Vuber, Martin : 'I and Thou', Edinberg, 1937.

82. Marcel, Gabriel : 'Being and Having', Tr. K. Ferrer, Beacoh, Boston, 1951.

83. Einstein, Albert : 'Out of my later years', Philosophical Library, Newyork, 1950.

84. : 'The world as I see it'.

85. Gardimer, Nardın : 'The world of science'.

86. Russel, Bertrand · 'Wısdom of the East' Dunblede and co. Newyork, 1959.

87. Stuart, T.L. : 'Golden Statements for golden future'.

88. Berdıyev, Nıcholas : 'Solitude and Society', London, 1947.

89. Jeans James : 'The mysterıous world', penguın Books Ltd 1940.

90. : 'Physics and philosophy', Cambridge Unıversity press, 1946.

91. Hijenberg, w. 'Philosophic problem of Nuclear Scıence', London, 1952.

92. Hartman, N. : 'Philosophic der Nature', Berlın, 1950.

93. Morgan, H. . 'Eınsteın's conception of Realıty'.

94. Kant, Immanual. : 'Crıtıque of practical reason and other works on the theory of ethics, London

95 Freud, Sıgmond : 'The future of an ıllusıon-The complete psychologıcal works of sıgmond freud', translated and edıted by James. Strechı vol. 21 Lıne Rıght co. Newyork.

96. Meinheem, Karl : 'Man and Society', 1951.

97. Tıllık, Paul . 'The New Being - The Golden Rule', S.C.M. cheap edıtıon, London, 1964.

98. Calfman, Walter, : 'Existentialism from Dostovasky to Sartre'.

99.

100. Jaspers, Karl : 'Truth and symbol', Tr. J.P. Wilde, W.Kluback and W. Kimmel, vision, London, 1959.

101. : 'Way to Wisdom', Tr. Ralph Manheim, New Heaven, Yale Unıversıty press, 1960.

102. : 'The perennial scope of philosophy', Tr. Ralph Manheim, Routledge and Kegan paul Ltd., 1950.

103. · 'General Phychopathology'.

104. solomon, R.C. : 'From Ratıonalism to Existentıalism.'

105. (ed) : 'Phenomenology and Existentialısm' Harper and Row, Newyork, 1972.

106. Schilpp, P.A. (Ed.) : 'The philosophy of Karl Jaspers' Evanston III, 1958.

107. : Albert Einstein : 'Philosopher scientist', North-western University, Newyork, 1951.

108. Huxley, Julean : 'The Lisner', vol. 46.

109. : 'Essays of a Biologist', London, 1923.

110. Marx, Karl : 'Thesis on Feurbach', collected works vol. 5, progress publication, Moscow.

111. 'A contribution to the critique of the political economy' The International Library pub Co New york

112. Wolk, R.N. . 'Hand book in Social philosophy'.

हिन्दी पुस्तकें

113. पॉसमोर, जॉन : 'दर्शन के सौ वर्ष', हरियाणा ग्रंथ अकादमी, 1986.

114. सार्त्र, ज्याँ पॉल, . 'अस्तित्ववाद और मानववाद', अनुवादक –जवरी मल्ल पारख.

115 सक्सेना, लक्ष्मी और मिश्र, सभाजीत : 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1998

116. : 'समकालीन पाश्चात्य दर्शन', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1991.

117. मिश्र, हृदयनारायण और शुक्ल, प्रतापचन्द्र : :अस्तित्ववाद', किबात घर, कानपुर.

118. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ : 'सामाजिक विचारधारा', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 1997.

119. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय : 'ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास', किताब महल, इलाहाबाद, 1994.

120. मसीह, याकूब : पाश्चात्य दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या', मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1991

121. रुबिचेक, पॉल : 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष', अनुवादक–माचवे, प्रभाकर, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1973.

122. ओशो : 'सत्य की खोज', डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली.

123. 'गीता–दर्शन', भाग–1, रिबेल पब्लिशिंग प्रा0 लि0, पूना.

124 सुलेमान मु0 : 'सामान्य मनोविज्ञान'

125. मार्क्स, कार्ल और एंगेल्स, फ्रेडरिक : 'संकलित रचनाएँ', खंड–3, भाग–1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1975.

126 · 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', समकालीन प्रकाशन, पटना, 1999.

127. अफनास्येव, वी0 · 'मार्क्सवादी दर्शन', पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977

128. स्मिर्नोव, ग0 : 'समाजवादी समाज में व्यक्ति' , प्रगति प्रकाशन, 1986

129 सेबाइन, जी0एच0 . 'राजनीतिक दर्शन का इतिहास'

130. जोतोव, विक्टर : 'समाज का मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत', राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1988

131. मुंशी, सूरज नारायण और निगम, सावित्री : 'रोगी मन', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1961

132. शल्य, यशदेव 'मनस्तत्व', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1958.

133. खेतान, प्रभा : 'अल्वेयर कामू : वह पहला आदमी' राजकमल प्रकाशन

134. जैन, एच0सी0 और माथुर, के0सी0 · विश्व का इतिहास (1500-1950), जैन पुस्तक मंदिर, 1991.

135 आशीर्वादम्, एड्डी : 'राजनीति विज्ञान', एस0 चन्द एण्ड क0 लि0, 2001

136. अज्ञेय, : 'शेखर : एक जीवनी', भाग-1 और 2, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1993.

137. : 'इत्यलम्'

138. : 'अपने-अपने अजनबी' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1999.

139. : 'पूर्वा'

140. : 'अरी वो करुणा प्रभामय'

141. : 'आत्मनेपद'

142. : 'नदी के द्वीप', मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2001.

143. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद : 'अज्ञेय', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1994.

144. दयाकृष्ण (सं0) : 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास', भाग 2, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी.

145 विद्यालंकार, सत्यकेतु : 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' 1964.

146. बोउवार, सीमोन द : 'स्त्री : उपेक्षिता', अनुवादिका–प्रभा खेतान हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली, 1998

147. शर्मा, प्रभुदत्त : 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', कॉलेज बुक डिपो, जयपुर.

148. संधू, ज्ञान सिंह : 'राजनीति–सिद्धांत' हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991.

149. नेहरू, जवाहरलाल : 'हिन्दुस्तान की कहानी' सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1997.

150 हॉकिंग, स्टीफेन : 'समय का संक्षिप्त इतिहास'

151. हिक, जॉन : 'धर्म दर्शन', अनुवादक–राजेश कुमार सिंह, प्रेंटिस–हाल ऑफ इंडिया, प्रा0 लि0, नई दिल्ली, 1994.

152. यशपाल : 'मार्क्सवाद', विप्लव कार्यालय, लखनऊ, 1970.

153. शर्मा, रामविलास : 'नयी कविता और अस्तित्ववाद', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997.

154. कामू, अल्बेयर : 'प्लेग'

155. : 'कैलीगुला' (नाटक)

156. : 'पहला आदमी'

157. दोस्तोवस्की : 'वासना'

158. द्विवेदी, हजारी प्रसाद : 'अशोक के फूल', सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, 1999

159. नारायण, कुँवर : 'नयी कविता, भाग–2'

160. शर्मा, चन्द्रधर : 'पाश्चात्य दर्शन', मोतीलाल बनारसीदास, 1998.

161. सहाय, रघुवीर : 'सीढियो पर धूप मे'

पत्रिकाएँ :–

1. ओशो टाइम्स इंटरनेशनल, अक्टूबर 1994 और अगस्त 2001.

2. धर्मयुग, 11 मार्च 1968.

